× रूपनगर वाले घर में ली गई, राजकुमारी की
Photo.

Important Articles/Write-ups
in manuscript

× रूपनगर वाले घर में ली गई, राजकुमारी की photo.

Important Articles / Write-ups in manuscript

श्रीमती सीता

स्नेहाच्च बहुमानाच्च स्मारये त्वां न शिक्षये।
न कथञ्चन सा कार्या गृहीतधनुषा त्वया॥
बुद्धिर्वैरं विना हन्तुं राक्षसान् दण्डकाश्रितान्।
अपराधं विना हन्तुं लोको वीर न मंस्यते॥
क्षत्रियाणां तु वीराणां वनेषु नियतात्मनाम्।
धनुषा कार्यमेतावदार्तानामभिरक्षणम्॥
क्व च शस्त्रं क्व च वनं क्व च क्षात्रं तपः क्व च।
व्याविद्धमिदमस्माभिर्देशधर्मस्तु पूज्यताम्॥
धर्मादर्थः प्रभवति धर्मात्प्रभवते सुखम्।
धर्मेण लभते सर्वं धर्मसारमिदं जगत्॥
नित्यं शुचिमतिः सौम्य चर धर्मं तपोवने -

श्रीरामः

वाक्यमेतत्तु वैदेह्या व्याहृतं भर्तृभक्तया।
श्रुत्वा धर्मे स्थितो रामः प्रत्युवाचाथ जानकीम्॥
हितमुक्तं त्वया देवि स्निग्धया सदृशं वचः।
कुलं व्यपदिशन्त्या च धर्मज्ञे जनकात्मजे॥
किं नु वक्ष्याम्यहं देवि त्वयैवोक्तमिदं वचः।
क्षत्रियैर्धार्यते चापो नार्तशब्दो भवेदिति॥
ते चार्ता दण्डकारण्ये मुनयः संशितव्रताः।
मां सीते स्वयमागम्य शरण्यं शरणं गताः॥
वसन्तः कालकालेषु वने मूलफलाशनाः।
न लभन्ते सुखं भीरु राक्षसैः क्रूरकर्मभिः॥
भक्ष्यन्ते राक्षसैर्भीमैर्नरमांसोपजीविभिः।
ते भक्ष्यमाणा मुनयो दण्डकारण्यवासिनः।
अस्मानभ्यवपद्येति मामूचुर्द्विजसत्तमाः।
मया तु वचनं श्रुत्वा तेषामेवं मुखाच्च्युतम्।

अपि स्वर्णमयी लङ्का न मे लक्ष्मण रोचते।
जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी ॥

संस्कृत वाङ्मय में राष्ट्रीय भावना

अपने राष्ट्र के प्रति प्रेम हर व्यक्ति में सहज और स्वाभाविक है। जिस धरती पर उसने जन्म लिया है, जहां की मिट्टी में वह खेला है, पला और बढ़ा है वह उसे अपनी ओर खींचती है। वहां की जलवायु, पेड़-पौधे, नदियां-सरोवर, खेत-खलिहान, गांव-देहात, खान-पान, रीति-रिवाज़, परम्पराएं और आस्थाएं, अपने-पराये सभी उसे अपनी ओर खींचते हैं क्योंकि वे उसके अस्तित्व के अभिन्न अङ्ग हैं। विदेशों में बस जाने पर भी, वहां नया घर बसा लेने पर भी उसे उन सबकी याद रह-रह कर आती है जो कभी उसके जीवन के अभिन्न अङ्ग थे। उसका राष्ट्रप्रेम उसे अपनी धरती से जोड़े रखता है। शरीर उसका अन्यत्र होने पर भी मन उसका वहीं रमता है।

रावण का संहार करने के बाद जब श्री राम ने विभीषण को लङ्का का राजा बनाने का प्रस्ताव रखा तो उसने उनसे कहा कि वे ही वहां का शासन-तन्त्र अपने हाथ में ले लें। वह उनका अनुचर बन कर उनकी सेवा करता रहेगा। इस पर श्री राम ने लक्ष्मण की ओर देखा और उन शब्दों में अपने मनोभाव व्यक्त किये जो आज जन्मभूमि के प्रति आसक्ति के अप्रतिम प्रतीक बन गये हैं। उन्होंने कहा–

~~वाल्मीकिरामायणस्य कस्मिन्नपि पाठे~~
~~नोपलभ्यते आकरस्तु अनुसन्धेयः।~~

हे लक्ष्मण लङ्का सोने की होने पर भी मुझे अच्छी नहीं लगती, मेरी रुचि उसमें नहीं है। जननी (माता) और जन्मभूमि, माता और मातृभूमि, स्वर्ग से भी बढ़ कर होती हैं।

यह एक उदाहरण है संस्कृत वाङ्मय में राष्ट्रप्रेम का। यह वाङ्मय इस प्रकार के उदाहरणों से भरा पड़ा है। वहां राष्ट्रप्रेम का स्वर सर्वत्र मुखरित हुआ है।

प्राचीनता संस्कृत वाङ्मय की एक विशेषता है। इसका इतिहास इसे सहस्रों वर्ष पूर्व तक ले जाता है जिनमें अनेक कालखण्ड समाहित हैं-वैदिक काल, रामायण-महाभारत काल, पुराण काल, लौकिक संस्कृत वाङ्मय काल, आधुनिक संस्कृत

कश्मीर समस्या देश के लिए सुरसा के मुख सी बनी हुई है। इस पर लिखा है आन्ध्र प्रदेश के नीर्पाजे भीम भट्ट ने अपनी नाट्य कृति ''कश्मीरसन्धानसमुद्यम:'' में।

आतङ्कवाद पर उल्लेखनीय कृति है डॉ. भगीरथ प्रसाद त्रिपाठी 'वागीश शास्त्री' का 'आतङ्कवादशतकम्'। उसमें देश की एकता और अखण्डता को रेखाङ्कित किया गया है। डॉ. रमा कान्त शुक्ल ने अपनी काव्य कृति 'भारतजनताहम्' में भ्रष्टाचार की ज्वलन्त समस्या पर दृष्टिपात किया है। डॉ. शिवसागर त्रिपाठी ने अपनी कृति 'भ्रष्टाचार-सप्तशती' में भी यही किया है। देश में आ रही विकृति से क्षुब्ध श्री अर्जुन वाडेकर को सौ कांटो की चुभन का अनुभव हुआ और उन्होंने रचना कर डाली ''कण्टकार्जुन:'' की।

इन सभी कृतियों में राष्ट्रप्रेम का स्वर है पहिले थी देश को स्वतन्त्र देखने की; अब ललक है इसे सुदृढ़, सुपुष्ट, एक अखण्ड और विकृतिविहीन देखने की।

राष्ट्रीयता का स्वर जो वैदिक काल से प्रारम्भ हुआ वह आज तक चला आ रहा है। विश्व के प्राचीनतम अथवा नवीनतम संस्कृत वाङ्मय में एक निरन्तरता है जो हृदय को कहीं गहरे तक स्पर्श कर जाती है और आगे आने वाली पीढ़ियों को प्रेरणा प्रदान करती है।

सन्दर्भ

1. संस्कृत जगत् में प्रसिद्ध उक्ति। इसका स्रोत अज्ञात है।
2. ऋग्वेद, 1.164.33
3. वही, 5.42.16
4. 12.1.12
5. ऋग्वेद, 5.5.8
6. ऋग्वेद, 1.12.15; यजुर्वेद, 1.27; अथर्ववेद, 12.1.17.59
7. अथर्ववेद, 7.6.4
8. यजुर्वेद, 22.22
9. अथर्ववेद, 6.78.2.
10. ऋग्वेद, 10.191.2-4; अथर्ववेद, 6.64.1-3
11. अथर्ववेद, 12.1.45
12. विष्णुपुराण, 2.3.24
13. ब्रह्मपुराण, 19.1, विष्णुपुराण में ये ही पद्य किञ्चित् पाठान्तर से इस प्रकार उपलब्ध हैं–

    उत्तरं यत्समुद्रस्य हिमाद्रेश्चैव दक्षिणम्।

    वर्षं तद् भारतं नाम भारती यत्र सन्ततिः।

नवयोजनसाहस्रो विस्तारो ऽस्य महामुने!
कर्मभूमिरियं स्वर्गमपवर्गं च वाञ्छताम्।।–2.3.1-2

14. वही, 27.65-66
15. ब्रह्मपुराण, 27.71
16. वही, 27.72
17. वही, 27.75
18. वही, 27.78
19. गरुडपुराण, पूर्वखण्ड, 115.3
20. गरुडपुराण, पूर्वखण्ड, 115.37
21. भागवतपुराण, 5.19.21
22. वही, 5.19.23
23. वही, 5.19.34
24. आश्वमेधिक पर्व, 71.89
25. I.24
26. उत्तररामचरित, 1.12
27. महावीरचरित, 3.18
28. मालतीमाधव, 10.25
29. सत्याग्रहगीता, 1.3

□□□

वाङ्मय काल आदि। इन सब काल खण्डों में अपार वाङ्मय की सृष्टि हुई है। लाखों ग्रन्थों की रचना हुई है। सहस्रों लुप्त हो गये पर सौभाग्य से सहस्रों बच भी रहे हैं। उनपर दृष्टिपात करने पर भारतवासियों के राष्ट्र प्रेम का एक चित्र उभरता है। उसी चित्र को दर्शाने का प्रस्तुत आलेख एक विनम्र प्रयास है।

चूंकि संस्कृत वाङ्मय में प्राचीनतम वेद ही हैं अतः वहीं से प्रारम्भ करना उचित होगा। अपनी भूमि, अपनी जन्मस्थली, को मातृभूमि कहा जाता है। यह इसलिए भी कि जिस तरह माता स्नेह देती है, पालन-पोषण करती है उसी तरह अपनी धरती में मातृभाव का दर्शन हमें वेदों से ही होने लगता है। ऋग्वेद ने इसे माता रूप में सम्बोधित किया है–*माता पृथिवी महीयम्*[2]। माता पृथिवी मुझ में दुर्बुद्धि न लाये–*मा नो माता पृथिवी दुर्मतौ धात्*।[3] अथर्ववेद में भी यही भावना है।. वहां मनुष्य अपने को पृथिवी का पुत्र कह रहा है–*माता भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्याः*।[4] क्योंकि धरती हमारी माता है इसलिये पुत्र का उसके प्रति लगाव स्वाभाविक है। वह इसे सुखकारिणी (मयोभुवः)[5], सुखदायिनी, अभयदायिनी, कल्याणकारिणी, आनन्ददायिनी, अन्न-जल, घी-दूध से परिपूर्ण, स्योना, अनुक्षरा, निवेशनी, शिवा, सुखदा, ऊर्जस्वती, पयस्वती[6] कहता है।

वैदिक ऋषियों के लिए मातृभूमि ही सर्वस्व है। क्योंकि यह उनकी कल्याणकारिणी माता है, योगक्षेम कारिणी है, भोजन दायिनी है। उनकी मान्यता है कि जिस प्रकार सुदृढ़ एवं सुरक्षित नाव पर सवार होकर लोग समुद्र पार कर लेते हैं उसी प्रकार सर्वसुखसम्पन्न मातृभूमि में रहकर वे अपनी जीवन सरिता को पार कर जायेंगे। मातृभूमि उनका त्रिविध कल्याण करेगी–*सा नः शर्म त्रिवरूथं नि यच्छात्*।[7]

यह तक सुखद तथ्य है कि वेदों में राष्ट्र की परिकल्पना प्रादुर्भूत हो चुकी थी। विभिन्न यज्ञों को करते समय ऋषिजन राष्ट्र के मङ्गल की कामना किया करते थे। उनकी प्रार्थना रहती थी कि उनके राष्ट्र में ब्राह्मण ज्ञान सम्पन्न हों, राष्ट्ररक्षक क्षत्रिय शूरवीर, शस्त्रास्त्र-कला कुशल, शत्रुनाशक तथा महारथी हों–गायें भरपूर दूध देने वाली हों, बैल सुपुष्ट हों, अश्व द्रुतगामी हों, स्त्रियां सर्वगुणसम्पन्न हों, रथी योद्धाओं में विजय-कामना बलवती हो, युवक निर्भीक एवं सुशील हों, मेघ यथापेक्षित पानी बरसायें, वनस्पतियां फलें-फूलें, अभीष्ट वस्तुओं की प्राप्ति होती रहे और वे प्राप्त वस्तुएं सुरक्षित बनी रहें -

आब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायताम् आ राष्ट्रे राजन्यः
शूर इषव्योऽतिव्याधी महारथो जायताम्
दोग्ध्री धेनुर्वोढाऽनड्वानाशु सप्तिः पुरन्धिर्योषा जिष्णू रथेष्ठाः
सभेयो युवा अस्य यजमानस्य वीरो जायताम्।
निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु।

फलवत्यो न ओषधयः पच्यन्तां योगक्षेमो नः कल्पताम्।[8]

हर स्थिति में राष्ट्र वैदिक ऋषियों के ध्यान में रहता था। वर-वधू को आशीर्वाद देते हुए भी राष्ट्र की समृद्धि करते हुए ही अपनी समृद्धि करने का उन्होंने उपदेश दिया–

अभिवर्धतां पयसाभि राष्ट्रेण वर्धताम्।
रय्या सहस्रवर्चसेमौ स्तामनुपंक्षितौ।।[9]

जब राष्ट्र की परिकल्पना कर ली गई तो उसके लिए यह भी आवश्यक है कि उसकी एकता और अखण्डता भी बनी रहे। उसके लिए अपेक्षित है राष्ट्रवासियों में परस्पर सौहार्द और सौमनस्य। वैदिक ऋषि ने इसके लिए भी प्रार्थना की है–

संगच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम्

....

समानो मन्त्रः समितिः समानी समानं मनः सह चित्तमेषाम्
समानं मन्त्रमभिमन्त्रये वः समानेन वो हविषा जुहोमि।

समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो यथावः सुसहासति।।[10]

एक दूसरे से मिलकर चलें, मिलकर बोलें, मिल जुलकर ज्ञान प्राप्त करें, परस्पर सम्पर्क में रहें, सौमनस्य बनायें, मिल जुलकर मन्त्रणा करें, समितियों में समान अधिकार समझें, उद्देश्य में हार्दिक समानता रखें, सब साथ-साथ काम करें।

किञ्च, लोग अपनी सुविधा और अभ्यास के अनुसार जिस भाषा में वार्तालाप करना चाहें करें, अपनी इच्छानुसार जिस धर्म (ईश्वर) की उपासना करना चाहें करें किन्तु अपने राष्ट्र को उन्हें अपने गृह के समान समझना चाहिए और मिलजुल कर उसकी देखभाल करनी चाहिए। क्योंकि तभी राष्ट्र ऐश्वर्य सम्पन्न हो सकेगा–

जनं बिभ्रति बहुधा विवाचसं नाना धर्माणं पृथिवी यथौकसम्।
सहस्रं धारा द्रविणस्य मे दुहां ध्रुवेव धेनुरपस्फुरन्ती।।[11]

वैदिक काल से पुराण काल पर आने पर इस राष्ट्रभक्ति का स्वर अधिक मुखर हुआ है। वहां तो भारतभूमि के विषय में यहां तक कहा गया है कि देवता तक ये गीत गाते हैं कि वे जन जिन्होंने भारतभूमि में जन्म लिया है जोकि स्वर्ग और अपवर्ग (मोक्ष) दोनों को देने वाली है, धन्य हैं–

गायन्ति देवाः किल गीतकानि
धन्यास्तु ये भारतभूमिभागे।
स्वर्गापवर्गास्पदमार्गभूते
भवन्ति भूयः पुरुषाः सुरत्वात्।।[12]

वहां के अनुसार भारतभूमि का विस्तार नौ सहस्र योजन (एक योजन चार कोस का होता है, अंग्रेज़ी पैमाने के अनुसार आठ या नौ मील) का है। यह समुद्र के उत्तर की ओर तथा हिमालय से दक्षिण की ओर है। इसकी सन्तान भारती कहलाती है। जिन्हें स्वर्ग और अपवर्ग (मोक्ष) की इच्छा है उनकी यह कर्मभूमि है। वहां भारत वर्ष नाम से इस देश का उल्लेख है–

उत्तरेण समुद्रस्य हिमाद्रेश्चैव दक्षिणे।
वर्षं तद् भारतं नाम भारती यत्र सन्ततिः।।

नवयोजनसाहस्रो विस्तारश्च द्विजोत्तमाः।
कर्मभूमिरियं स्वर्गमपवर्गं च इच्छताम्।।[13]

भारत का वर्णन करते हुए पुराणकार भावुक हो उठता है, वह शब्दों द्वारा इसका मानचित्र प्रस्तुत कर इसकी महिमा का वर्णन करने का प्रयास करता है। पर वह इतनी अधिक है कि उसे कहना पड़ जाता है कि वह वाणी की पहुंच से बाहर है–

एवं तु भारतं वर्षं नवसंस्थानसंस्थितम्।
दक्षिणे परतो यस्य पूर्वे चैव महोदधिः।।
हिमवानुत्तरेणास्य कार्मुकस्य यथा गुणः।
तदेतद् भारतं वर्षं सर्वबीजं द्विजोत्तमाः।।[14]

इस देश की दक्षिण और पूर्व दिशाओं में सागर है और उत्तर में हिमालय (पश्चिम से पूर्व तक) धनुष की प्रत्यञ्चा की भांति विराज रहा है। इस देश में सब प्रकार के पदार्थ उपलब्ध हैं। भूमण्डल में भारत के समान और कोई देश नहीं है–

न भारतसमं वर्षं पृथिव्यामस्ति भो द्विजाः।[15]

वे नरश्रेष्ठ धन्य हैं जो भारत में जन्म लेते हैं। उन्हें धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष सभी का फल उपलब्ध रहता है–

धन्यास्ते भारते वर्षे जायन्ते ये नरोत्तमाः।
धर्मार्थकाममोक्षाणां प्राप्नुवन्ति महाफलम्।।[16]

यह वह देश है, जहां प्रसन्न मन से देवता भी जन्म लेना चाहते हैं–

यत्र देवाः सदा हृष्टा जन्म वाञ्छन्ति शोभनम्।[17]

इसके सभी गुणों का वर्णन कौन कर सकता है–

कः शक्नोति गुणान् वक्तुं भारतस्याखिलान् द्विजाः![18]

पुराणों ने अपने देश की अखण्डता को सौभाग्य माना है और देश भंग को कुल्सित प्रजा के विनाश को, पर पुरुष में आसक्त पत्नी को और दुर्व्यसनी पुत्र को

देख कर जो दु:ख होता है वही होता है देश भंग को देख कर। जो इस देश भंग को नहीं देखते हैं वे धन्य हैं–

धन्यास्ते ये न पश्यन्ति देशभङ्गं कुलक्षयम्।
परचित्तगतान् दारान् पुत्रं दुर्व्यसने स्थितम्।।[19]

पुराणों में स्वाधीनता को जीवन की सफलता और पराधीनता को जीवन्मृत्यु कहा गया है–

स्वाधीनवृत्तेः साफल्यं न पराधीनवृत्तिता।
ये पराधीनकर्माणो जीवन्तोऽपि च ते मृताः।।[20]

भागवत पुराण में कतिपय स्थलों पर भारत, भारतीयता, भारतीय भावना का अतीव मर्मस्पर्शी निरूपण है। भगवान् ऋषभ देव के चरितवर्णन के प्रसङ्ग में उनके ज्येष्ठ पुत्र चक्रवर्ती सम्राट् भरत के नाम पर इस देश का नाम भारतवर्ष पड़ने का वहां उल्लेख है। भारत वर्ष वहां पुण्यभूमि कहा गया है। अनेक नदियों और पर्वतों का वर्णन करते-करते भागवतकार ने भारतवर्ष को सर्वश्रेष्ठ कहा है। उनका कहना है कि भारत वर्ष में जन्म लेने वाले मनुष्य अवश्य ही पुण्यशाली हैं, अथवा भगवान् ने स्वयं उनका पक्ष लेकर उन्हें इस देश में जन्म दिया है–

अहो अमीषां किमकारि शोभनं प्रसन्न एषां स्विदुत स्वयं हरिः।
यैर्जन्म लब्धं नृषु भारताजिरे मुकुन्दसेवौपयिकं स्पृहा हि नः।।[21]

स्वर्ग में कल्पायु होकर जीने की अपेक्षा वे भारतवर्ष में अल्पायु होकर जीने की कामना करते हैं–

कल्पायुषां स्थानजयात् पुनर्नवात् क्षणायुषां भारतभूजयो वरम्।[22]

उनका कहना है कि जहां वैकुण्ठ कथारूपी अमृत की नदियां नहीं हैं, जहां भगवद्भक्त, भगवदाश्रय सन्त नहीं हैं, जहां महान् उत्सव के साथ किये जा रहे यज्ञ-यागादि नहीं हैं वह स्वर्ग लोक भी रहने के योग्य नहीं है–

न यत्र वैकुण्ठकथासुधापगा न साधवो भागवतास्तदाश्रयाः।
न यत्र यज्ञेशमखा महोत्सवाः सुरेशलोकोऽपि न वै स सेव्यताम्।।[23]

रामायण की चर्चा पहिले की जा चुकी है। महाभारत में राष्ट्र की सुखसमृद्धि पर स्थान-स्थान पर बल दिया गया है। राष्ट्र को आदर्श और अनुकरणीय बनाने के प्रयत्नों की सराहना की गई है।

भारतवर्ष अनेक राज्यों में बंटा होने पर भी एक राष्ट्र के रूप में जाना जाता था। महाभारत में इसका परिचयात्मक विवरण भी दिया गया है। इसी प्रसंग में भारतवर्ष के पर्वतों, नदियों, तीर्थस्थलों, और जनपदों का विस्तृत वर्णन इसमें है। अश्वमेध यज्ञ

करने के लिए महाराज युधिष्ठिर अनेक राजाओं और महाराजाओं पर विजय प्राप्त करते हैं। उन्हें जीतने के पश्चात् वे सम्पूर्ण भारतवर्ष पर शासन करते हैं–

एवं भारतवर्षं स्वं राजा स्वर्गं सुरेन्द्रवत्।
शशास विष्णुना सार्धं गुप्तां गाण्डीवधन्वना।।[24]

जैसे इन्द्र स्वर्ग पर शासन करते थे उसी प्रकार अर्जुन द्वारा सुरक्षित राजा युधिष्ठिर विष्णु (श्री कृष्ण) के साथ अपने भारत वर्ष पर शासन करते थे। यहां भारत वर्ष के साथ प्रयुक्त 'स्वम्' शब्द बहुत साभिप्राय है। अपना भारतवर्ष, भारतवर्ष के प्रति अपनत्व की भावना को यह 'स्वम्' रेखाङ्कित करता है।

महाभारत में अनेकानेक स्थलों पर राजाओं को सुखी, समृद्ध, एवं सुरक्षित रखने का उपदेश है। शान्तिपर्व में भीष्म पितामह ने राजधर्म का उल्लेख करते हुए राजा और राष्ट्र के अत्यन्त महत्वपूर्ण तथ्यों को उजागर किया है।

महर्षि वेदव्यास ने भारतीय गणतन्त्र अथवा सङ्घ राज्यों के दायित्व पर भी प्रकाश डाला है। गणराज्य के विषय में उनका कथन है कि उसे एकता, निर्लोभता तथा सहनशीलताओं से व्यवहार करना चाहिए। सेना को सन्तुष्ट तथा प्रसन्न रखना चाहिये और अपनी प्रगति का लेखा-जोखा लेते रहना चाहिए। समष्टि के अभ्युदय के लिये जागरूक रहना और व्यक्तिवाद को नहीं पनपने देना चाहिए। गणराज्य के कर्णधारों तथा नागरिकों का यह कर्तव्य है कि वे अपने राज्य में कोई भी दुर्भाव न पनपने दें जो राष्ट्रीय भावना का घातक हो (शान्ति पर्व अध्याय, 107)

राष्ट्रीय भावना के पनपने के लिये आवश्यक है कि राजा को प्रजापालक होना चहिये। कालिदास आदि लौकिक संस्कृत काल के कवियों ने इस पर विशेष बल दिया है। अभिज्ञानशाकुन्तल की समाप्ति ही इससे हुई है। भरतवाक्य में कवि की प्रार्थना है–*प्रवर्ततां प्रकृतिहिताय पार्थिवः*, राजा प्रजा के हित में प्रवृत्त हो। रघुवंश में राजा दिलीप के वर्णन-प्रसङ्ग में उन्होंने उसे प्रजाजनों में अनुशासन लाने, रक्षा करने और पालन-पोषण करने के कारण पिता की पदवी पर प्रतिष्ठित किया है और कहा है कि वास्तव में उनका पिता तो वह था, अन्य पिता तो जन्म देने के कारण ही पिता थे–

प्रजानां विनयाधानाद् रक्षणाद् भरणादपि।
स पिता पितरस्तासां केवलं जन्महेतवः।।[25]

यही भाव भवभूति की कृतियों में भी है। इस सन्दर्भ में विशेष उल्लेखनीय है श्रीराम का यह कथन कि लोकाराधन के लिए स्नेह, दया, सुख, यहां तक कि जानकी को त्यागने में भी उन्हें कोई पीड़ा नहीं होगी–

स्नेहं दयां च सौख्यं च यदि वा जानकीमपि।
आराधनाय लोकस्य मुञ्चतो नास्ति मे व्यथा।।[26]

अपने प्रजाजनों की प्रीति के लिए उन्हें अपनी पत्नी के त्याग के लिए विवश होना पड़ता है, पर इस प्रसङ्ग में उन्हें 'दुर्जन' कहा जाना उन्हें पसन्द नहीं है।

भवभूति की मान्यता है कि राजा को अपने राष्ट्र की रक्षा तथा प्रजा पालन के लिए सदा जागरूक रहना चाहिए। किञ्च, राष्ट्र कल्याण के लिए यह आवश्यक है कि वह विद्वानों के संरक्षण में रहे क्योंकि विद्वानों के सत्प्रयत्नों से ही राष्ट्र समृद्ध होता है और पारस्परिक सङ्घर्ष से बचा रहता है–

न तस्य राष्ट्रं व्यथते न रिष्यति न जीर्यति।
त्वं विद्वान् ब्राह्मणो यस्य राष्ट्रगोप: पुरोहित:॥[22]

राजा सदा प्रजा का पालन करता रहे, आलस्य त्याग कर राष्ट्र की रक्षा करता रहे। यथा समय राष्ट्र में जलवृष्टि होती रहे, किसी प्रकार की प्राकृतिक विपदा वहां न आये, सस्यसमृद्धि बनी रहे, सर्वत्र आनन्द और उल्लास का वातावरण बना रहे–

क्ष्मापाला: क्षीणतन्द्रा: क्षितिवलयमिदं पान्तु ते कालवर्षा
वार्वाहा: सन्तु राष्ट्रं पुनरखिलमपास्तेति सम्पन्नसस्यम्।
लोके नित्यं प्रमोदं विदधतु कवय: श्लोकमाप्तप्रसादं
सङ्ख्यावन्तोऽति भूम्ना परकृतिषु मुदं सम्प्रधार्य प्रयान्तु।[23]

राष्ट्रीय भावना की दृष्टि से अर्वाचीन संस्कृत वाङ्मय को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है। एक, स्वातन्त्र्यपूर्व संस्कृत वाङ्मय और दूसरा स्वातन्त्र्योत्तर संस्कृत वाङ्मय। स्वातन्त्र्यपूर्व संस्कृत वाङ्मय में ब्रिटिश शासकों की दासता से मुक्ति और देश को स्वतन्त्र देखने की ललक है, इसके लिये जनता का आह्वान है। स्वतन्त्रता आन्दोलन का चित्र है, और स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिए किये जा रहे उपायों का वर्णन है, और स्वतन्त्रता सेनानियों द्वारा किये गये अथवा किये जा रहे बलिदानों का और उनके द्वारा देश में नया जोश भरने का स्वर है। स्वतन्त्रता सङ्ग्राम के अग्रणी नेताओं की शौर्यगाथाओं से यह ओतप्रोत है। स्वातन्त्र्योत्तर वाङ्मय स्वतन्त्रता प्राप्त होने के बाद के भारत की आवश्यकताओं, अपेक्षाओं और आकांक्षाओं का दस्तावेज़ है। इसमें देश में पनप रही विघटनकारी तत्त्वों की गतिविधियों पर चिन्ता है। आतङ्कवाद से जूझने का सङ्कल्प है, बाहरी शक्तियों से देश को बचाने की चिन्ता है, पाकिस्तान के कुचक्र तथा उसके द्वारा उत्पन्न की गई कश्मीर समस्या से देश को उबारने के उपायों की तलाश है। और सर्वोपरि है देश में फैली अशिक्षा, बेरोजगारी, भाई-भतीजावाद तथा भ्रष्टाचार के उन्मूलन का सङ्कल्प जिसके कारण स्वतन्त्रता असली अर्थों में स्वतन्त्रता कही जा सके।

प्रथम भाग की विशेष उल्लेखनीय कृतियां हैं पण्डिता क्षमाराव की बहुचर्चित सत्याग्रहगीता और उत्तरसत्याग्रहगीता। प्रथम में महात्मा गांधी द्वारा चलाये जा रहे, सत्याग्रह आन्दोलन का वर्ष 1930 तक का वर्णन है। लेखिका को देशभक्ति की भावना ने इस कृति के प्रणयन में प्रवृत्त किया जैसा कि उन्होंने लिखा है–

तथापि देशभक्त्याऽहं जाता ऽस्मि विवशीकृता।
अत एवास्मि तद् गातुमुद्यता मन्दधीरपि।।[25]

लेखिका ने देश की हीनता, दरिद्रता आदि के लिए पराधीनता को उत्तरदायी मान स्वाधीनता को राष्ट्र का अभीष्टतम लक्ष्य बताया और स्वाधीनता का आह्वान किया है। उत्तरसत्याग्रहगीता पूर्वोक्त सत्याग्रहगीता की विषयवस्तु को 1944 के घटनाचक्र तक ले जाती है और इस रूप में उसकी पूरक कही जा सकती है।

स्वतन्त्रता सङ्ग्राम के प्रमुख नायकों महात्मा गांधी, पण्डित जवाहरलाल नेहरू, सरदार वल्लभ भाई पटेल, वीर सावरकर, राष्ट्र केसरी बाल गङ्गाधर तिलक, भगतसिंह, चन्द्र शेखर आज़ाद, नेता जी सुभाष चन्द्र बोस, आदि पर जितना भी वाङ्मय रचा गया, स्वतन्त्रता प्राप्ति के पूर्व अथवा स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् उस सभी में देश भक्ति की लहर है। उसके सभी के सभी ग्रन्थों में राष्ट्रीय भावना का स्वर गुञ्जायमान है। परिमाण में यह वाङ्मय छोटा नहीं है। यह अनेक शोधग्रन्थों का विषय बन गया है। अनेक समालोचकों ने किसी एक पुरुष पर लिखी गई अनेक कृतियों का सर्वेक्षण किया है। जैसे डॉ. एस.जी. कांटावाला का संस्कृत वाङ्मय में महात्मा गांधी। इसमें पूज्य पितृचरण श्रीचारुदेव शास्त्री द्वारा रचित श्रीगांधीचरितम् से लेकर साधुशरण मिश्र, श्री शिवगोविन्दत्रिपाठी रचित श्रीगांधीगौरवम्, श्री विद्यानिधि विरचित श्री गांधिचरितामृतम् (अपूर्ण), श्री ब्रह्मानन्द शुक्ल विरचित श्रीगांधिचरितम्, श्री रमेशचन्द्र शुक्ल विरचित गांधिगौरवम्, श्री चिन्तामणि द्वारकादास देशमुख द्वारा विरचित गांधिसूक्तिमुक्तावली, श्रीपण्ढरीनाथविरचित महात्मायनम् का विवरण है। इसी प्रकार का प्रयास है डॉ. मधुबाला का 'संस्कृत वाङ्मय में नेहरू'।

श्री बालगङ्गाधर तिलक की जीवनी स्वतन्त्रता सङ्ग्राम के ही एक अन्य सेनानी श्री माधव श्री हरि अणे ने ''तिलकयशोऽर्णवः'' शीर्षक से तीन खण्डों में लिखी है जिसमें उनके स्वतन्त्रता सङ्ग्राम में योगदान को रेखाङ्कित किया गया है। देश को स्वतन्त्र देखने के लिए तड़प रहे, बाद में पकड़े जाने पर कालापानी की असह्य यातनायें भोगते हुए वीर सावरकर की गाथा का वर्णन किया है डॉ. गजानन बालकृष्ण पलसुले ने अपनी कृतियों "विनयकवीरगाथा" और महाकाव्य "वैनायकम्" में। सरदार पटेल के जीवनचरित जिसमें उन्होंने महात्मा गांधी के साथ कन्धे से कन्धा मिलाकर अनेक आन्दोलनों में भाग लेने के पश्चात् देश के स्वतन्त्र होने पर पांच सौ से अधिक देशी राज्यों का विलय कराकर देश को एकता और दृढ़ता प्रदान की, का वर्णन है, डॉ. शिव प्रसाद भारद्वाज की कृति "*लौहपुरुषावदानम्*" में। इसी प्रकार देशभक्त भगतसिंह और अन्य स्वतन्त्रता सेनानियों की शौर्यगाथा का अनेक कृतियों में वर्णन है।

Hon'ble Dr. Degrulkar, Shri J.S. Saharia, Prof. Nilakantha Purushottam Joshi, Prof. V.P. Bhatta, Members of the Faculty of the Deccan College, its students and distinguished Ladies and Genetlemen,

I am extremely grateful to the Deccan College for conferring on me this forenoon the degree of Doctor of Letters (D.Litt.) Hohoris Causa. I attach the highest value to this honour coming as ity does from one of the oldest of the ducational institutions of India which has carved a rare niche for itself in the field of academics having been enriched by a galaxy of scholars some of whomn I find in front of me. They are an institution in themselves.

I am a humble devotee at the shrine of Sarasvati. My father, the great Sanskrit grammarian, Pandit Charu Deva Shastri, introduced me to Sanskrit since my very early days. Even at the age of twelve he had started me teaching such an abstruse text as the Vakyapadiya. As for poetry, it came to me instinctively. There was no tradition of it in the family. As a matter of fact, my father was not very much in favour of it the young people being introduced to it. Still I took to it. My first Sanskrit poem was published when I was hardly twelve. It is a small piece of fifteen stanzas. As its title, Sadrtuvarnanam, would make it out, it describes six seasons. Except for two stanzas which are syntactically connected, a different metre is used for each stanza whixh means that it has fourteen different metres. And all this at the young age of eleven plus for I was twelve when it had already appeared in print. ~~The issue~~ in ~~the series of~~ the magazine ~~Mahamahopadhyaya Bhatta Mathura Nath Shastri~~ Samskrta-ratnakarah which was being published at that time from Jaipur. Its learned editor Mahamahopadhyaya Bhatta Mathura Nath Shastri had mentioned the fact of my age in the editorial note under the caption of the poem .ekadasavarsena medhavina balakena racita kavita. Its peculiarity lies not only in the great variety of the metres but their propriety in describing certain seasons and situations. The spring season, the Vasanta rtu, is described there in the Vasantatilaka metre, the description of the dancing peacocks in the rainy season has for t it the Mattamayura metre, the description of the leaves falling off the trees and thus getting separated from them--with their viyoga from them--has for it the Viyogini metre. And all this with no training in Prosody and even literary composition.When I look back at this I myself feel surprised as to how this could happen. When I got the Sahitya Akademi Award in 1968--incidentally, I am the youngest recicient of this Award in Sanskrit so far--this poem found a special mention in the Citation. The poetic journey that started with it passed through later many ~~destinations~~ stages in the form of Mahakavyas, Khandakavyas, a Prabandhakavya and a Patrakavya (in two bulky volumes) ~~with a total of~~ more than six thousand [to reach the present one where I have]

stanzas of my original composition. This is my creative work. On the critical side ~~xmx~~ my more notewirthy works are the Ramayana--A Linguistic Study and the Discovery of Sanskrit Treasures in seven volumes with a total of two thousand pages in print. I have tried to follow the dictum ksanaśah kanaśaś caiva vidyām artham ca cintayet. I may not have thought of amassing wealth grain by grain but I have certainly thought of acquiring knowledge moment by moment. To learn more and more has been a passion with me.

Friends, I solicit your kind good wishes to bring to completion the works I am halfway through during my lifetime. For me this more important than anything else.

I wish the Deccan College all progress and prosperity. Some of its projects like the Encyclopaedic Dictionary of Sanskrit on Historical Principles are really monumental. I pray for their accelerated progress for the benefit of humanity. I once again thank the Deccan College for the great honour done to me which I shall cherish always. ~~which will be beacon for me to redouble my efforts. literary endeavers.~~

....

मान्याः कुलपतिमहाभागाः, संस्कृतविभागाध्यक्षाः डा० लक्ष्मीशर्म-
महाभागाः अन्ये च समुपस्थिता विद्वद्वरिष्ठाः प्रेक्षकाः
धनिकाश्च

राजस्थानविश्वविद्यालयसंस्कृतविभागेन राष्ट्रियसंस्कृत-
संस्थानसहयोगेन संस्कृतचिन्तनानां वैश्विकी दृष्टिरिति
विषयमवलम्ब्य समायोजितेऽस्मिन्नन्ताराष्ट्रियसम्मेलने
समुपस्थितानामत्र भवतां सर्वेषामपि संस्कृतसाहित्यज्ञानां
विदुषां स्वागतं व्याहरन्नहं स्वं वचः प्रस्तोतुमुपक्रमामि।
प्राचीनकालादेवास्माकं भारतीयानां वैश्विकी दृष्टिरेवासीत्। अत्र
विश्वं भवत्येकनीडमित्यस्मत्पक्ष एवोद्घोषः। उदारचरिता ह्यत्रत्या एव
बहोः कालात्पूर्वमेव वसुधैव कुटुम्बकमिति प्रतिपेदिरे। विश्वं
ग्राम इति पाश्चात्यानां परिकल्पना global village इति
समारब्धा ततोऽप्युत्कृष्टतरा विश्वस्य नीडरूपेणास्माकं
परिकल्पना। यत्र विश्वं भवत्येकनीडमिति वचोऽत्र प्रमाणम्।

वैश्विक्या दृष्टेरेवायं प्रभावो यद्भारतीयैर्मनीषिभिः पुरा
कालेऽपि पाश्चात्यविदुषां मतेषु प्रवर्तितो विचारः। ज्योति-
र्विदां धुरि कीर्तनीयेन वराहमिहिरेण बृहत्संहितायां रोमकाचार्यस्य
कल्याणमुल्लेखः कृतः, रोमकसिद्धान्त इति नाम्ना च तदीयः
सिद्धान्तो निपुणं परीक्षितः। पारस्यचिकित्सापद्धतिमाश्रित्य
पारस्यभाषया प्रणीताः केचन ग्रन्था महादेव नाम्ना केनापि भिषग्वरेण
संस्कृतेनानूदिताः। तत्पाण्डुलिपिवर्गः पाण्डुलिपयो वा केषुचन
पाण्डुलिपिसङ्ग्रहालयेषु वर्तन्त इति हल्दारस्येण
केनापि ब्राह्मणेन विदुषा आयुर्वेदशास्त्रेतिहास इति नाम्नि
स्वकीये ग्रन्थे निरदेशि।

संस्कृतभाषया नाना शब्दा नाना वैदेशिकीभ्यो भाषाभ्यो
गृहीता इति तदपि संस्कृतस्यानां वैश्विकीं दृष्टिं प्रतिपादयति।
होरेत्यादिको ज्योतिषशास्त्रविषयको महान् शब्दराशिः
संस्कृतभाषया ग्रीकभाषातो गृहीतः। एवमेव ... मानस्य
लवणस्यो ... भारतीयै रोमदेशाद्विलासिभ्य एव
गृहीता। लवणस्यनिरीक्षणस्य कृते संस्कृतभाषायां रुमाशब्दः —
रुमा स्याल्लवणाकरे इत्यमरः। रुमा इति रोमशब्दस्यैवा-
पभ्रंशः। मुद्रार्थे दीनार-कार्षापण-पण-कार्षाः शब्दाः
पारस्यमूला इति भाषाविदः। तथैव बन्दीशब्दोऽपि, यः
पाल-गृहादि-शब्दसंयोगेन संस्कृतभाषया ऽऽत्मसात्कृतः।
पूर्वभागस्थे प्रस्तरस्तम्भे समुत्कीर्णायां वत्समाट्टिप्पणीतायां
शब्दः। समुद्रगुप्तप्रशस्तौ शाहंशाह इति/शाहिशाहानुशाहि
इति/ शब्दः प्रयुक्तः। फारसी, ... भाषायां पार्शिया

इत्यस्य कृते फारस्य-फारसीभाषयः शब्दः । किञ्च कृशान्तरतामापाद्य संस्कृतेन गृहीताः । कलम इति अरबभाषाशब्दः संस्कृतेन कलमत्वं गृहीतः । तथा ऽऽह मेदिनीकारः — कलमः पुंसि लेखन्याम् । संस्कृतभाषास्वरूपानुसारेणात्र वैदेशिकस्यापि शब्दस्य लिङ्गनिर्धारणं कृतम् । वैजयन्तीकोषे सिंहपर्यायवाचिषु शब्देषु शेरशब्दोऽप्युल्लिखितः स चैवं व्याख्यातः — शेरस्तु केसरी सिंह इति । संस्कृतभाषाया म्लेच्छ शब्दो मूलतः मैसोपोटेमियनभाषाया मलेक्खुशब्द एव । तदर्थं संस्कृते धातुरपि परिकल्पितः — 'म्लेच्छ अव्यक्ते शब्दे' इति म्लेच्छा यथा भाषन्ते व्यवहरन्ति स्म तन्नूत्यानां कृते ऽस्पष्टैव बभूव । किञ्च, तेषां वैगुण्यादन्यत्वां भाषां ते न सम्यगुच्चारयितुं शेकुः, शब्दांश्च तेऽपशब्दतां निन्युः । अत एवापशब्दार्थे महाभाष्यकारेण म्लेच्छशब्दस्य प्रयोगः — म्लेच्छितवै नापभाषितवै,

(म्लेच्छो ह वा एष अपशब्द इति ।)

तदुक्ति म्लेच्छधातोरव्यक्ते शब्दे इत्यर्थेन सुतरां सङ्गच्छते । केवलं वैदेशिकाः शब्दास्तन्नामान्यान्यां शब्दानां प्रकृतित्वेन परिकल्पिताः । यवनशब्दोऽत्र निदर्शनम् । ग्रीसदेशं निकषा आयोना इत्यस्ति द्वीपम् । तत्रस्त्यदेशीया भारतमुपजग्मुः, एतद्देशीयैरुच्चारण-भेदेन यवन इति रूपेणाभिहिताः । अत एव यवनशब्दस्तल्लिप्यर्थ-प्रतिपादयितुं यवनानी इति शब्दस्य प्रकृतित्वेन परिगृहीतः — यवनाल्लिप्याम् इति । अत्र व्याकरणप्रक्रियाऽपि परिकल्पिता — आनुगागमः ङीप् ङीष् प्रत्ययश्चेति । एषु केषु अनुजमानो यावनिका शब्दोऽपि यवनिका इत्येवेति केचन पुरातविदः । तथाऽत्रापि यवनशब्दात् स्त्रीत्वविवक्षायां टापि प्रत्यये कृते इकारोत्पत्तेः स्यादिति इत्यनेन प्रत्ययात्पूर्वम् इकारागमे यवनिकारूपसिद्धिः परिकल्पनीया भवति । अत्र विषये बहु वक्तव्यमस्ति परन्तु समया-भावादत्रैव विषयमिममुपसंहृत्य विषयान्तरमुपसङ्क्रामामि ।

संस्कृतवाङ्मयविषये न केवलं भारतीयैरेवापि तु वैदेशिकै-रपि बहुभिः कृतो महान् श्रमः । यावज्जीवं सुरभारती तैः समु-पासिता, शास्त्राणि शीलितानि, ग्रन्थाः व्याख्यातानि च । तैः संस्कृतवाङ्मयस्य बहूपकृतमिति संस्कृतज्ञेषु कतिपयेषु भारतीयेषु प्रायोवादः । भारतीयपरम्परानभिज्ञास्ते ऽर्थं सम्यगनव-बुध्य तत्तच्छास्त्रव्याख्याने प्रवृत्ता इति ते मतमाश्रिताः । तन्नेदं ब्रूमः । पाश्चात्यैर्न बहूपकृतमेवापि तु बहूपकृतमपि । भारता लिपीरयपस्य मातृकारूपेणावस्थितो महान् संस्कृतग्रन्थौघस्तैः संस्कृतः, सम्पादितः, प्रकाशितश्च । आर्थिकरूपास्ते निज्कारणो धर्मं इत्यास्मानं कर्मण्यम् व्यापीपरन् । तन्निबद्धसम्पादनमेवैतन्नाधुच्यते तैरपकृतमेवेति । वयं समसामयिकाः समाजनार्थं अस्माभिः समर्पितः इति नेयं वैश्विकी दृष्टिः । केवलं 'च' इति निपातमाश्रित्यैव उच्चदेशीयेन जे खोण्डा महाभागेन प्रथमं उच्चभाषया तदनुचा ङ्गलभाषया सम्पूर्ति पुस्तिका रूपेण निबन्धो विरचितोऽयः पुण्ये पत्तनात्प्रकाश्यमानायां वागीति पत्रिकायां प्रकाशितः ।

[illegible] इति-

ये चत्वार इच्छार्थे निर्दिष्टास्तद्दृष्टिगोचरताऽपि भूयांसस्तदर्था इति
/ खण्डशः। संस्कृतवाङ्मयमालोडमालोडं स्वोदाहरणैः (१०) प्रतिपादिताः। तथाहि कालिदासीयकृतौ
अधुनप्रवर्तमानस्य पादोऽदनैरविवर्णन इत्यत्र समुच्चयादिभ्यो ऽलङ्कारः
परस्परप्रातिकूल्यप्रदर्शनपरः contrastive इति, अन्यथा एवार्थः। इति

तौलनात्मकम्। अंग्रेज एन्थोनी मैक्डानलकृतं वैदिकव्याकरणं यथा हिन्द्यामनूदितम्।
तत्रैकत्र तेन महाभागेन त्वप् प्रत्ययात् पूर्वं gerund suffix इति
शब्दस्तेन तत्रार्थे प्रयुक्तः, तकारः प्रत्ययः (पाणिनीयपद्धतौ तुगागमः)
भवति, तस्य तकारस्य विशेषणरूपेण phonetic शब्द इति तेन
प्रयुक्तः, phonetic t is proposed to the gerund suffix.
Phonetic शब्देन तस्य कोऽभिप्राय इति महतीं चिन्तामहमापन्नः,
तदा स्फुरितं मे मनसि मुखसुखार्थमेवास्याभिप्रायः, यथा महाभाष्ये
उच्यते मुखसुखार्थस्तकारः। मुखसुखम् उच्चारणसौकर्यमेव। प्रहृत्य
इत्येवमुच्चार्यमाणे सौकर्यं नास्ति, प्रहृत्य इत्येवमुच्चार्यमाणे तु
तदस्त्येवेति नातितिरोहितं प्रेक्षावताम्। एवमेव लुङः subjunctive
injunctive इति रूपेण तत्र द्विधा विभक्तः, एकः कालबोधकोऽपरस्य
भावः स्थितिबोधक इत्यत्र विवेकः। परं स्वात्यविदुषां व्याकरणशास्त्रे
तादृशं पाटवं यत्रैककेन ऽनभ्यासमात्रेण नामधेयेन
पूर्वप्रसिद्धमित्येकं सूत्रमाश्रित्यैव ग्रन्थ एकः प्रणीतः। एते सर्वेऽपि
पाश्चात्त्या विद्वांसोऽस्माकं नमस्याः। परिशीलनीयोऽस्मात्-
स्तद्ग्रन्थौघो निबन्धसमवायश्च। तदनु, सारं ततो ग्राह्यमपास्य
फल्गु।

दर्शनविषयेऽपि नाना मतानि पाश्चात्यैः प्रकाशितानि।
तान्यप्यनुशीलनीयानि, अनुशीलय च संस्कृतभाषया प्रतितानि
प्रतिपादनीयानि।

→ अवलम्ब्य धाष्ट्र्यं ममानुरोधोऽयम्। तन्मनस्यमेव नाना
रत्नान्यस्माभिर्लब्धानि स्युः। तदर्थं वैश्विकी दृष्टिरपेक्षिता।
दीर्घं पश्यत मा ह्रस्वमिति शास्त्रकृतां डिण्डिमः। एतदेवास्माकं
नाव्यापाराय कल्पेतेति समासेनैवं वच उपन्यस्य
सम्मेलनस्यास्य साफल्यं भगवन्तं भूतभावनं सम्प्रार्थ्य च-
/ समेतानां विद्वत्ल्लजानां। भवतां सर्वेषामपि / सर्वविधं मङ्गलं कुर्वन् चानुध्याय
भवद्दर्शनेन सर्वथा निर्वृतस्वान्तोऽहं स्वकीयां गिरमुपसंहरामीत्योम्

दक्षिणपूर्व एशिया में गङ्गा का महत्व

— सत्यव्रत शास्त्री —

भारत की अनेकानेक नदियों में गङ्गा ही एक ऐसी नदी है जिसने भारत से बाहर भी अपना स्थान बना लिया है। थाईलैण्ड में अनेक नदियां हैं। उनके अपने-अपने नाम हैं पर एक नाम ऐसा है जो सभी के लिये चरितार्थ है। वह नदी-मात्र का वाचक बन गया है। वह है माई नाम् खोंखा, माई = माता, नाम् = जल, खोंखा = गङ्गा, माता जल गङ्गा अर्थात् गङ्गा माई या गङ्गा मैया। थाई लोगों के लिये हर नदी खोंखा, गङ्गा है।

थाईलैण्ड और लाओस के बीच जो महानद है और जिसकी गणना विश्व के सात महानदों में की जाती है का नाम है 'मेकोंग'। बहुत कम लोगों को ही यह पता होगा कि इसका 'कोंग' भाग गङ्गा ही है, और 'मे' भाग माता का वाचक है, गङ्गा माता या जन भाषा में गङ्गा मैया।

थाईलैण्ड से अनेक थाई वर्षों से भारत में पढ़ने के लिये आते रहे हैं। भारत में अपने प्रवास की स्मृति को अक्षुण्ण रखने के लिये और प्रवास के अपने अनुभवों को परस्पर में बांटने के लिये प्रतिवर्ष वे एक मिलन गोष्ठी का आयोजन करते हैं। गोष्ठी रात्रि के प्रारम्भ से शुरू होती है। उसका नाम है 'गङ्गा नाइट', गङ्गा रात्रि। गङ्गा मानो भारत का प्रतीक है।

थाईलैण्ड में प्रतिवर्ष कार्तिक पूर्णिमा के दिन एक उत्सव मनाया जाता है जिसका नाम है लॉय क्रथोङ्। इसका सम्बन्ध गङ्गा पूजन से है। लगभग ६०० वर्ष पूर्व की बात है। रुअङ् महान् नाम के एक राजा का शासन-काल था। उसके राज में एक अति विशिष्ट विद्वान् ब्राह्मण था। उसकी एक कन्या थी नवमास। उसके समान सुन्दर और कोई कन्या रुअङ् के राज में नहीं थी। उसकी रूपराशि हर गीत का विषय थी, उसका नाम हर जुबान पर था। एक बार कुछ गायक राज दरबार में आये। उनके गीतों में उस अतुल रूपसी की चर्चा जगी। राजा ने सोचा क्यों न उससे विवाह कर उसे राजमहल में ले आया जाय। ब्राह्मण से

सम्पर्क किया गया। उसकी स्वीकृति के बाद विवाह सम्पन्न हुआ और नवमास रानी बन गई।

विवाह के शीघ्र बाद ही 'कथीन' महोत्सव का दिन आ गया। परम्परा के अनुसार राजा उस दिन शोभा-यात्रा के साथ बौद्ध विहारों में जाया करता था। राजा की इच्छा थी कि उसकी पत्नी नवमास भी उसके साथ चले। नवमास यद्यपि बौद्ध राजा से ब्याही थी तो भी ब्राह्मण कन्या होने के कारण हिन्दू रीति-रिवाजों का पालन करती थी और उसमें कभी कोई चूक नहीं होने देती थी। जिस दिन 'कथीन' का उत्सव था उसी दिन गङ्गा पूजन भी थी। गङ्गा के प्रतीक के रूप में किसी भी नदी का पूजन किया जा सकता था। इधर राजा की शोभा-यात्रा की तैयारी चल रही थी, उधर नवमास चिन्ता में थी कि कैसे राजा की नज़र बचा कर नदी का पूजन किया जाय। उसे एक विचार आया। उसने केले के पत्तों की एक अत्यन्त सुरुचिपूर्ण पिटारी बनाई, उसे रंग बिरंगे फूलों से सजाया, अगरबत्तियां उसमें रखीं, मोमबत्ती उसके बीचों-बीच जलाई, माथे से उसे छुआया और उसे जल में प्रवाहित कर दिया। शोभा-यात्रा का प्रारम्भ हुआ। बहते-बहते पिटारी उसी ओर आ पहुंची जिस ओर राजा की नाव थी। उसके सौन्दर्य से, उसकी कलात्मकता से, राजा आकृष्ट हुआ। ज्ञात होने पर कि यह उसकी रानी ने बनाई है, राजा बहुत प्रसन्न हुआ और उसने आदेश दिया कि प्रतिवर्ष उस दिन पिटारियां जल में प्रवाहित की जायेंगी। ६०० वर्षों से निरन्तर यह प्रथा थाईलैण्ड में चली आ रही है। नदी पूजन के रूप में गङ्गा पूजन की ही यह एक प्रविधि है।

(पिटारी (क्रथोङ = पिटारी) (को))

दक्षिण पूर्व एशिया के उन सभी संस्कृत अभिलेखों में जहां मङ्गलाचरण के रूप में भगवान् शिव की स्तुति की गई है गङ्गा का उल्लेख है। वहां यह कहा गया है कि भगवान् अपनी जटाओं में गङ्गा को इसलिये धारण करते हैं कि उष्णत्व (तृतीय नेत्र जिसमें अग्नि का वास है) और शीतत्व (चन्द्रमा जिसे उन्होंने मस्तक पर धारण किया है और जिसमें शीतत्व का वास है) में सन्तुलन बना रहे —

नमः शिवायास्तु शिवाय योय-
शशाङ्क शशाङ्कानलसूर्य-
नेत्रः

उष्णत्व शीतत्व समत्वमीप्सुः
स्वास्ये बिभर्त्यद्भुत जह्नुजालाम्

— पनोम् रुङ् अभिलेख,
पनोम् रुङ् मन्दिर, बुरीरम प्रान्त, थाईलैण्ड

जह्नुजाता, जाह्नवी, गङ्गा को यहाँ अद्भुत कहा गया है। यह वस्तुतः अद्भुत है। तभी तो भगवान् ने श्रीमद्भगव-द्गीता में इसे अपना ही स्वरूप बतला कर अन्य सभी नदियों से इसकी श्रेष्ठता प्रतिपादित की है— स्रोतसा-मस्मि जाह्नवी।

को ऽहम्

— सत्यव्रत शास्त्री

प्रश्नोऽयं समुदेति मे मनसि भोः कोऽहं कुतस्त्यस्तथा
किं वा नाम करोम्यहं जगति किं कुत्रास्म्यहं संस्थितः।
किं लक्ष्यं किमु वा महत्त्वमथवा किं वा ममाऽऽस्ते पदम्
आत्मा मे खलु नाम संस्तुत इति प्राप्तोऽस्मि कीदृशीं दशाम्॥१॥

यद्यच्चिन्तनमस्ति मे मनसि किं वाचा भवेत् तत्स्फुटं
किं वा कर्मणि तद् भवेत् परिणतं किं वा परेभ्यो भवेत्।
तत्सम्यक् प्रतिपादितं किमथवा ज्ञातं मया स्यादनेकान्तवे-
द्यैवं विकृतिपन्नमानसतया नो शान्तिमाप्नोम्यहम्॥२॥

किं मे धावनमस्तु वा सुविरतिः कार्यान्तरेभ्यो भवेत्
किं वा लोकविरागिरस्तु किमु वा तेभ्यो विरक्तिर्भवेत्।
चिन्ताक्रान्तमना इति प्रचलितं सर्वं चरं वाऽचरं
पश्यन् भ्रान्तमिदं जगत् किमपि किं नैवाहमालोकये॥३॥

ज्ञानं मे प्रथितं मया च पठिता ग्रन्था अनेके भुवि
तत्किं परवञ्चनादिकृतिषु स्वीया प्रवृत्तिः सदा।
दीनां दुर्विधितां गतां च जनतां नो वीक्ष्य चित्तद्रुति-
रन्धो वा बधिरोऽथवाऽहमिति मे नैवास्त्यहो निर्णयः॥४॥

किं कोऽहं सुविभूषितो गुणगणैर्लोकस्य पूज्यस्तथा
कुर्वन् वैभवशालिभव्यभवने वासं सदर्पं सदा।
इच्छन् द्रव्यमुपार्जितुं कुसृतिभिर्नैकैस्तथा नाहितैः
कृत्यैरीदृगपरैर्नृशंसपरैः शान्तिं परां नाप्नुवे॥५॥

आढ्यानामनुतापनं बत! कृते भ्राम्यामि रात्रिन्दिवं
नो वाऽहं च लभे कथञ्चिदपि हा! स्वीयामभीष्टां भृतिम्।
हर्म्याणां रचनाविधावनुदिनं श्रान्तस्य मे हन्त भोः
वासः पर्णकुटी विशीर्णमलिनं वासो ममाच्छादनम्॥६॥

आचार्योऽप्यनुशास्मि नैव सततं राज्ञां नयेऽवस्थितो
वैद्योऽहं परमातुरादिविषया चिन्ता न मां बाधते।

कार्याणां तत्र इत्यनेन निदेशो कार्यालये कार्यकृद्
उत्कोचादिपरः परार्थघटकः सौख्यं परं ह्यश्नुते ॥७॥

कोऽहं कस्याः किमु मे स्वरूपमथवा कस्मादहं भूतले
किं वा कर्म करोमि यस्य च कृते श्राम्याम्यहं सन्ततम्।
किं वा वच्मि शृणोमि किं किमथवा ध्यायामि यामि क्व च
(श्रोतारः) कोऽहं (वेद्मि) हन्त! किमिति भ्राम्यामि दिग्भ्रान्तवत् ॥ ८॥

पत्रकारस्य उद्धृतानि पद्यानि —

एतस्मिन् विरला लसन्ति विबुधाः शास्त्रादिचर्चापराः
प्रायो याच्छति धीमतामपि महान् कालो मुधाऽऽलापकैः।
न ग्रन्थान् रचयन्ति ते नहि च वाऽभ्यस्यन्ति शास्त्राणि ते
कालं ते गमयन्त्यहो! बहुविधं कार्यान्तरव्यापृताः॥

प्रायोऽहं प्रविलोकये बुधजनो सौहार्दहार्दं नहि
नान्योन्येन विचारसारसरणिः सङ्गच्छते तस्य च।
ईर्ष्याद्वेषवशंवदः परगुणान् बिल्वोपमेयानपि
कृत्वा सर्षपसंनिभान् स्वलघुतामाविष्करोत्येव सः॥

देशोऽयं महितः सुमहतामावासभूमिः शुभो
नाना तीर्थजलाम्बुभिः सततं नीराजनां लभ्यते।
पाथोधिः स्वयमूर्मिभिर्ननिशं प्रक्षालयत्युन्नतम्
एवं सत्यपि मानसी मलिनता नैतज्जनान् मुञ्चति॥

किं स्यात्कारणमत्र नैव बहुशः सञ्चिन्तयन्नप्यहं-
उन्नेतुं प्रभवामि वेद्मि नहि चोपायं हि तद्वारणे।
सौहार्दादिशुभो जनेषु न कुतो धत्ते पदं सौख्यदो
देशेऽस्मिन्निति महान्तमावहति मे क्लेशं गिरोऽगोचरम्॥

लोके संस्कृतसंस्कृती ह्यभिमते ह्यन्योन्यनिष्ठाश्रये
सत्येवं समुपासकः सुरगिरः किं नास्त्यतोऽसंस्कृतः।
कौटिल्यं परवञ्चनाऽनृतगवीगुम्फे प्रवृत्तिः पर-
च्छिद्रान्वेषणशीलता च बहुशस्तस्मिन् समालोक्यते॥

वेदव्याकरणादिशास्त्रनिचये कृत्वाऽपि भूयः श्रमं
स्मृत्याकीन् परिशील्य काव्यनिकरे दत्त्वा च बुद्धिं निजाम्।
कृत्वा कृत्यविचारणाविमुखतां विद्वद्वराणामपि
[illegible] नैव क्षणम् ॥
दर्शं दर्शमहं ममाद्य

Southeast Asia--Its Orissa Connections

Gopalpur in Orissa and Tamralipti in Tamilnadu were the ports in ancient Inand medieval India from where Indian ships laden with merchandize would sail for ports in Southeast Asia. The merchandize was accompanied with merchants and sometimes religious preachers some of whom would justc stay back and not return to the country of their birth. In the south of Thailand there is a community called Kaling which from the name itself would point to its Kalinga connections. Thec members of the community are distinguishable with their dark colour, stubby noses and short stature from the rest of the population. Just as it is in Thailand so is it in Indonesia. The community is called there Kling. In both the countries the Kalinga immigrants of yore have integrated themselves with the local population speaking the local languages and earing the local dress.. In features, however, they still differ.

Some of their customs/and festivals/ that they carried with them from their place of origin in India have now become the customs ~~of their adoption~~ and festivald of the country of their adoption. A popular festival of Thailand is the festival of Songkran, Sanskrit Sankranti, which is marked to usher in the month of Vaisakha. It has all the /features of/ similarities with the festival of Holi minus colour. People throw water on each other, just plain water, known or unknown. In the afternoon people visit the elders in the family and offer them gifts. The idols from the Buddhist Viharas are also taken out and bathed in or sprinkled with water.

There is another festival that has Orissa connections. It is called Loy Krathong. Celebrated in November, it had its origin in Thailand some six hundred years back. As the story goes, there was a Brahmin in the kingdom of Rung the Great. He was known all over for his great learning. He had a daughter of exceptional beauty called Nabamasa which could mean nine months or nine golds. So exceptional was her beauty that she had become the subject matter of every song. Everybody would talk about her. Even girls would not feel jealous of her. Instrad they would feel proud of her. One day some singers came to the royal court and their songs mentioned about the beauty of the girl (Nabamasa). This aroused the desire in the king to bring her to the Palace as the queen. The Brahmin having agreed, Nabamasa was married to the king. Shortly after the marriage came the festival of Katheen when the king would visit, as per the tradition of his country the Buddhist

monastries. It was his wish that to have Nabamasa to by her side during the visit. Though the wife of a Buddhist king, Nabamasa was firm in her practices of Brahmin rituals and custome. She would worship Hindu deities and observe vows and fasts. As per the Brahmin tradition of her times worship was offered to gods and goddesses of water for forgiveness of sins. While the preparations were on on the one hand for the ceremonial visit in boats of the king to monasteries, Nabamasa was busy planing how to offer worship to gods and goddesses of water without injuring the feelings of the King. She made a highly artistic basketof banana leaves, decorated it with multicoloured flowers, put some incense sticks in it as also parched rice and a candle and floated it in water. The basket, krathong as it is called locally, got into the notice ~~who was fascinated with it~~ of the king. On enquiry he found out that it had been made by his queen. He was so fascinated with it that he ordered that the basket would be floated on that day every year. That was the start of the festival which is now celebrated right across the country, Hundreds and thousands of krathongs in all sorts of imaginable patterns lending a riot of colours to water channels all over. According one tradition the Brahmin was from Orissa and it was his daughter who was the originator of the festival in the kingdom !

Satya Vrat Shastri

Introductory:

The temple of Jagannāth at Puri is one of the greatest religious monuments of India. Amongst the four most sacred places for the Hindus, Puri or Puruṣottama Kṣetra occupies an unique place being the perpetual abode of Lord Jagannātha, the manifestation of supreme being in the form of Dāru Brahma. The Jagannātha cult occupies a prominent position in the Hindu community particularly in its section of Kṛṣṇa worshippers. It is interesting to note that Jagannātha does not look like Kṛṣṇa. The images of the deities Jagannātha, Balabhadra and Subhadrā have a peculiarity of their own reflecting in them an innovative thinking of the ancients.

Philosophy:

According to Hindu tradition the word Purusottama means Kṛṣna of the Gītā.[1] The Purāṇas and the Kāvyas accept this alike. Kalidasa in his Raghuvaṁśa[2] points to the word Purusottama which signifies according to him god Hari only and Mahesvara god Śiva only. As such, Puruṣottama-Jagannātha is accepted to be Kṛṣna only. In other words, he is not only considered to be Gopāla-Kṛṣna of Vṛndāvana, but Kṛṣna-Viṣnu of ten incarnations, 'Daśākṛtikṛt'. It is not hypothetical. An actual image of the Lord along such lines is preserved in the State Museum, Orissa; where he is represented in a standing posture in the Tribhaṅga style with four arms, out of which he holds Śaṁkha and Cakra+ in the upper two while he plays on the flute with the lower two. This tradition of Viṣnu-Kṛṣṇa ultimately transformed itself into the cult of Jagannātha being amalgamated with the Brahman concept of Vedānta. It is because of this that Jagannātha has been called Dāru Brahma in the Purāṇic literature. The Brahmapurāṇa, the Padmapurāṇa (Pātāla Khaṇḍa and Uttara Khaṇḍa), the Nāradapurāṇa, the Garuḍapurāṇa and the Skandapurāṇa (Vaiṣṇava Khaṇḍa) propagated this concept throughout India since very early times.

A Religious Synthesis:

The cult of Jagannātha is a synthesis of the most active three religious sects of the Hindus; viz., Vaiṣṇavism, Śaivism and Śāktism. Devotees of these three have been shaking hands in the Jagannātha temple premises and taking the sacred food, Mahāprasāda, together. They forget here their deep rooted difference of opinions, because, Balabhadra they take as Śiva, Jagannātha as Viṣṇu and

THE CULT OF LORD JAGANNĀTHA : A HISTORICAL PERSPECTIVE

Satya Vrat Shastri

Introductory:

The temple of Jagannātha at Puri is one of the greatest religious monuments of India. Amongst the four most sacred places for the Hindus, Puri or Purusottama Kṣetra occupies an unique place being the perpetual abode of Lord Jagannātha, the manifestation of supreme being in the form of Dāru Brahma. The Jagannātha cult occupies a prominent position in the Hindu community particularly in its section of Kṛṣṇa worshippers. It is interesting to note that Jagannātha does not look like Kṛṣṇa. The images of the deities Jagannātha, Balabhadra and Subhadrā have a peculiarity of their own reflecting in them an innovative thinking of the ancients.

Philosophy:

According to Hindu tradition the word Purusottama means Kṛṣṇa of the Gītā.[1] The Purāṇas and the Kāvyas accept this alike. Kalidasa in his Raghuvaṁśa[2] points to the word Puruṣottama which signifies according to him god Hari only and Mahesvara god Śiva only. As such, Puruṣottama-Jagannātha is accepted to be Kṛṣṇa only. In other words, he is not only considered to be Gopāla-Kṛṣṇa of Vṛndāvana, but Kṛṣṇa-Viṣṇu of ten incarnations, 'Daśākṛtikṛt'. It is not hypothetical. An actual image of the Lord along such lines is preserved in the State Museum, Orissa; where he is represented in a standing posture in the Tribhaṅga style with four arms, out of which he holds Śaṅkha and Cakra+ in the upper two while he plays on the flute with the lower two. This tradition of Viṣṇu-Kṛṣṇa ultimately transformed itself into the cult of Jagannātha being amalgamated with the Brahman concept of Vedānta. It is because of this that Jagannātha has been called Dāru Brahma in the Purāṇic literature. The Brahmapurāṇa, the Padmapurāṇa (Pātāla Khaṇḍa and Uttara Khaṇḍa), the Nāradapurāṇa, the Garuḍapurāṇa and the Skandapurāṇa (Vaiṣṇava Khaṇḍa) propagated this concept throughout India since very early times.

A Religious Synthesis:

The cult of Jagannātha is a synthesis of the most active three religious sects of the Hindus; viz., Vaiṣṇavism, Śaivism and Śāktism. Devotees of these three have been shaking hands in the Jagannātha temple premises and taking the sacred food, Mahāprasāda, together. They forget here their deep rooted difference of opinions, because, Balabhadra they take as Śiva, Jagannātha as Viṣṇu and

A HISTORICAL PERSPECTIVE

Dr.Mrs. Usha Satya Vrat
Senior Lecturer in Sanskrit,
Kamala Nehru College,
New Delhi.

Introductory:

The temple of Jagannāth at Puri is one of the greatest religious monuments of India. Amongst the four most sacred places for the Hindus, Puri or Puruṣottama Kṣetra occupies an unique place being the perpetual abode of Lord Jagannātha, the manifestation of Supreme being in the form of Dāru Brahma. The Jagannātha cult occupies a prominent position in the Hindu community particularly in its section of Kṛṣṇa worshippers. It is interesting to note that Jagannātha does not look like Kṛṣṇa. The images of the deities Jagannātha, Balabhadra and Subhadrā have a peculiarity of their own reflecting in them an innovative thinking of the ancients.

Philosophy:

According to Hindu tradition the word Puruṣottama means Kṛṣṇa of the Gītā.[1] The Purāṇas and the Kāvyas accept this alike. Kālidāsa in his Raghuvaṁśa[2] points to the word Puruṣottama which signifies according to him god Hari only and Maheśvara god Śiva only. As such, Puruṣottama-Jagannātha is accepted to be Śrī Kṛṣṇa only. In other words, he is not only considered to be Gopāla-Kṛṣṇa of Vṛndāvana, but Kṛṣṇa-Viṣṇu of ten incarnations 'Daśākṛtikṛt'. It is not hypothetical. An actual image of the Lord along such lines is preserved in the State Museum, Orissa; where he is represented in a standing posture in the Tribhaṅga style with four arms, out of which he holds Śaṅkha and Cakra in the upper two while he plays on the flute with the lower two. This tradition of Viṣṇu-Kṛṣṇa ultimately transformed itself into the cult of Jagannātha being amalgamated with the Brahma concept of Vedānta. It is because of this that Jagannātha has been called Dāru Brahma in the Purāṇic literature. The Brahmapurāṇa, the Padmapurāṇa (Pātāla Khaṇḍa and Uttara Khaṇḍa), the Nāradapurāṇa, the Garuḍapurāṇa and the Skandapurāṇa (Vaiṣṇava Khaṇḍa) propagated this concept throughout India since very early times.

A Religious Synthesis:

The cult of Jagannātha is a synthesis of the most active three religious sects of the Hindus; viz., Vaiṣṇavism, Śaivism and Śāktism. Devotees of these three have been shaking hands in the Jagannātha temple premises and taking the sacred food, Mahāprasāda, forget here their deep rooted difference of opinions

Subhadrā as the Śakti of these two[3], in the form of Durgā Bhuvaneśvarī[4] or Laksmī.

Brother and Sister:

A brother and a sister being worshipped together in a temple as Rāstra-devatās is a rare phenomenon in India. Generally gods are worshipped in it with their consorts. But in Puri Jagannātha-Krsna is worshipped with his elder brother Balabhadra-Balarāma and sister Subhadrā. Laksmī does not have a seat here on the pedestal along with Jagannātha. Not that Laksmī is not worshipped at all. There is a separate temple for her in the Jagannātha temple compound.

The Concept of Śūnya and Śūnya Purusa:

The most characteristic ideology behind the image of Lord Jagannātha formulated by the Pañcasakhas is the predominance of the concept of Śūnya blended with Vedantic ideal of Nirguna Brahma. Balaram Das in the first chapter of his Sārasvatagītā[5] declares that Śūnya and Brahma are identical. In his Siddhāntadambaru[6] he presents a Bījamanta which reads: Om namah śūnya-Brahmane. It may be pointed out here that Brahman in its Saguna aspect is perceived in the world-manifestations, while in its Nirguna aspect is conceived as the prime source behind all such manifestations. But, its association with the conception of vacuity gives rise to a new ideology which appears the same as that of the 'Abhutaparikalpa' of Vijñānavāda, where the world manifestations become unrecognisable being unified with Śūnya.[7] Like Balarama Das, the other associates of Pañcasakhas also perceive Jagannātha as Śūnya Purusa[8] and Nirguna Brahma at the same time. Some scholars maintain that the Śūnya Purusa concept of the Orissan Vaisnavas must have got inspiration from the ancient Vajrayānists who conceive Vajrasattva to be a supreme-Being and also a Śūnya Purusa[9]. This, however, may not be acceptable because the period of popularity of Vajrayāna in Orissa is the eighth century, whereas the Pañcasakhas flourished in the sixteenth century. They had no opportunity to come into contact with the Vajrayānists. Hence it is certain that the concepts they hold on, are not borrowed from Vjrayānists. May be, they are their own. They feel, the 'Nitya Rasa' is going on in the Jagannātha image itself between Rādhā and Krsna who continue to embrace each other.[10]

A careful study reveals that the religious thinkers at times conceive Jagannatha to be the symbolic form of Nirakara, Sunyapurusa, Alikha and Anākāra. Thus the cult is a mystic and idealistic one although it contains in itself the originality of its own as representing the Mahāvisnu of the Puranas saturated with the concept of Dāru-Brahma.

Dāru Brahma-Purusottama:

The image of Jagannātha is a synthesis of different strands of Indian Philosophy. It is the symbolic form of the absolute reality or the very spirit which is inaccessible to the mind and speech; 'Avānmanasagocara'. The Lord carries the contradictory epithets in himself which are resolved only in a higher plane of consciousness.

The three main images of the Jagannath temple symbolise the Sat, Cit and Ānanda aspects of the ultimate reality. Purusottama comprises both Śuddha Purusa and Śuddhā Prakṛti, going at the same time beyond these, attaining thus the status of Absolute Purusa. It is superior to the Ksara Purusa and Aksara Purusa as advocated in the Purusottamayoga of the Gītā. The Absolute Purusa is considered different from the pure Purusa which is the logical opposite of Prakṛti. Here then is transcended the Sāṅkhya dualism between Purusa and Prakṛti. Subhadrā is conceived as Prakṛti in the Purāṇas, whereas Jagannātha and Balabhadra are conceived as covering the dual aspects of Purusa. According to the Skandapurāṇa, Vaisnava Khanda, Balabhadra and Jagannātha in a sense represent a symbolic unity, there being no difference between the two.[11] This corresponds to the theory of Yoga which conceives the Lord or Īśvara as 'Purusa-Viśesa' or a superior Purusa.[12] The three main images on the temple represent in them the spirit of philosophical synthesis of all rival contradictory forms. Even Advaita, Dvaita and Viśistādvaita ~~join hands~~ contribute in developing the composite cult of Jagannātha. It is because the four images (Caturddhā mūrti) including the minor one of Sudarśana when considered in revealing the four aspects of one god Jagannātha, are connected with each other as the limbs of a body and hence as a whole are conceived to be the supreme being, they are in one sense accepted to be one ~~and the same~~ and in another, as different ~~are taken as separate gods.~~ from each other.

The Legend behind the cult of Jagannātha:

The legend of King Indradyumna, the founder of the cult of Jagannātha at Purusottama Ksetra as described in the Skandapurāṇa[14] in the 8th century,[15] needs a brief mention here. This tactful attempt was a grand success in popularising the cult all over India. As a result, the religious personalities like Śaṅkara, Rāmānuja, Madhva, Nimbārka, Vallabha and Caitanya came over to Puri and established their Mathas.

Once being asked about the salvation of all the beings, Lord Visnu replied to Brahmā: 'He(Visnu) himself is worshipped in the form of Nīlamādhava on the top of Nīlādri at Purusottama Ksetra of Odra country. One can attain immediate salvation simply by a visit to this god. But this announcement disturbed very much

the god of death, Yama, who lost importance of his office since in this process everybody could get salvation. Then on the request of Yama, Lord Viṣṇu assured him that he would dissapear from that place within a short period.

Puruṣottama Kṣetra in those days was a dense forest. Nobody knew its importance. Only a Śabara King Viśvāvasu worshipped god Nīlamādhava in a shrine towards the north of Rohina Kuṇḍa on the top of Nīlagiri. The gods from heaven come there every day to offer oblations to Nīlamādhava.

During that time, Indradyumna, a Vaiṣṇava king was ruling over Mālava. One day he asked the members of his learned council to know the exact place where lord Viṣṇu was worshipped. To his good luck, a Sanyāsin at once appeared there and said, "Viṣṇu himself is visible in his perfect form on the Nīlagiri of Oḍra deśa. The emancipation of the soul can be possible through a visit to this god."

Happy at this Indradyumna asked the brother of his priest, Vidyāpati to locate the abode of Lord Puruṣottama. Vidyāpati reached the Odra country and passed the night in a Śabara village. There he made friends with the Śabara chief Viśvāvasu. Taking advantage of his friendship Vidyāpati requested the Śabara chief to show him god Nīlamādhava on Nīlagiri. Out of friendly feeling Viśvāvasu agreed to it and through a narrow track showed him the shrine of Nīlamādhava.

After locating the place Vidyāpati left for Avanti to inform king Indradyumna. In the meanwhile Lord Viṣṇu, in order to fulfil the promise that he had made to Yama, disappeared from there through a sand storm. When after a few days Indradyumna arrived there with his men along with the sage Nārada, the king of Oḍra deśa informed him that god Nīlamādhave had disappeared. This greatly upset Indradyumna. Nārada however, pacified him by saying: "The lord would appear again in the form of wooden figures(Dāruvigraha). For that the king should have to perform horse sacrifice.

Indradyumna performed the horse sacrifice. On the closing day the god advised him in dream that he should bring the 'nyagrodha' tree, floating in the sea and place it in the sacrificial altar under cover of cloth. The king did so and the images appeared on the altar automatically after the cover was taken out on the fifteenth day. The image-making was done by the god himself who had earlier approached the king in the guise of an old carpenter.

The king was glad to find the four images of those of Jagannātha, Balabhadra, Subhadrā, and Sudarśana. He worshipped Jagannātha through Aṣṭākṣara Mantra,[16] Balabhadra through Puruṣa Sūkta and Subhadrā through Devī Sūkta. An heavenly voice then advised him to build a great temple for the gods and inaugurate it properly which he did. Before the final touches to the temple, he went to Brahmaloka to invite Brahmā, the creator God, for the consecration of the temple ~~of Jagannatha~~.

As Indradyumna was out to Brahmaloka for some days, a period of a couple of generations passed in the Martyaloka. A king belonging to another dynasty, Gāla by name, was ruling Utkala at that time. He claimed that the shrine was built by his ancestors.

With Indradyumna and Brahmā arriving at Puruṣottama kṣetra, the conflict between Indradyumna and Gāla began on the claim to the temple. Brahmā at this intervened and the temple was restored to its original builder, Indradyumnā. Brahma then prayed to the lords and consecrated the temple.

The above story of the Skandapurāṇa later on was expanded with some alterations in the Saralā Mahabharata (15th century) with the inclusion of the episode of the love of the tribal lady Lalitā. In the 18th century Sisu Krsna Das wrote his book on the construction of the temple of Lord Jagannath, entitled 'Dauloatola' where he elaborated the love of Lalitā, the daughter of the Sabara chief Viśvāvasu for the Brāhmaṇa Vidyāpati.[18] This work points out that the temple servants 'Daitas'[19] are the people of tribal origin. ~~This book is~~ Very popular in Orissa ~~and~~ it makes an attempt to correlate the anecdotes of the Skandapurāṇa and the Saralā Mahābhārata.[20]

The Antiquity of the cult of Puruṣottama-Jagannātha:

To determine the antiquity of Jagannātha or Puruṣottama of Puri is not easy because of scanty evidence. The Ṛgveda in .... mentions Dāru.[21] Sāyaṇ (1300-1380 A.D.) takes it to refer to Puruṣottama-Jagannātha of Puri. Says he, 'there exists on the sea-shore in a far off place the image of a deity, Puruṣottama, which is made of wood (Dāru) floating as it were, in the sea. Devotees, by worshipping the very (god) wood, not perishable at all, attain the eternal abode of Viṣṇu.[22] He does not seem to be satisfied with this interpretation and proceeds to give another one according to which Dāru could refer to Lakṣmī. Scholars generally accept the second interpretation. The Vedic origin of Jagannātha cult does not find favour with them.

The Rāmāyana tells us that the family deity of the Iksvākus was Jagannātha,[23] leading some scholars to believe that the reference is to Jagannātha of Orissa. Just the occurrence of the word Jagannātha, however, is not conclusive enough for this. In the Rāmāyana and the Mahābhārata[24] Jagannātha as an epithet appears often of Visnu. This Jagannātha should not necessarily mean the Jagannātha of Puri.

The Gītā proclaims Purusottama to be the same as Krsna.[25] In the Visnupurāna Krsna is addressed as Purusottama and Jagannātha[26]. The Matsyapurāna, mentions Purusottama Ksetra.[28] The Trikāndaśesa (9th Cen.A.D.) mentions Jagannātha as a synonym of Visnu.[29] Murāri, the author of the Anargharāghava of the 8th Cen.A.D.[30] mentions Purusottama Ksetra. The Skandapurāna, Utkala-khanda, generally believed to be of the 8th Cen.A.D.[31] gives a clear picture of the Purusottama Ksetra. This would lead us to belive that the Purusottama Ksetra was known since the days of the Matsyapurāna and had become considerably popular by the time of the 8th century as a Vaisnava ksetra. That was the reason that Yayāti Kesarī, the first distinguished king of the Somavamśī dynasty, though staunch Śaiva, was inspired to construct a small temple for Jagannātha[32] at Puri in the 10th century A.D. After that in the 12th century A.D. the Ganga king Colaganga Deva[33] (1078-1147) built the present Jagannātha temple which was completed towards the end of the same century through the efforts of Aniyanka Bhīma Deva, a powerful king of the same dynasty. After the 12th Cen. A.D., enough literary and epigraphical references are available to trace the history of the cult of Jagannātha.

The Epigraphical References:

Epigraphic references, considered more reliable for the history of Jagannātha Cult are available generally after the 7th or the 8th Cen.A.D. The Śaradā Devi temple inscription of Maihar,[35] of Satna district of Madhya Pradesh which according to D.C.Sircar should belong to the middle of the 10th Cen.A.D. mentions a boy named Dāmodara, son of a Brahmin Devadhara, who was drowned in the sea at Puri(Odra country) after having seen god Purusottama.[37] This is the earliest reference to Purusottama Jagannātha in Inscriptions.

The Copper Plates of eastern Chalukyas are also of use in determining the antiquity of Jagannātha. A Copper Plate,[38] found from Korumeli of Rajmahendri district and the Kalindi Grant[39] from Kaikalur of Krishna district of the 11th century A.D., directly mention Purusottama Ksetra: Śrīdhāmnah Purusottamasya. In the same century the Pujaripali inscription of king Gopala[39] mentions the Purusottama Ksetra as an important Tīrtha in India.

In the middle of the 12th century Purusottama-Ksetra reached the pinnacle of its glory. As a result the present temple came to be built there.[40] Thereafter a number of other Jagannatha temples were built in different parts of the country. Festivals connected with Jagannātha cult came to be celebrated in Puri on a grand scale which made the sacred place even more popular.

Festivals of Jagannatha:

Traditionally twelve main festivals are celebrated at Puri every year. In addition to them, a lot of sub-festivals are celebrated in the temple compound. Thus, almost every day there is one festival or the others in the temple complex. For all festivals, particularly the major ones, devotees from all over the country throng in large numbers. The largest crowd gathers for the car festival. From the beginning of the year to the end, the important festivals connected with the deities are as follows:

Snānayātrā:

In accordance with the earliest view that the year begins with Jyeṣṭha, the first festival of the lords is celebrated in that month. Known as Snāna-yatra or the 'Bathing festival' it is celebrated on the full moon day of Jyeṣṭha+. Śrīharṣa refers to it in his work.[41] During this festival, the four images of the Jagannātha temple are brought to the Snāna Vedi, through Pahandi where the lords take their bath. They are dressed up there in Gaṇeśa-Veṣa, i.e., like Ganeśa. This attracts in large numbers Gāṇapatyas, particularly from south India.

Anavasara:

After the Snāna-yātrā the deities are presumed to fall ill. This is known as Anavasara. For fifteen days they are kept away from public view. Remaining under treatment of the Royal Physician(Rāja Vaidya) they are administered suitable medicines. The Daitas (a class of temple servants) take care of them during this period when the images are also repainted. With the final touches over, the deities are again placed for public view, on the sixteenth day when a large number of visitors come to pay them obeisance. This is known as 'Netrotsava-Navayauvana-darśana'.

The car festival:

This festival is celebrated on the Āṣāḍha śukla dvitīyā i.e., the second day of the bright fortnight of the lunar month of Āṣāḍha. Here the deities are taken out on chariot for visiting their birth place called Gundica ghara. Jagannātha's chariot is called Nandighosa and has sixteen wheels.

Balabhadra's chariot is called Tāladhvaja and has fourteen wheels.

Subhadrā's chariot is called Devīratha ~~and Sudarsana~~ and has twelve wheels.

These huge chariots are pulled with big ropes by the devotees to whom just a touch of the rope is an act of high merit and wish fulfilled. The Lords are taken into the Gundicha temple through Pahandi(jumping). After seven days the 'Bahuda yatra' or the return journey takes place. On the 11th day the deities are decorated with gold ornaments while on the chariots for public view which is known as Sūnaveṣa.

When Jagannātha returns to the main temple after enjoying the car festival, Mahālakṣmī, his wife, closes the door. She is annoyed with him for not taking her along. The worshippers of Jagannātha at this pacify Lakṣmī's followers who then allows Jagannātha into the temple, dropping the curtain on the drama.

Śayanotsava:

On the 11th day of the bright fortnight of the month of Āṣāḍha, the ceremony for Viṣṇu-Jagannāth for putting him to sleep is observed. At night the representative images(small golden images) like Lakṣmī-Nārāyaṇa, Ananta-Vāsudeva and Bhuvaneśvarī[42] representing Jagannāth, Balabhadra and Subhadrā respectively are brought to the well-decorated sleeping chamber where they are placed on their beds.

Dakṣiṇāyanotsava:

The day the sun starts to move to the equinox, this festival is observed.

Jhūlana yatra:

This festival is celebrated from the 10th day up to the full moon day in the month of Śrāvaṇa. The representative image Madanamohana is placed on the decorated swinging chariot.

Pārśva Parivartana :

On the 11th day of the bright fortnight of the month of Bhādrapada the festival of turning sides is performed. The sleeping dieties turn their sides.

Prabodhana yātrā :

On the 11th day of the bright fortnight of the month of Kārtika the ceremony waking up of Viṣṇu Jagannāth is performed.

Prāvaraṇa Utsava :

On the sixth day of the bright fortnight of Mārgaśīrṣa, the deities are dressed with winter garments.

Puṣyābhiṣeka :

On the full moon day of Pauṣa the bathing ceremony is performed.

Uttarāyana Utsava :

The day of Makara saṅkrānti when the Sun starts to move towards the south equinox, is celebrated in the temple ceremonially.

Dola yātrā :

On the full moon day of the month of Pālguna, the representative images of the Lords are brought to Dola Vedi(Swing altar) where the swing festival is performed. This is also called Vasantotsava.

Damana Bhañjikā yātrā :

In the month of Caitra, this celebration takes place. During this time a plant, known as Damanaka, is offered to the deities.

Candana yātrā :

This is the last important yātrā. Madana-mohana (Jagannātha-Kṛṣṇa) Lakṣmī and Sarasvatī cruise in a white boat in round trip in Narendra tank while Rama-Kṛṣṇa with five Śiva images do so in red boat. This continues for 21 days (from the third day of bright fortnight of Vaiśākha to the 8th day of the dark one of Jyeṣṭha). On the closing day is celebrated a grand function known as 'Bhaunri', derived from the Sanskrit word 'Bhramarī'. On this occasion, the deities make the round trip in the tank for twenty one times. The visitors in large number enjoy the scene from the embankments. Both the boats are well decorated with lights. The music and dance in the boats lend a peculiar charm to the scene.

One of the rather rare and important festivals connected with Jagannātha is 'Navakalevara' which is celebrated once in twelve to ninteen years. In this function the wooden images of the deities are replaced and renewed by the suitable neem wood. The Nābhi-Brahma-padārtha of the deities is also transferred from the old images to the new ones. This is done in a very secret way.

Dāru-Brahma Jagannātha is worshipped daily with the Vedic rites.[43] The Mantras used for his worship always begin with Praṇava or Oṁkāra. Three Dhūpas(meals) and five Avakāśas are observed in the temple every day. The deities in a royal style go to bed after 'Badasiṁhāra Dhūpa' with Devadasis giving music and dance.

REFERENCES :

1. yasmāt kṣaram atīto'ham akṣarād api cottamaḥ
ato'smi loke veda ca prathitaḥ Puruṣottamaḥ
Bh.Gītā, 15.18.

2. Harir yathaikaḥ Puruṣottamaḥ smṛtaḥ
Maheśvaras tryambaka eva nāparaḥ,
Raghuvaṁśa, 111.49.

3. tasya śaktisvarūpeyaṁ bhaginī śrīḥ prakīrtitā,
Skandapurāṇa, Vaiṣṇava Khaṇḍa, 19.17.

4. Mohapatra, G., Land of Viṣṇu, p.141.
Cult of Jagannath and Regional Traditions of Orissa,
Hereafter C.J.R.T.O.A. Eschmann, H.Kulke and G.C.Tripathi, p.172.

5. Sārasvatagītā, 1.1. Mahasunyaku ye Brahma boli kahi(Oriya).

6. Basu, N.N., Siddhantaḍambaru; Archaeological Survey of Mayubhanj, p.Cxxxiii.

7. abhutaḥ parikalp'sti dvayam atram na vidyate
śūnyatā vidyate tatra tasyām api sa vidyate,
Madhyāntavibhāgaṭīkā, Edition Sylvain Levi, p.10.

8. Das, Acyutananda, Śūnyasaṁhitā, Ch.VII.

9. Mishra, K.C., The Cult of Jagannath, p.159.

10. Jagannathcaritāmṛtam, 12.66.
Jagannāthaśarīreṇa Rādhā tiṣṭhati sarvadā....
See also Jagannāthagītā, 12.82.
Śrīkṛṣṇaḥ paścimamukhe
Rādhāmukhaṁ ca pūrvake.
parasparaṁ kṛṣṇa-rādhā-
vilāsaḥ nīlakandare.

11. ko bhedo'stīha ko vipraḥ kṛṣṇasya ca balasya ca,
Skandapurāṇa, Vaiṣṇava Khaṇḍa, 19.13.

12. Chakravarti, P., Origin and Development of Sāṅkhya Systems of Thought, Calcutta, 1951, p.315.

13. Bh.Gita, 15.18.

14. Puruṣottamamāhātmya of Skandapurāṇa, Vaiṣṇava Khaṇḍa.

15. Mohapatra, G., Land of Viṣṇu, Delhi, 1980. See last chapter, The date of Puruṣottama Kṣetra Māhātmyaṁ.

16. Oṁ namo Bhagavate Vāsudevāya.

17. Saralā Mahābhārata, Dāna Parva and Musalī Parva.

18. See, Deula Tola, Sisu Krsna dasa.(18th century work).

19. For details about the Daitas' of Puri temple, see Jagannath in the History and Religious traditions of Orissa by G. Mohapatra, Calcutta, 1982.

21. "ado yad daru plavate sindhoh pare apurusam
tad ārabhasva durhano tena gaccha parastaram.

Rgveda, X.155.3.

22. Rgveda, Vaidik Samsodhan Mandal, Poona, Vol. X.155.3
Sayana Bhāsya, pp.841.

23. ārādhaya Jagannātham Iksvāku-kuladaivatam,

Rāmāyana, Uttara Khanda, 108.29.

24. tasya lokaprdhānasya Jagannāthasya bhūpate
Visnor nāmasahasram me śrnu pāpabhayāpaham,

M.Bh., Anuśāsanaparva, 135.12:

25. Bh.Gītā, XV.18.

26. Krsna-Krsna-Jagannātham jāne tvām Purusottamam,

Visnupurāna, Gita Press, Gorakhpur, 33.41.

27. Vāmanapurāna, Ed.A.S.Gupta, L.35.

28. Matsyapurāna, XIII.35; XXII.38.

29. Orissa Historical Research Journal, State Museum, Bhubaneswar. Vol.II, Nos.3 & 4, p.71.

30. bho bho, lavanodavelāvanālītamālatarukundalasya tribhuvanamaulimandanamahānīlamaneh ... Purusottamasya yātrāyām upasthānīyāh sabhāsadah."

Anargharāghava, Prastāvanā.

31. Mahapatra, G., The Land of Visnu, last chapter.

32. Madala Panji-Prachi, (A temple record), p.5.

33. prasadam Purusottamasya nrpatih ko nāma karttum ksamah,
tasyaityādinrpaih upeksitam ayam cakre 'tha Gangeśvarah,
The Ganga Inscriptions, J.A.S.B. Vol.LXV, 1896, part 1, p.229:

34. For detail see : Jagannath in the History and Religious Traditions of Orissa by G. Mohapatra, Calcutta, 1982.

35. samudramajjanān nūnam odresu purusottamam,
drstvā tavāntike bhūyah purā gacchaty ayam śisuh.

Epigraphica Indica, Vol. XXXV, pp.171-78

36. Mishra, K.C., The Cult of Jagannath, p.35

37. Indian Antiquary, Vol.XIV, p.50.

38. Epigraphica Indica, Vol.XIX,p.65

39. Mahakosal Historical Society's Papers, Vol.II,1937, p.68.

40. Journal of the Asiatic Society, Bengal(J.A.S.B.), Note No.33.
See the chapter 'Popularisation of Jagannath Cult from the book, 'Jagannath in the History and Religious Traditions of Orissa, Calcutta, 1982.

41. Naiṣadhīyacaritam, XV.89.

37. Indian Antiquary, Vol.XIV, p.50.

38. Epigraphica Indica, Vol.XIX, p.65

39. Mahakosal Historical Society's Papers, Vol.II, 1937, p.68.

40. Journal of the Asiatic Society, Bengal (J.A.S.B.), Note No.33.

See the chapter 'Popularisation of Jagannath Cult from the book, 'Jagannath in the History and Religious Traditions of Orissa, Calcutta, 1982.

41. Naiṣadhīyacaritam, XV.89.

sa

The Ramayana is a combination of two words Rama and ayana, path, the same ayana which is found in the words daksinayana and uttarayana, the southern path, the northern path. The Ramayana therefore has the literal meaningof the path of Rama, the path followed by him in his life and conduct. There is a well-known saying in Sanskrit : Ramadivad vartitavyam na Ravanadivat, "one shoulds conduct oneself like Rama and not like Ravana and the like. Rama in a sense symbolizes xxxxxxxx virtues and Ravana vices. By following Rama one would be inculcationg virtues and considering what befell Ravana would shun vices. The good traits the vices overshadow and bring ruin. That is the lesson that one draws from the Ramayana. Ravana was not all that bad as he is perceived to be. He was a Brahmin, the son of a sage, Rsiti Pulastya, he had a mastery over the Vedas being described as Vedarthatattvajnah; he was an able administrator and strategist as evidenced by the way he had fortified his city; he was a great warrior. The way he fought redoublable Rama had no parallel, the fight between him and Rama being likened by Valmiki to that fight itself, there being no upamana, standard of comparison available for it : Ramaravanayor iva. But then he was too obstinate and headstrong to listenmto the same advice of his brother and other relatives to return Sita to Rama; was injudicious enough in demeaning himself to the point of cheating Rama to get away from his hut by luring his wife with the sight of a golden deer that he asked his maternal uncle Marica to assume much against his protestations and stealthily approaching the unsuspecting lady in the garb of an ascetic - to carry her away revealing a weak streak in his character of facing his adversary by locking horns with him. It was a barbaric act on his part to abduct unguarded Sita, a married woman. His infatuation with her did not go well with his learning, nor hid desire to have her as his wifeknowing full well that she was legally wedded to some one else. No amount persuation of his well-meaning relatives could deflect him from his evil course. Not that Sita's ravishing beauty did so overwhelm him as to lose all good sense. In his wife Mandodari he had axmatch to Sita in feminine beauty, a point that she forcefully makes in her lamentations at his fall :

an act rightly termed as naricaurya by no less a person than his own wife Mandodari-

no/

> na kulena na rupena na daksinyena Maithili
> mayadhika va tulya va tat tu mohan na budhyase
>
> Ramayana, Yuddhakanda, 111.28.

"Maithili (Sita) is not my equal nor superior to me either in birth, or beauty or accomplishments but you did not perceive this through your infatuation" THe plain fact is that his learning, whatever the extentb of it, did not go into his mind to the extent to change his baser instinct. The hiatus between his learning and his animal carnal desire becomes too apparent here to need any comment.

Thee are two places in the Valmiki Ramayana where the qualities of head and heart of Rama find detailed delineation. First when Valmiki enquires of Na Narada of a person in his time, sampratam, in the world, loke, who is endowed with qualities and prowess; who knows duty; who is grateful, truthful and firm over vow, who is of good character; who is engaged in the welfare of all creatures; who is learned and capable; who is ever lovely to behold; who has subdued his heart; who exercises control over his anger; who is endowed with splendour; who is devoid of malice and whom ewhile engaged in battle even the gods fear. Narada in answer points to Rama being such a person. He starts recounting his qualities. This recount takes into account not only the qualities that Valmiki had spoken of which he, as it appears from the relevant episode, he would have liked a person of his vision to possess but also goes further. While Valmiki's vision makes him visualize sixteen qualities in his ideal hero. NaraDA's account of the hero actually present on the earth makes him see in him as many as sixty-eight qualities, an increase of fifty-two over that of Valmiki or in terms of percentage aalmost 400% ! Rama, therefore, had more qualities which a human being, Valmiki in the present instance, could imagine in his oideal hero. It required a divine sage, the Devarsi, Narada in the present instance, to perceive them. According to him there was on the earth in flesh and blood some one who did possess those qualities. For such a variety of qualities to exist in one individual one has not to conceive of that individual, to bring him out from the figment of one's imagination which normally would have been the case and which probably would have prompted Valmiki to put the qery to Narada. It was Rama's uniqueness that made him the paragon of aLL THE VIRTUES IMAGINABLE. And in this he has no parallel. He isthe ultimate in good conduct and character earning for himself the sobriquet Maryadapurusottama, the best among men setting the limit (maryada) for all that is decent and noble. Little wonder he came to be equated with Lord Visnu being accepted as one of his incarnations. It was a phenomenal rise for him from the princehood of Ayodhya to godhood in the Hindu pantheon !

The yogins have revelled in his name. which has been so etymologized to yield that meaning : ramante yogino 'sminn iti ramah, Rama is so called because the yogins take delight in him to the exclusion everything else. When he was ruling the whole world had turned into his very form , was just a reflection of him : Ramabhutam jagat sarvam Rame rajyam prasasati.

The second time there isdelineation of Rama's qualities is when he has grown adult, is already married and is just ripe for anointed Hair Apprent. He is described as handsome, rupopannah, possessed of prowess, not looking for shortcomings of others in the midst of their virtues, incomparable on earth, always peaceful, speaking gently , picking up the conversation first, mrdu purvam ca bhasate, even though being addressed harshly not responding likewise, feeling gratified even one solitary instance of a good turn done to him and on account of self-control forgetting even a hundred bad turns, always discoursing with people of character or wise men or the aged or the virtuous in the intervals of martial exercises, intelligent, sweet of sweet speech, speaking first to (visitors), using graceful words, brave but proud of his bravery, never speaking untruth, learned, respectful to the elderly, compassionate, with control over his anger, honouring the Brahmanas, kind towards the miserable, grasping Dharma, well-versed in morality, pure in spirit, possessed of the thoughts and sentiments of his race, having high regard for his Ksatriya duties with the thought that by duly performing them heaven could be attained, never engaged in forbidden practices, never relishing improper talk, like Vachaspati coming out with argument after argument, free from ailments, youthful, eloquent, of good demeanour, with knowledge of time and place, with the capacity to probe into the core personality of a man, the one honest person ever created. With these qualities of his he was very dear to the subjects. The enumeration of the qualities does not stop here. It continues. The number of them described here too touches the high figure of ninety four ! The list is certainly not exhaustive, it ends with the words 'and so on'. It is no wonder then that Valmiki should have been commissioned to describe the life story of this unique and wonderful personality !

Now the question is : Who commissioned and why ? The answer to this furnished in the Ramayana itself.

As for the qualities of head and heart, Rāma is described restrained, learned, patient, self-controlled, majestic, duty-knowing, firm in promise, always engaged in the good of the subjects, renowned, knowledgeable, pure (in body and spirit), obedient (towards seniors), well-versed in self-knowledge, Prajāpati incarnate, blessed with prosperity, the destroyer of enemies, the protector of living beings, of Dharma, the duties of his class and his kinsmen, well-versed in the profundities of the Vedas and the Vedāngaas, the disciplines auxiliary to the Veda, archery, (and) the dicta of all the sciences, brilliant with good memory, the darling of all, upright, proficient and not of low spirits. He is resorted to by the good people as is the ocean by the rivers. He is noble with equal regard for all. In depth he is like the ocean; in fortitude like the Himālaya; in prowess like Viṣṇu, in personal attractiveness like the moon; in anger like the fire at the time of Dissolution, in forgiveness like the earth, in gifts like Kubera and in truth like Dharma in different form.

It is no wonder then that Vālmīki should have been commissioned to describe the life story of such a man.

a cave to deliver a child of which he had no knowledge. The queen told the child of the misdeeds of his father. The child on coming of age killed the father in a duel. Proud of his power and strength he approached Īśvara and challenged Him for a duel who directed him to Vālin instead. He of the name of Thorapee approached Vālin and challenged him for a duel. Vālin agreeing to do so lured him into a cave. Before engaging him in a fight, Vālin instructed his younger brother Sugrīva to remain at the entrance to the and decide about the rexult of the fight from the colour of the blood flowing out of the cave. If it were black, he should conclude that it is the he-buffalo who had been killed. Were it to be red, he should take it that it is Vālin who had lost his life. As chance would have it, it rained heavily when the fight between Vālin and Thorapee was on. Vālin killed Thorapee but the mixing of the rain water in his blood changed its colour which misled Sugrīva into thinking that Vālin had been killed. In order to block the exit of the demon he covered the entrance to the cave with huge boulders. Now, Vālin wanting to come out of the cave found his way blocked by boulders. He picked up the severed head of the he-buffalo, the demon Thorapee, and hurled it at the boulders which broke them to pieces scattering them all around. Some of them turned into a rock-landing, called Ta Hin, at the Lopburi river. Some turned into a rocky river called Huay Hin and some fell near a village which got the name Ban Hin Hak thereby meaning the 'the Broken Rock Village'. The cave which was the scene of the fight between Vālin and Thorapee exists still and is called Khao Tab Kwai, the mountain which fell on a buffalo. The surface of the cave, interestingly, is still red answering the popular imagination of Thorapee's blood having flowed in it and also possibly having got seeped deep into it to lend it red colour permanently. It is not only the ground which is red in the cave, the surrounding areas are also so. The residents of Chonburi claim that red colour is due to Thorapee's blood having flowed in the region.

Now, another folktale connected with the Rāmāyaṇa. With the battle of Laṅkā having been won, Rāma decided to reward some of the prominent ones among his allies. Sugrīva he made the ruler of Kiṣkindhā, Jambavan the ruler of Pātāla, Vibhīṣaṇa the king of Laṅkā and so on. When everybody had been taken care of, Hanumān approached Rāma and told him as to how come he had given no thought to him, him who had served him with utmost devotion all through. Rāma realized his mistake and told Hanumān that he would make proper amends for that. He told Hanumān that he would shoot an arrow, He, Hanuman should follow it. The place it would fall would be his and he would be its ruler. As it would have it, the arrow fell at Lopburi which was vetry uneven at that time. Hanumān first made it even with his tail. After that he approached Viśvakarman, the divine architecht, to lay a city for him which he did. The city ready, people came to inhabit it and Hanumān began to rule over it.That is the reason the city of Lopburi is known by the nickname Nophburi (Navapurī), the New City.

According to another version of the above episode after Rāma had rewarded all his allies, he made an offer to Hanumān to share his throne with him which he refused. Rāma then decided to build a new city for him. He shot his Phrommat, Brahmāstra, which razed the nine mountains covering the area then and burnt the earth white which is so even now and very fertile. The chalk-like substance, the white earth, is found in abundance in Lopburi. The people use it now as face powder in contra-distinction to their ancestors who used to mix it with water to anoint their bodies with it to keep them cool. The white earth is a staple item of export of Lopburi.

Now the very spot where the arrow fell turned into a green rock, green being the colour of Rāma. The arrow coming from Rāma could not have given it another colour. The people around have an implicit faith that the rock is the outcome of the fall of the arrow of Rāma and take it very sacred. They have been coming to it and taking with them its chips as holy relics. This had gone on for quite some time and the rock dwindled in size. To mark as it were the connection of Lopburi with Hanumān the local authorities have founded a colony of monkeys on a rock near the city centre.

Now the last of the folktales and the curtain would ring on the folktale section of the folklore.

There used to be a Yakṣa who was the last to have been killed by Rāma. As the story goes, Rāma shot an arrow at the Yakṣa, called Khokkanak, who was blown off by its impact to a place called Khao Wong Phra Chan in Lopburi. Rāma pronounced the curse on the arrow that it would remain dug up in the chest of Khokkanak. As soon as it would get loosened for some reason or the other, a magic cockerel would start crowing which would inform Hanumān of the happening who would then appear and dig it deeper with his magic hammer but in the process a spark would appear and would lead to the outbreak of fire in Lōpburi.

Khokkanak had a daughter named Phra Chandra. She had learnt from somewhere that it is vinegar which can loosen the grip of the arrow. To rescue her father she wanted to apply it on his chest. She disguised herself as a beautiful lady and went to the market to buy it. The shop-keepers saw through her game and would not part with it. Interestingly, till 1943 the sale of vinegar was prohibited in Lopburi. People strongly believed that Hanuman's hammer used to tighten the grip of the arrow would cause fire in Lopburi.

Before the discussion on the Rama story in Thai folklore is brought to a close, it would be pertinent to draw attention to some of the proverbs in Thai which carry unmistakably an impact of it. Thus

24.1.2000.

His Excellency Shri Himachal Som,
Director General, ICCR.,
Azad Bhavan, Indraprastha Estate,
New Delhi-110 002.

Your Excellency,

Let me first of all wish you a happy New Millennium, a New Century and a New Year.

I returned to Delhi on January 12, 2000, late night, from a visit to Myanmar, Malaysia and Thailand undertaken for collecting material for "The Rama Story in Southeast Asia.

I left Delhi on December 15, 1999 and reached Yangon in the forenoon of the following day, December 16, 1999. The same day I saw the Ambassador of India and in consultation with him a programme was drawn up for a meeting with scholars and intellectuals of Myanmar interested in the Ramayana. The meeting was arranged on December 20, 1999 in the Ministry of Culture of Myanmar where such celebrities as Mr. U Aung Thwin, Advisor, University of Culture and Director (Retired), Fine Arts Department, Prof. Dr. Khin Muang Nyunt, Director General (Retired), Department of Archaeology, Mr. Ram 4 Soe Aung, Advisor, University of Culture, Prof. U Hla Tin, Consultant on Literature and Cultural Arts were present. The meeting was presided over by the Deputy Minister of Culture, Govt. of Myanmar. In it all the above scholars made their presentations on the Myanmar Ramayana which were very illuminating. The Embassy of India was represented at it by Mrs. Mukta Tomar, the Counsellor. The interaction with the scholars yielded a fund of useful information.

On December 17, 1999 I met a German couple Mrs. and Mr. Axel Burn who are engaged in research on Myanmar antiquities. Mr. Axel who has been in Myanmar for the last three years is working on a Ph.D. thesis for the University of Hamburg on Myanmar puppet tradi-

tion which has the Ramayana as its important component. The same day I went to the Yangoon University which , though closed, --- all Universities in Myanmar are now closed--had its Library open. I went round the book shelves till late in the evening.

On December 18, 1999 I visited the Yongoon National Museum. I was told that it has a silver bown with the Ramayana carvings on it. In spite of all the search I could not locate it.

All institutions being closed on December 19, 1999 which was Sunday I went round some places of historical and cultural interest like the Schwadagon, the Golden Pagoda, the Kabaaye Pagoda and Cave, Mausoleum of Bahadur Shah Zafar, the Pagoda of the Reclining Buddha with 108 marks on the feet and so on.

On December 20 , 1999 Ihad the meeting with the Myanmar scholars and intellectuals which I have already described.

On December 21, 1999 I left by Air for Bagan where I visited the same day the Museum and the Department of Archaeology. The following day I left by road for Mandalay, a journey of some 12 hours where I saw en route the Pakhan Gyi wood carvings of the Ramayana in horizontal panels. I photographed all of them. Proceeding on from there I stopped at the Shwezigon Pagoda which in its shrine of Bodow Indra has Ramayana wood carvings in arch shape. I photographed them too. I reached Mandalay in the evening around 5. Shortly thereafter I saw one Dr. Tin Maung Kyi who I was told has deep interest in the Ramayana. With him I drew up a plan to visit the village Tha khut ta ne which has a Pagoda ~~which~~ with 347 bas reliefs a large majority of them dealing with the Ramayana, though in popular perception they all are Ramayanic, a perception needing closer scrutiny. The bas reliefs are the most important and extensive find from the point of view of the Ramayana in the whole of Myanmar. The village where the Pagoda with the said reliefs is located is extremely difficult of approach with bumpy kutcha road leading to it amidst sprawling fields and farms. The only vehicle that can ply on the road is a jeep which I had to hire at exhorbitant cost at Monywa town 34 miles away. The jeep crawled

(3)

almost at a snail's pace with strong jerks and jolts. Having left Mandalay --Dr. Tin Maung Kyi and his friend, a retired military official had accompanied me during the trip, it was not possible to go there otherwise---at 8 in the morning I reached the village around 2 in the afternoon. I stayed there till 6.00 P.M., took snaps in slides of the bas reliefs and left back for Mandalay reaching there well past midnight. Apart from the bas reliefs the Pagoda in question has in a separate enclosure, at some distance from the enclosure where the bas reliefs are kept, wood carvings which on close scrutiny seem to be dealing with the Rama story. There has been such a lot of wear and tear of them; the heads and the limbs of the figures have either fallen off or got mutilated or disfigured that it is rather difficult to make out anything of them. This in spite of the fact that sheds for both the enclosures were provided by the Department of Archaeology in 1972. The cover at the top has not helped in stemming the damage. The enclosures open from all sides are an invitation to the elements. The only difference in the enclosures is that the wood being more vulnerable has suffered far greater loss than stone. Again, the neglect of the enclosure with wood carvings was more palpable. The droppings of the birds had made it the filthiest of the places I have ever seen. Comparatively the bas reliefs enclosure is better. Some of the reliefs are still in good shape and could be of use in the delineation of the Myanmar Rama story.

On December 24, 1999 I saw in the forenoon the best of the Myanmar scholars Maung Maung Tin and spent some two hours with him. About the noon I visited the Mandalay Royal Palace where in the Cultural Museum I spotted an image, an excellent piece of art, which simply thrilled me. The image depicts Rama in reclining posture being carried by Hanuman in his both hands. This immediately reminded me of the episode of Maiyarab, also found in the Thai Ramakien, the demon ruler of the nether region (Patala) who had abducted Rama by sprinkling magic powder on him and his guards which had put them to sound sleep. It was Hanuman who had entered into his region through various devices

killed Maiyarab in an encounter and brought back sleeping Rama back to his camp on his shoulders. I have requested the Director General of Archaeology of the Govt. of Myanmar for a photograph, a slide, of it which he has promised to send.

The same evening I left Mandalay back for Yangon to join the dinner at the residence of Mrs. Mukta Tomar, the Counsellor, Embassy of India where I had the opportunity of meeting such celebrities as Mr. Nyunt Han, Director General of Archaeology, Myanmar, Mr. Tin Soe, Rector, University of Culture, Yangon and U Kyaw Win, Deputy Director General of Archaeology, Myanmar in addition to those I had met in the Ministry of Culture on December 20, 1999.

The next day, December 25, 1999 I left for Kuala Lumpur in early hours reaching there in the afternoon. On December 26, 1999 I saw the officials of the Indian High Commission. During the following days I visited the National Museum, the National Library, the Batu Caves the Rama Temple and the Universities in Kuala Lumpur. On December 30, 1999 I delivered a lecture, presided over by the Dean of the Faculty, in the Department of Indian Studies, University of Malay which was followed by an in-depth discussion on the Ramayana tradition in Malaysia in literature and performing arts. I devoted a full day in the Library of the said University to look for English translation/s of the Hikayat Seri Ram, the Malaysian Ramayana and studies on it which yielded good dividends. In addition to the present staff of the Department of Indian Studies I met two of its retired teachers Prof. S. Singaravelu and Prof. Rajakrishnan Ramasamy and had useful discussion on the Malaysian Ramayana tradition with them. The former advised me to consult some useful articles in the Bulletin of the School of Oriental and African Studies, London, the Journal of the Siam Society, Bangkok and the Journal of the Malaysian Branch of the Royal Asiatic Society, Kuala Lumpur.

Since the journals with their back issues, except those

(5)

of the last one were not available at Kuala Lumpur I could not consult them there.

On January 3, 2000 I left for Bangkok on completion of my visit to Kuala Lumpur on January 2, 2000. I managed to visit the Library of the Siam Society there, continuously for four days. The Library has a complete set of the volumes of the Bulletin of the School of Oriental and African Studies, London and, of course, its own journal, the Journal of the Siam Society. Since the Library is for two days a week, Sundays and Mondays, I could not consult the back volumes of the Journal of the Malaysian Branch of the Royal Asiatic Society and the Journal of the Burma Research Society complete sets of which are available with it. The complete set of the Journal of the Burma Research Society comprises fifty nine volumes with a total of 136 issues and one thousand three hundred articles, a mine of information about everything concerning Burma. I look forward to going through this vast material in one of my subsequest visits to Bangkok

The recent visit to three countries, Myanmar, Malaysia and Thailand thus proved to me an eye opener in providing me with valuable source material for the Ramayana tradition which is still live in them. In Myanmar a competition is arranged by the State annually in September/October where troupes of the Ramayana performances from different parts of the country representing the different shades of the Ramayanic theme/s participate. In Malaysia in its provinces of Kalantan and Keddah there could still be found ageing Dalangs, the narrators, of the Rama story who have inherited the fine variations of it as current in their families. A week is too small a period to lap up in clean sweep the vast dimensions of the Rama story in each country. Nevertheless, it was worth it in providing the undersigned an overview of it by bringing him into direct contact with it.

Yours sincerely,
Satya Vrat Shastri
(Satya Vrat Shastri)

With regards,

इक्कीसवीं शती और संस्कृत

— सत्यव्रत शास्त्री

लगभग ढाई वर्ष पूर्व बीसवीं शताब्दी समाप्त हुई थी और उसके साथ ही नई सहस्राब्दी और ~~उसके साथ ही~~ नई शताब्दियों ने जन्म लिया था। अतीत के बारे में तो जानकारी है ही पर अनागत का पता नहीं। विश्व का भावी चित्र इसमें क्या होगा और उसमें संस्कृत का क्या स्थान होगा यह सम्प्रति कल्पना का ही विषय है। जो प्रवृत्तियां गत शताब्दी के अन्तिम चरण में उभरीं उन्हीं के आधार पर भविष्य का अनुमान लगाया जा सकता है। चूंकि अनुमान भी एक प्रमाण है और प्रमाणचतुष्टय के अन्तर्गत है इसलिये उसके आधार पर भविष्य की परिकल्पना को सर्वथा सन्देह की दृष्टि से ही नहीं देखा जा सकता।

(संस्कृत) ~~कहने आत~~ समाज को यह कितना ही बीजाक्षर क्यों न लगे, पर सच यह है कि संस्कृत के प्रति - सिवाय कुछेक गिने-चुने संस्कृत प्रचारकों के जो कि संस्कृत को लोकभाषा बनने का स्वप्न देखते हैं, जनता ~~संस्कृत~~ के प्रति उत्साह नहीं है। कुछ लोगों का यह चिन्तन है कि आज के बच्चों को अपने अतीत से परिचित कराने के लिये संस्कृत को किसी न किसी स्तर पर अनिवार्य करना चाहिये। यह चिन्तन उत्तम लगता है पर व्यावहारिक नहीं। बीसवीं शती में यह सम्भव रहा हो इक्कीसवीं शती शायद इसे स्वीकार न करे। आज किसी भी भाषा को अनिवार्य करने का वातावरण नहीं है। अनिवार्य करते ही विरोध का स्वर उभरने लगता है। आज की पीढ़ी धीरे-धीरे उन्मुक्तता की ओर अग्रसर हो रही है। भाषा के विषय में भी उसका यही चिन्तन है। इसमें किसी प्रकार का बन्धन उसके गले नहीं उतरता।

रोटी, कपड़ा और मकान मानव की मूलभूत आवश्यकताएं हैं। ये तो उसे चाहिये ही। इनके बिना जीवन यात्रा नहीं चल सकती। जहां से मनुष्य को इनकी उपलब्धि की आशा दिखती है वह वहीं की ओर उन्मुख हो लेता है। यही कारण है कि आज कम्प्यूटर इंजिनीयर बनने की लगी है। उसके बाद का स्थान है वाणिज्य शास्त्र और अर्थशास्त्र का और उससे भी बाद का विज्ञान का। कभी विज्ञान का बोलबाला था। भाषाओं का स्थान उन सबके पीछे का है। उनमें भी अंग्रेजी विदेशी होते भी बाज़ी मार लेती है। प्रतिभाशाली विद्यार्थी इन सबकी ओर खिंचे चले जाते हैं। इस सबके आलोक में संस्कृत को कैसे पनपना है यह हम सबके सोचने का विषय है।

जो समर्पित व्यक्ति हैं वे संस्कृत पढ़ेंगे ही। पर जन साधारण संस्कृत को कैसे पहुंचाना है यह समस्या बीसवीं शती की भी और इक्कीसवीं की भी होगी। बहुत वर्ष हुए मैं जर्मनी में था। वहां बर्लिनवों में लगभग एक सप्ताह तक था। एक दिन सन्ध्या के समय तत्कालीन संस्कृत विद्वान् प्रो० [illegible] के साथ समुद्र तट पर टहलते-टहलते भारत में संस्कृत के भविष्य पर चर्चा चल पड़ी।

उस समय उन्होंने जो विचार व्यक्त किये उन्होंने मुझे कहीं गहरे

तक स्पर्श किया था। उन्होंने कहा था कि संस्कृत के व्यापक प्रचार-प्रसार के लिये इसे एक अतिरिक्त विषय के रूप में पढ़ाना आवश्यक है। योरुप में, उन्होंने बताया, कि इस प्रकार की पद्धति है कि विश्वविद्यालय के अपने पाठ्यक्रम, कोर्स, के अतिरिक्त खाली समय में, अपराह्न में या रविवार के समय लोग कोई न कोई अपनी-अपनी रुचि के अनुसार अतिरिक्त विषय ले लेते हैं, कोई जापानी का कोर्स ले लेता है, कोई फोटोग्राफी की वर्कशाप अटैंड करता है, कोई विदेशी भाषा ही सीखने लग जाता है। इससे अच्छी तरह समय बीतने के साथ-साथ वह अपने में अतिरिक्त योग्यता क्वालिफिकेशन, भी अर्जित कर लेता है जो उसे मानसिक तोष या आत्मतुष्टि संतोष प्रदान करती है। भौतिक आवश्यकता की पूर्ति वह अपने मुख्य विषय से करता है। यह उसके अपने व्यक्तिगत जीवन का एक अंग होता है। इसी तरह की पद्धति यदि संस्कृत के विषय में भी अपनाई जाय तो अनेकानेक लोग इस ओर आकर्षित होंगे।

प्रो॰ [illegible] ने [illegible] नई दिल्ली के जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय के [illegible] प्रयोग [illegible] किये होंगे। [illegible] बी.ए. एवं एम.ए. के छात्रों को [illegible] अतिरिक्त [illegible]
[illegible] कोर्स, [illegible] कोर्स [illegible]
संस्कृत के भी, हिन्दी के भी, अन्य [illegible] भाषाओं [illegible]
इन [illegible] १८० छात्रों ने संस्कृत [illegible] लिया। [illegible]
[illegible] जिन्होंने [illegible] संस्कृत [illegible] विश्वविद्यालय [illegible]
[illegible] संस्कृत [illegible] संस्कृत भाषा
और [illegible] तैयार किया गया। [illegible] कोर्स के
लिये १३० [illegible] और [illegible]
बहुत उत्साह [illegible] रही। इससे [illegible] होता है कि युवा-वर्ग में
इस ओर आने की उत्सुकता एवं कुतूहल अभी है।

के द्वितीय कोर्स

प्रो॰ को॰ [illegible] के साथ कोई Tool Courses/

संस्कृत के प्रचार-प्रसार का एक और कारगर उपाय है इसे मातृभाषा से जोड़ना। भारत की प्रायः सभी ~~की सभी~~ भाषाओं में चाहे वे भारोपीय परिवार की हों, या द्रविड़ भाषा परिवार की संस्कृत की भरपूर शब्दावली है। अलग-अलग भाषाओं में — भारत के संविधान में अट्ठारह भाषाएं स्वीकृत हैं — इस संस्कृत शब्दावली के परिमाण में भेद हो सकता है। कहीं यह बहुत अधिक है, कहीं अपेक्षाकृत कम। कहा जाता है कि मलयालम में सत्तर प्रतिशत शब्द संस्कृत के हैं। तमिल में यह प्रतिशत तीस के लगभग बताया जाता है। भाषाओं के हिसाब से संस्कृत शब्दावली के स्वरूप में भी भेद है। भारोपीय परिवार की भाषाओं में संस्कृत तद्भव रूप में अधिक है और द्रविड़ परिवार की भाषाओं में तत्सम रूप में। भारोपीय परिवार की भाषाओं में भी बंगला, उड़िया आदि में (इसी परिवार की अन्य भाषाओं की अपेक्षा/) तत्सम शब्द अधिक हैं। प्रारम्भिक अवस्था में जब बच्चे को संस्कृत सिखानी हो तो प्रयास यह होना चाहिये कि उन्हीं शब्दों का निर्माण आदि लगा कर प्रयोग किया जाय जिससे बच्चा सुपरिचित है। तब उसे यह नहीं लगेगा कि संस्कृत कोई अलग ही कोई भाषा है जो उसके लिये नई है, इससे संस्कृत एक क्लिष्ट भाषा है इस सर्वविदित भ्रान्ति का भी निराकरण हो जायगा। मेरे पूज्य पितृचरण कहा करते थे

कि गाय जंगल में घास खाती है यदि इस बात को संस्कृत में कहना हो तो
क्यों न इस रूप में कहा जाय – गौः जङ्गले घासं खादति। गौः = गाय,
जङ्गले = जङ्गल में, घासम् = घास को, खादति = खाती है। इसमें किसी को क्या
आपत्ति हो सकती है। निश्चय संस्कृत है। कोई भी वैयाकरण इसमें दोष नहीं
निकाल सकता। घास चरती है तो कहना [कहना हो तो] उचित होगा। घासं चरति।
'चर गतिभक्षणयोः' चर धातु भक्षणार्थक है। घासमुपभुङ्क्ते यह क्यों कहा
जाय। यह उस स्थिति की बात है जब विद्यार्थी संस्कृत सीखना शुरू ही
करता है। बाद में आप उसे जो सिखाना चाहें सिखायें। नये संस्कृत सीखने वालों
लिये मैं पानी पीता हूं के लिये संस्कृत वाक्य होना चाहिये अहं जलं पिबामि
और इससे भी अच्छा-अहं पानीयं पिबामि। इसी तरह मैं दूध पीता हूं को
संस्कृत में कहना हो तो ~~[illegible]~~ कहा जा सकता है अहं दुग्धं
पिबामि। क्यों प्रारम्भ में ही पयः आदि शब्दों के प्रयोग से उसे उद्विग्न
कर दिया जाय। पानी और दूध के प्रसङ्ग में एक बात को विशेष ध्यान
देने योग्य है वह यह है कि विभिन्न भारतीय भाषाओं में इन के लिये
अलग-अलग संस्कृत शब्द ~~[illegible]~~ हैं। जहां उत्तरभारत में पानीय
का जल शब्द का प्रयोग है वहां दक्षिण भारत में नीर शब्द का–
नीरु। जहां उत्तरभारत में संस्कृत दुग्ध से उद्भूत दूध शब्द का चलन
है वहां उड़ीसा में संस्कृत के क्षीर शब्द से उद्भूत खीर शब्द का। तत्तत्
प्रदेश के विद्यार्थियों को संस्कृत सिखाने के प्रसङ्ग में वहां-वहां के
प्रचलित [संस्कृत या संस्कृतमूलक/] शब्दों का प्रयोग उचित होगा। यहां प्रासङ्गिक रूप से यह
कहना अनुचित न होगा कि इस सम्भावना से इन्कार नहीं किया जा सकता,
कि जो शब्द संस्कृत कोशों में पर्यायवाची के रूप में पठित हैं वे कभी
अलग-अलग प्रदेशों में प्रयुक्त रहे होंगे। व्याख्यान [देशान्तरों] के वार्तिक-पूर्व
प्रकरण-भेद से इस विषय में लगाया जा सकता है। अलग-अलग प्रदेशों के
इन संस्कृत शब्दों को बाद में कोशकारों ने एक साथ संगृहीत कर
दिया और पर्यायवाची रूप में उन्हें प्रस्तुत कर दिया।

भारत की प्रादेशिक भाषाओं में कितनी शब्दावली संस्कृतमूलक
है इसका वैज्ञानिक दृष्टि से [अलग-अलग भाषा के हिसाब से/] आकलन अभी नहीं हुआ है जो कि प्रादेशिक
भाषाओं में प्रयुक्त संस्कृतमूलक शब्दों के प्रयोग के माध्यम से
संस्कृत शिक्षण के सुझाव के कार्यान्वयन में बहुत सहायक होगा।
इस दिशा में केवल एकमात्र प्रयास किया गया है। 1975 में आचार्य
काका कालेलकर की सत्प्रेरणा के फलस्वरूप मेरी सहयोगिनी मिरान्डा
हाउस दिल्ली की संस्कृत अध्यापिका डा० रत्नमयी देवी दीक्षित ने
संस्कृत केन्द्रित भाषा समन्वय कोश के नाम से इस कार्य को अपने
हाथ में लिया था। उसके कुछ अंश उस समय प्रकाशित होने वाली
दिल्ली विश्वविद्यालय संस्कृत विभाग की पत्रिका इण्डोलोजिकल
स्टडीज़ में प्रकाशित हुए थे। श्रीमती दीक्षित के स्वर्गवास से यह
कार्य अवरुद्ध हो गया। आवश्यकता है एक बृहद् योजना के रूप में इस कार्य
को आगे बढ़ाने की। इसके लिये नानाभाषाभाषी संस्कृत विद्वानों का
सहयोग अपेक्षित होगा। निश्चित ही यह राष्ट्रिय स्तर की महती योजना
होगी और इसका महत्त्व पूना में चल रहे ऐतिहासिक सिद्धान्तों
के आधार पर [विश्वस्तरीय/] संस्कृत शब्दकोश Encyclopaedic Dictionary
[illegible] से किसी भी
तरह कम नहीं होगा।

संस्कृत के प्रचार-प्रसार के लिये इसके सरलीकरण की चर्चा बहुत समय से चलती चली आ रही है और इस दिशा में अनेक प्रयोग भी किये जाते रहे हैं जिन में शामिल हैं विधि का परिहार, संवाद शैली, conversational method श्रवण और दर्शन करके शिक्षण, audio-visual learning आदि। अनेक प्रकार के Primers तथा Readers एवं डा० धर्मेन्द्र नाथ शास्त्री का Sanskrit in 30 lectures व संस्कृत का आत्मशिक्षक आदि इसी दिशा में स्तुत्य प्रयास हैं। पाश्चात्य देशों में Perry's Sanskrit Grammar से लोग संस्कृत सीखते हैं। ईश्वरचन्द्र विद्यासागर के काल से प्रारम्भ हुई संस्कृत भाषा और व्याकरण के सरलीकरण की प्रक्रिया, रामकृष्ण गोपाल भण्डारकर, वामन शिवराम आप्टे, एम. आर. काले, श्रीपाद दामोदर सातवलेकर आदि महारथियों के सत्प्रयत्नों से पल्लवित होती हुई इक्कीसवीं शती में और भी अधिक प्रयोगोन्मुखता की ओर यदि अग्रसर होती है तो यह संस्कृत के जिज्ञासुओं के लिये और अधिक उपकारक होगी।

(उन्नीसवीं और) १९ शताब्दी में छोटे-छोटे बच्चों को संस्कृत सिखाने के अनेक सफल प्रयोग किये गये। इस सन्दर्भ में अनेक विद्वानों के नाम स्मृतिपटल पर उभर कर आ रहे हैं जिन्होंने यह सराहनीय कार्य किया। इनमें विशेष उल्लेखनीय हैं वाई. एम. वानल, कपिलदेव शर्मा, अनन्त शास्त्री फड़के, राहुल सांकृत्यायन, एल. एम. वकदेव, मालती चन्द्रहास और अनेक गुमनाम व्यक्ति। वकदेव ने मुंबई के चर्नी रोड पर गीर्वाण बाल मन्दिरम् नाम से एक बाल विद्यालय की स्थापना की है जिसमें Lower और upper Kindergarten के बच्चे और बच्चियों को विशेष पद्धति से संस्कृत सिखाई जाती है जो उन की स्वयं की उपज है। एकमेव पाण्डिचेरी के अन्तर्राष्ट्रीय शिक्षा केन्द्र ने स्कूली शिक्षा प्राप्त करने के पूर्व के बच्चों Pre-school students को (संस्कृत सिखाने) की नई पद्धति का आविष्कार किया है। इसके साथ ही उसने (१-२) कार्ड भी संस्कृत में तैयार किये हैं जिसकी संस्कृत में बहुत कमी है। अनेक संस्थाएँ जिनमें विशेष उल्लेखनीय हैं संस्कृतभारती, लोकभाषा प्रचार समिति, पुरी तथा शारदा सदन ..., जो संस्कृत के सम्भाषण शिविर भी चला रही हैं। न केवल संस्थाएं ही अपितु अनेक विद्वान् भी मात्र अपने पुरुषार्थ के बल पर सम्भाषण शिविर आयोजित करते आ रहे हैं। जयपुर के ही डा० सुभाष वेदालङ्कार ने इस प्रकार के अनेक शिविर का आयोजन कर संस्कृत का प्रचार-प्रसार किया है। लोकप्रिय ~~गीतों की~~ धुनों पर उन्होंने स्वरचित गीतों के कैसेट भी बनाये हैं। इस प्रकार गीतरचना बड़ौदा के डा० अरुणोदय नटवरलाल जानी ने भी की है। उनके वासुदेव जानी उनके इस कार्य को आगे बढ़ा रहे हैं। सारे भारत में संस्कृत प्रचार कार्य चल रहा है।

(*) पण्डित वासुदेव द्विवेदी ने अपना सारा जीवन इस कार्य में लगा दिया था।

संस्कृत शिक्षण के पश्चात् संस्कृत लेखन पर दृष्टिपात करना भी आवश्यक है। इक्कीसवीं शती का संस्कृत लेखन कैसा होगा। बीसवीं शती के संस्कृत लेखन में जो समस्याएं उपस्थापित कीं उनका समाधान भी इस इक्कीसवीं शती को ही ढूंढना है। गत दो शताब्दियों के संस्कृत लेखन में — इन दो शताब्दियों का लेखन ही अर्वाचीन अथवा आधुनिक लेखन के नाम से जाना जाता है — तीन प्रकार की प्रवृत्तियां देखने में आती हैं। एक तो वह जिसमें कालिदास, भारवि, भवभूति, बाण, दण्डी, सुबन्धु आदि की शैली का अनुकरण किया जाता है जिसके अनुसार यदि पद्यरचना है तो

यदि आधुनिक संस्कृत साहित्य नये रूप में लिखा जाता है कि उस का कथ्य, उपनिषद्, भी प्राचीन है - रामायण, महाभारत, पुराण आदि के आख्यानों का ही उसमें वर्णन है, भाषा भी प्राचीन है, शैली भी प्राचीन है तो वह आधुनिक इस रूप में ही कहा जायगा कि उसका प्रणयन आधुनिक लेखकों ने किया है। इस तरह का वाङ्मय तो किसी भी युग में लिखा जा सकता है, प्राचीन युग में भी, मध्ययुग में भी, आधुनिक युग में भी। आधुनिक कहलाने के लिये तो वाङ्मय को इस तरह का होना चाहिये कि उसमें आधुनिक युग-बोध हो, वह आधुनिक जीवन और चिन्तन का प्रतिनिधित्व करता हो आधुनिक समस्याओं और विषमताओं का प्रतिबिम्ब उसमें हो। यदि यह होता है तो इसके लिये आवश्यक है कि आधुनिक जीवन पद्धति से सम्बद्ध विषयों के समावेश एवं उपयुक्त शब्दावली उसे उपलब्ध हो। चूंकि यह शब्दावली (संस्कृत में) उपलब्ध नहीं है और न हो ही भी नहीं सकती थी। ~~विदेशी आ गई है इसलिये उपयुक्त शब्दावली का निर्माण~~ अतः संस्कृत लेखक के लिये उस शब्दावली को हासिल करने के दो रास्ते हो सकते थे, एक कि वह जिस भाषा में वह उपलब्ध हो, यदि अंग्रेज़ी में वह उपलब्ध हो तो अंग्रेज़ी से, यदि उर्दू-फारसी या लोकभाषा में उपलब्ध हो तो उर्दू-फारसी या लोकभाषा से उसे ज्यों के त्यों अपना ले और संस्कृत विभक्तियों के साथ उसका प्रयोग करे जैसे चायं पिबति, रिवाल्वरं धारयति या उनके स्थान पर नये शब्दों का निर्माण करे, नये शब्दों को गढ़े और उनका प्रयोग करे। अर्वाचीन संस्कृत रचनाकारों ने यही किया। इसमें उन्होंने दो प्रकार की प्रवृत्ति [illegible] गई। एक, इस प्रकार के शब्दों का निर्माण उन्होंने किया जो कि मूल भाषा के शब्द का संस्कृत रूप में प्रतिबिम्बन था और दूसरी जिसमें अर्थ का भी और स्वरूप का भी। अंग्रेज़ी के पेट्रोल, petrol के लिये दो विभिन्न लेखकों ने दो अलग-अलग प्रकार के शब्दों का प्रयोग किया है, एक ने पूतैल शब्द का और दूसरे ने प्रतैल शब्द का। देशी भाषा के शब्दों के संस्कृतीकरण के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है ~~शब्द~~ चप्पल के लिये संस्कृत शब्द चपलोपानह् है - चपलोपानह् धारयित्वा। जैसे पेट्रोल के विषय में कहा गया है कि अलग-अलग संस्कृत लेखकों ने इसके लिये अलग-अलग शब्दों का निर्माण किया इसी प्रकार की स्थिति अन्य अनेक शब्दों की है। चाय जिसकी चर्चा पहले की जा चुकी है के लिये (चाय और कहवा के अतिरिक्त) निम्नलिखित शब्दों का प्रचलित संस्कृत वाङ्मय में प्रयोग उपलब्ध है - कषायपान, कषायपेय, और चायपान। इसी प्रकार रेलवे ट्रेन के लिये प्रयुक्त शब्द हैं वाष्पानस्, वह्निवाहन, अग्निरथ, गन्त्री, लोहशकट, धूमशकट, धनञ्जय इसी बात के दो के स्त्रीलिङ्ग रूप लोहशकटी, धूमशकटी। मेल ट्रेन के लिये प्रत्यग्निरथ शब्द प्रयुक्त है। नेकटाई के लिये एक स्थान पर कण्ठबन्ध प्रयुक्त है और दूसरे स्थान पर ग्रीवाबन्धन।

यह सब बीसवीं शती की बात है। इक्कीसवीं शती की यह आवश्यकता है कि - सर्वप्रथम इन नवनिर्मित शब्दों को अर्वाचीन संस्कृत वाङ्मय से संकलित कर उनका एक कोष बनाया जाय और दूसरा उनका मानक रूप निर्धारित किया जाय। एक बृहद् योजना के रूप में इन दोनों कार्यों को हाथ में लिया जा सकता है। कोष निर्माण का Dictionary Compile करने का काम विद्वानों की एक टीम करे - टीम की

[illegible] प्रतिलिपियाँ हाथ से ही बनाई जाती थीं। चित्र प्रतिलिपि, फोटो कापी का तब चलन नहीं था और जैसा कि स्वाभाविक है हाथ से प्रतिलिपि बनाने में मानुष प्रमाद हो ही जाता है। इस प्रकार मेरा विपुल पत्र वाङ्मय लुप्त हो गया। उसका प्रथम भाग जो बीसवीं शताब्दी पत्र काव्यम् के रूप में प्रकाशित हो ~~चुका है~~ सका। इस अंश भर में भी 2222 पद्य हैं। इसके प्रकाशन से अब तक पद्यमय संस्कृत पत्र मैंने और लिखे हैं जिन्हें पूर्वप्रकाशित पत्रकाव्यम् के ही द्वितीय भाग, Companion volume, के रूप में प्रकाशित करवाने की व्यवस्था की जा रही है। इसमें भी दो हजार पद्य होंगे। मेरे पितृचरण पण्डित चारुदेव शास्त्री प्रायः संस्कृत में ही पत्र लिखा करते थे। काश! उनकी प्रतिलिपि रखी गई होती आज वे संस्कृत साहित्य की अमूल्य निधि होते। पण्डिता क्षमा राव की सुपुत्री पण्डिता लीला राव दयाल से मिलने मैं एक बार मुंबई गया था। उन्होंने मुझे एक एलबम दिखाया था जिसमें उन्होंने अपनी माता श्रीमती क्षमाराव को और उन्हें स्वयं को अनेक संस्कृत विद्वानों द्वारा लिखे गये पत्रों का संग्रह था। मैंने श्रीमती लीला राव दयाल को ~~उन्हें~~ इन सभी पत्रों को ग्रन्थाकार रूप में प्रकाशित करने का सुझाव दिया था जिसे उन्होंने बहुत पसन्द किया था। पर विधि का विधान! यह सुझाव कार्यान्वित नहीं हो पाया और संस्कृत जगत् एक महत्त्वपूर्ण कृति से वञ्चित रह गया। आज श्रीमती लीला राव दयाल इस संसार में नहीं हैं। उन पत्रों का क्या हुआ कोई जानता नहीं। अगर उन पत्रों की एल्बम कहीं होगी भी तो उसे प्राप्त करना आसान नहीं होगा। मैंने उस एलबम में से कुछ पत्रों को पढ़ा था। अपने युग के मूर्धन्य मनीषियों ने वे पत्र भेजे थे। उनमें से कुछ में तो अद्भुत साहित्यिक पुट था और उनकी भाषा की प्राञ्जलता और प्रवाहमयता देखते ही बनती थी।

(भारती। [1] उन पत्रों में मेरे पितृचरण का श्रीमती क्षमाराव को लिखा एक पत्र भी था जिसकी प्रतिलिपि उन्होंने बनवा दी थी जो आज मेरी एक अमूल्य निधि है।)

अंग्रेज़ी आदि भाषाओं में पत्र साहित्य का भाण्डार है। इक्कीसवीं शती में संस्कृत साहित्य के इस क्षेत्र में भी समृद्धि अपेक्षित है।

पत्र साहित्य दो-तीन या तीन-चार पत्र संग्रहों के रूप में ही मिल तो जाता है पर अंग्रेज़ी साहित्य या अरबी फारसी साहित्य की तरह इसमें ~~सर्वथा अभाव~~ अत्यन्ताभाव है। अंग्रेज़ी आदि पर उपलब्ध है — Emerson's Journal आदि। पाश्चात्य जगत् के मूर्धन्य मनीषियों ने इसमें भरपूर योगदान दिया है। इक्कीसवीं शती के संस्कृत साहित्यकार इस दिशा में अग्रसर होंगे यह आशा है।

(अर्वाचीन संस्कृत वाङ्मय में)

(जिसमें कथा रहस्य दस पंक्तियों में होती जाती है) अतिलघुकथा, Mini story का चलन भी संस्कृत वाङ्मय में कहीं है। देवर्षि कलानाथ शास्त्री ने अपनी कथानकवल्ली की भूमिका में इसका संकेत किया है। अपराध-अन्वेषण कथा, Detective story के अभाव को भी उन्होंने इसमें इङ्गित किया है। इन दिशाओं में भी संस्कृत साहित्यकारों का योगदान अपेक्षित है।

फारसी में साहित्य की एक विधा है जिसे वहां मलफूज़ात कहा जाता है। इस विधा का वाङ्मय वहां अतीव प्रचुर है। वहां सूफ़ियों के शिष्यजन अपने गुरुजनों की दैनन्दिनी डायरी लिखते हैं, गुरुओं ने दिनभर में क्या किया, कौन उनसे मिलने आया, क्या चर्चा उन्होंने उनसे की आदि-आदि। इस प्रकार की सैकड़ों कृतियां शिष्यों द्वारा अपने गुरुजनों की दैनिक चर्या के बारे में लिखी गई वहां मिलती हैं। मैंने अपने पत्र काव्यम् के उपसंहार में संस्कृत में विरल उपलब्ध विधाओं के उल्लेख ~~के प्रसङ्ग~~ एवम् उसके पश्चात् से संस्कृत वाङ्मय के समृद्ध करने के प्रसङ्ग में फारसी की इस मलफूज़ात विधा की विशेष रूप से चर्चा की है जो इस प्रकार है —

ऽत्यन्तमज्ञो घटते गुरोर्यद्
यज्जीवने ऽध्ययनतोऽपि तन्नात् ।
तदीयशिष्याः क्रमशः स्ववाचा
पारस्यदेश्या उपवर्णयन्ति ॥

यद्यच्च तेषां गुरवो भणन्ति
यद्यच्च तेऽन्यैः सह चर्चयन्ति ।
हितोद्दिया बोधदिशान्ति यद्यत्
लिखन्ति शिष्याः स्वगिरा हि तत्तत् ॥

पारस्यदेशे सुतरां प्रसिद्धः
प्रवर्तते ऽद्यापि शुभः क्रमोऽयम् ।
प्राक्कालिकानामपि येन बोधः
सञ्जायते नैकसुधाग्रणीनाम् ॥

एतद्विधा पद्धतिरस्मदीये
न संस्कृते वाङ्मय इत्यतो नः ।
न नामबोधोऽपि पुरातनानां
सहस्रशः संस्कृतपण्डितानाम् ॥

शिष्यैः रचितमेतादृशं गुरुसम्बन्धि वाङ्मयम् ।
पारस्यां कीर्त्यते वाचि मल्फूज़ातेति संज्ञया ॥
तत्रत्यं विपुलं चापि पत्रवाङ्मयमद्भुतम् ।
बुधैर्मक्तूबनिगारीति संज्ञया तत्र कीर्त्यते ॥
संस्कृतेऽपि भवेदेतद्यदि तर्हि समेधितम् ।
भवेद्वाङ्मयं भूयो नास्त्यत्र मम संशयः ॥

संस्कृत वाङ्मय को जो ऐश्वर्यसम्पन्न है वह भी समृद्ध हो यह समय की माँग है।

अन्त में एक बात और। मेरे जीवन के अनेक वर्ष दक्षिणपूर्व एशिया में बीते हैं जिसे मैंने बहुत निकट से देखा है। मैंने पाया है कि वहाँ की भाषाओं में संस्कृत के शब्द प्रचुर हैं और यह तब जबकि उनका संस्कृत के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। वे संस्कृत मूल की नहीं हैं। शताब्दियों से वाणिज्य-व्यवसाय एवं धर्मप्रचार के लिये वहाँ जाने आने वाले भारतीयों के माध्यम से वे वहाँ अपना लिये गये हैं। किन्तु विदेशी भाषाओं की पारिभाषिक शब्दों ~~को~~ को अपनी भाषा में रूपान्तरित करने के प्रयास में वहाँ के निवासियों ने संस्कृत शब्दों से पूर्वपरिचित होने के कारण उनका संस्कृत रूपान्तरण कर उन्हें भी अपनी भाषा में समाविष्ट कर लिया। दक्षिणपूर्व एशिया के देशों की संस्कृतमूलक शब्दावली की पहिचान और उसका संकलन अपने में अत्यन्त रोचक एवं मनोहर कार्य है। मुंबई के सोमैया विद्याविहार ने एक बृहद् योजना के रूप में इसे अपने हाथ में लिया है और उसके संयोजन का कार्य ~~इस अकिञ्चन~~ मुझे। को ही सौंपा है। मैं जब उन शब्दों को देखता हूँ तो चमत्कृत हो जाता हूँ। अभी दक्षिणपूर्व एशिया शब्द का
मैंने प्रयोग किया। [illegible] हो तो वह कहेगा

कालिदास की कृतियों में वैदिक यज्ञ

-- सत्यव्रत शास्त्री

कालिदास की कृतियां यज्ञानुष्ठानों एवं यज्ञ सम्बन्धी वस्तुकलाप के संकेतों से परिपूर्ण हैं। आश्रमों एवं तपोवनों में सहज स्वाभाविक रूपेण यज्ञकर्मानुष्ठानरत तपस्वियों के कालिदासकृत वर्णन के परिप्रेक्ष्य में ये संकेत अस्वाभाविक भी नहीं। कालिदास की रचनाओं में एक ओर जहां यह मुनिजन्योचित सामान्य दिनचर्या है वहां दूसरी ओर तत्कालीन राजाओं द्वारा किए जाने वाले उन महान् एवं दीर्घ-काल तक चलने वाले सत्रों का भी पर्याप्त वर्णन है जिनमें वे उस समय के महत्त्वपूर्ण ऋषियों एवं मुनियों को भी आमन्त्रित करते थे। ये यज्ञ प्रायः या तो अपनी किसी इच्छा की, यथा पुत्रप्राप्ति की, पूर्ति के लिये अथवा अपने समसामयिक अन्य राजाओं पर अपनी प्रभुता एवं श्रेष्ठता की उद्घोषणा करने के लिए अनुष्ठित किए जाते थे।

कालिदास कृत यज्ञों के सूक्ष्म संकेतों से यह प्रतीत होता है कि कवि का गगन को आच्छादित करते हुए यज्ञाग्निधूमों से एवं वैदिक मन्त्रों के सस्वर पाठ से प्रत्यक्ष एवं घनिष्ठ परिचय था। यज्ञ के महत्त्व एवं वैदिक संस्कृति के प्रति कवि का आदर इससे भी द्योतित होता है कि उनकी रचनाओं की विषयवस्तु का अधिकांश भाग आश्रमों एवं तपोवनों में पनपा है जहां ऋषियों और मुनियों का निवास था। और जहां ऋषि एवं तपस्वी होंगे वहां यज्ञानुष्ठान तो होंगे ही।

कालिदास के नाटकों में सर्वाधिक लोकप्रिय एवं प्रसिद्ध नाटक अभिज्ञानशाकुन्तल की कथा का एक महत्त्वपूर्ण अंश कण्व अथवा मारीच के आश्रम में विकसित हुआ है। हस्तिनापुर का राजा दुष्यन्त शिकार खेलते हुए आश्रम में आ पहुंचता है। यह सूचना मिलने पर आश्रमवासी ऋषि कुमारों को उसके पास भेजते हैं एवं कुलपति कण्व

- - - - - - - -

टिप्पणी -- लेख में दिए गए उद्धरण एवं संकेत -- कालिदास ग्रन्थावली : सम्पादक - रेवाप्रसाद द्विवेदी, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी, १९७४ में से संकलित हैं।

के आश्रम में उपस्थित न होने से राक्षसगण द्वारा बाधित (विघ्नायित) उनके यज्ञों की रक्षा के लिए कुछ दिन रुकने को प्रार्थना करते हैं :-

'तत्र भवत: कुलपतेरसान्निध्याद् रक्षांसि न
इष्टि विघ्नमुत्पादयन्ति ।'[1]

राजा उनकी प्रार्थना स्वीकार कर लेता है एवं उसके संरक्षण में यज्ञकर्म निर्बाध रूप से सम्पन्न हो जाता है। तदनन्तर ही आश्रमवासी उसे राजधानी लौटने की अनुमति प्रदान करते हैं :-

'अथ स राजर्षिरिष्टिं समाप्य ऋषिभिर्विसर्जित: ।'[2]

यज्ञकर्मानुष्ठान के लिए सर्वप्रथम वेदि का निर्माण कर उसके चारों ओर पवित्र कुशा (घास) बिछाई जाती थी तदनन्तर ऋत्विग्गण अग्नि का आधान कर उसमें हवि अर्पित करते थे । अभिज्ञानशाकुन्तल में एक यजमान शिष्य को ऋत्विजों तक पहुंचाने के लिए कुशा घास का आहरण करते दिखाया गया है --

'यावदिमान् वेदि संस्तरणार्थं दर्भान् ऋत्विग्भ्य उपनयामि ।'[3]

आश्रम में वापिस लौटने के उपरान्त कण्व शकुन्तला को पतिगृह भेजने का उपक्रम करते हैं । उसके प्रस्थान के समय वे उसे सद्योहुत यज्ञाग्नियों की प्रदक्षिणा का आदेश देते हैं एवं ऋक्छन्द (ऋग्वेदीय मन्त्रों के छन्द) में उसे आशीर्वाद देते हैं --

'इत: सद्योहुताग्नीन् प्रदक्षिणीकुरुष्व'
'ऋक्छन्दसा शास्ते'[4]

----

१. अभिज्ञानशाकुन्तल, अङ्क २, पृ० ४५६

२. वही, अङ्क ४, पृ० ४७६

३. वही, अङ्क ३, पृ० ४५६

४. वही, अङ्क ४, पृ० ४८६

अमी वेदिं परित: क्लृप्तधिष्ण्या: समिद्धन्त: प्रान्तसंस्तीर्णदर्भा: ।
अपघ्नन्तो दुरितं हव्यगन्धैर्वैतानास्त्वां वह्नय: पावयन्तु ॥[5]

(लाहै)

वेदि के चारों ओर निर्दिष्ट निश्चित स्थान की, समिधाओं से प्रज्वलित, प्रान्त भागों में दर्भास्तीर्ण आहुति की सुगन्धि से सब दुरितों (कष्टों दु:खों) का निवारण करती हुई ये यज्ञाग्नियां तुझे पवित्र करें ।

'वह्नि' शब्द में बहुवचन का प्रयोग यहां एकाधिक अग्नियों की उपस्थिति का सूचक है । सम्भवत: यह उन तीन यज्ञाग्नियों - गार्हपत्य, आहवनीय एवं दक्षिणाग्नि, की ओर संकेत करता है जिनकी अर्चना सामान्यत: अग्निहोत्रियों के द्वारा की जाती थी । इन्हीं तीनों का संकेत मनु[6] ने 'त्रेताग्नि' के द्वारा किया है ।

कालिदास ने भी लङ्का से अयोध्या लौटते हुए श्रीराम के विमान मार्ग को आच्छादित करते हुए यज्ञाग्नि धूमों के वर्णन में उन्हें त्रेताग्नि कहा है । —

त्रेताग्निधूमाग्रमनिन्द्यकीर्तेस्तस्येदमाक्रान्तविमानमार्गम् ।
घ्रात्वा हविर्गन्धि रजोविमुक्त: समश्नुते मे लघिमानमात्मा ॥[7]

पुन: श्रीराम के तीनों भाइयों का वर्णन करते हुए उनकी तेजस्विता की तुलना 'तीनों अग्नियों के समान कान्तियुक्त' कर की है --

-- इतरेऽपि रघोर्वंश्यास्त्रयस्त्रेताग्नितेजस: ।[8]

---

५. वही
६. मनु० २.२३१.
७. रघुवंश, १३.३७; पृ० २०५
८. वही (रघु०), १५.३५ पृ० २२२

इसी त्रेताग्नि की ओर एक अप्रत्यक्ष संकेत रघुवंश में मिलता है जहां रघु कौत्स से दो तीन दिन अपनी यज्ञशाला में निवास करते हुए प्रतीक्षा करने को कहता है --

'चतुर्थ अग्नि के समान अग्नि शाला में रहते हुए'
(प्रतीक्षा कीजिए)
वसंश्चतुर्थो ग्निरिवाग्न्यागारे[९]

कालिदास ने अपनी रचनाओं में अग्नियों को `चार` संख्या की ओर केवल एक बार ही संकेत किया है जहां वे चार अग्नियों के मध्य स्थित हो कर तपस्या करते हुए मुनि सुतीक्ष्ण का वर्णन करता है --

'हविर्भुजामेधवतां चतुर्णां मध्ये ---- असौ तपस्यति ।'[१०]

कण्व का यह कथन कि वेदि में अग्नियों का स्थान निश्चित है - वैदिक यज्ञ विधि के अनुरूप ही है । गार्हपत्य वेदि की पश्चिम दिशा की ओर मध्य में, दक्षिणाग्नि उसके दक्षिण पश्चिम में तथा आहवनीय इसके पूर्व कोण में आहित होती है ।

----

९. वही (रघु०), ५.२५ पृ० १३६

१०. वही, १३.४१, पृ० २०५

इस श्लोकपर नंदर्गिकर द्वारा उद्धृत, पण्डित की टिप्पणी इस प्रकार है -- 'यह सम्भवत: पञ्चाग्निसाधन की ओर संकेत है अपने चारों ओर, एक पुरत:, एक पश्चाद्, एक एक दाहिने एवं बाएं एवं ग्रीष्म का तपता हुआ सूर्य पांचवां अग्नि है - जिसमें स्थित हो शरीर का तापन पञ्चाग्नि साधन कहलाता है ।

कालिदासकृत रघुवंश, मोतीलाल बनारसीदास, १९८२, पृ० ८८१.
यद्यपि मनु ने मनुस्मृति २.२३१ में तीन - गार्हपत्य, दक्षिण एवं आहवनीय,

(क्रमश: ...)

प्राचीन काल में प्रत्येक अग्निहोत्री अपनी परिस्थिति के अनुसार घर में एक पृथक् कक्ष अथवा यज्ञशाला का निर्माण करता था जिसमें निरन्तर यज्ञाग्नियां प्रज्वलित रहती थीं । कालिदास तीन स्थलों पर इसका संकेत देते हैं --

प्रथमत: -- अग्निशाला में प्रविष्ट होते ही जब एक अशरीरी (अभौतिक) वाक् कण्व को शकुन्तला के गन्धर्व विवाह की सूचना देती है ।

'अग्निशरणं प्रविष्टस्य शरीरं विना छन्दोमय्या वाण्या ।'[११]

द्वितीयत: -- पञ्चम अङ्क में जब दुष्यन्त अग्निशाला में, शकुन्तला के पहुंचाने के लिये आये कण्व के शिष्यों एवं गौतमी का स्वागत करने के लिए, प्रतीहारी से अग्निशाला के मार्ग का निर्देश करने का आदेश देते हैं --

'वेत्रवति ! अग्निशरणमार्गमादेशय ।'[१२]

एवं पुन: रघुवंश में जब रघु कौत्स से तीन चार दिन 'अग्निशाला' में रहकर तब तक प्रतीक्षा करने के लिए कहते हैं जब तक कि वे उसके उद्देश्य की पूर्ति की व्यवस्था न कर लें --

----

अग्नियों की चर्चा की है किन्तु अन्यत्र ३.१००, १८५ में उसने पांच अग्नियों की ओर संकेत किया है । ये हारीत के अनुसार कही गई दो अन्य अग्नियों कुल्लूक ने 'पवन' एवं पावन' के रूप में उद्धृत की है एवं उनकी व्याख्या में उन्हें क्रमश: 'सभ्य एवं आवसथ्य' कहा है। सम्भवत: कालिदास भी त्रेताग्नि के साथ 'चतुर्थ अग्नि' के द्वारा इस सभ्य अथवा आवसथ्य (दोनों में से एक) की ओर संकेत कर रहे हैं ।

११. अभि० शा० - अङ्क ४, पृ० ४८२

१२. वही (अभि० शा०), अङ्क ५, पृ० ४९८

वर्संश्चतुर्थो ग्निरिवाग्न्यगारे ---द्वित्राण्यहान्यर्हसि सोढुम् ।[१३]

यहां अभिज्ञानशाकुन्तल में अग्निशाला के लिए `अग्निशरण` शब्द का प्रयोग है जबकि रघुवंश में `अग्न्यगार` का/दोनों का अर्थ समान है -- `पवित्र अग्नियों का घर` -- `अगार` का एक वैकल्पिक अर्थ `गृह` भी है। कालिदास ने मेघदूत में इसी अर्थ में इस शब्द का प्रयोग किया है --

तत्रागारं धनपतिगृहानुत्तरेणास्मदीयम् ।[१४]

परम्परा के अनुसार अग्नि में आहुत हवियाँ देवताओं को जाती हैं इसीलिए उन्हें `हविर्भुक्` भी कहा जाता है। अभिज्ञान शाकुन्तल के सप्तम अङ्क में जब पति द्वारा प्रत्याख्यात शकुन्तला ऋषि युगल मारीच एवं दाक्षायणी के आश्रम में शरण लेती है वहाँ कवि न केवल इस शब्द का प्रयोग उस ऋषियुगल के लिए करता है अपितु यज्ञ के भाग का ग्रहण करने वालों में उन्हें श्रेष्ठ कह कर उनका वर्णन करता है --

यज्ञभागेश्वरम् --- द्वन्द्वं ददामरीचिसम्भवम् ।[१५]

कुमारसम्भव में हिमालय पर्वत तक को भी इसी प्रकार वर्णित किया गया है --

यज्ञभागभुजां मध्ये पदमातस्थुषा त्वया ।[१६]

यद्यपि ऋषि अपनी आध्यात्मिक शक्ति अथवा तपोबल से, अपने यज्ञकार्यों

----

१३. रघु० ५.२५, पृ० १३६

१४. मेघदूत (मेघ०), पूर्वमेघ, श्लोक १२

१५. अभि० शा०, अङ्क ७, पृ० ५५६

१६. कुमार सम्भव, ६.७२, पृ० ८१

में राक्षसों द्वारा उपस्थापित विघ्नों का निराकरण करने में समर्थ थे तो भी प्राय: वे अपनी इस तप:शक्ति के अपव्यय के भय से ऐसा करते नहीं थे । रघुवंश में रघु ने कौत्स से इस विषय में स्पष्ट रूप से पूछा था कि क्या उनके गुरु वरतन्तु को अपनी संचित त्रिविध तप:शक्ति का प्रयोग विघ्नों के निराकरण में व्यय तो नहीं करना पड़ता ? :

आपाद्यते न व्ययमन्तरायै: कच्चिन्महर्षेस्त्रिविधं तपस्तत् ?

सामान्यत: रक्षा हेतु ऋषि अपने समकालीन राजा से ही सहायता की अपेक्षा करते थे एवं राजशक्ति से रक्षा के अभाव में ही वे विघ्न निराकरण के लिये अपने शापास्त्र का प्रयोग करते थे । -

त्राणाभावे हि शापास्त्रा: कुर्वन्ति तपसो व्ययम् ।[१७]

मुनिजनों द्वारा राजाओं अथवा राजपुत्रों से रक्षा हेतु सहायता की याचना का प्रसंग कालिदास की दो रचनाओं में देखने को मिलता है -- अभिज्ञान शाकुन्तल के प्रथम अंक में, जिसकी पहले चर्चा की जा चुकी है, और तृतीय अंक में जब दुष्यन्त को सूचित किया जाता है कि सवनकर्म के प्रवृत्त होने पर अनेक प्रकार से भय उत्पन्न करती हुई पिशिताशन राक्षसों की आकृतियां आतंकित करती घूम रही हैं । -

राजन्नतने सवन-कर्मणि सम्प्रवृत्ते छायाश्चरन्ति बहुधा,
भयमादधाना: सन्ध्यापयोदकपिशा: पिशिताशनानाम् ।[१८]

रघुवंश में भी दो स्थलों पर इस विषय की उपस्थापना की गई है --

----

१७. रघु० १५.३, पृ० २१६

१८. अभि० शा०, अङ्क ३, पृ० ४७५

१. पहली बार जब विश्वामित्र अपने यज्ञ की रक्षा हेतु, दशरथ से राम को अपने साथ ले जाने की अनुमति चाहते हैं।

कौशिकेन स किल क्षितीश्वरो राममध्वरविघातशान्तये ---याचित: ।[१९]

और राम के लक्ष्मण सहित उनके यज्ञ की कुशलतापूर्वक रक्षा में सन्नद्ध होने पर निश्चिन्त हो कर यज्ञ के लिये दीक्षित हो जाते हैं --

तत्र दीक्षितमृषिं ररक्षतु: ।[२०]

जिसके परिणामस्वरूप उनके मौन रहने पर भी ऋत्विज् उनकी व यज्ञ सम्बन्धी क्रियाओं को यथाक्रम सम्पन्न करते हैं --

ऋत्विज: कुलपतेर्यथाक्रमं वाग्यतस्य निरवर्तयन् क्रिया: ।[२१]

२. दूसरी बार, जब यमुना के पास निवास करने वाले ऋषि लवण के द्वारा त्रस्त हो, सहायता के लिए राम के पास आते हैं --

लवणेन विलुप्तेज्यास्तामिस्रेण तमभ्ययु: ।।
मुनयो यमुनाभाज: शरण्यं शरणार्थिन: ।।[२२]

यद्यपि उन मुनियों का स्वतपोजनित सामर्थ्य उनकी रक्षा के लिए पर्याप्त था तो भी उन्होंने सोचा कि राम के वहां होते हुए उन्हें लवण पर उसका अपव्यय करने की कोई आवश्यकता नहीं --

अवेक्ष्य रामं ते तस्मिन्न प्रजह्रु: स्वतेजसा ।[२३]

----

१९. रघु० ११.१ पृ० १८३.

२०. वही, ११.२४ पृ० १८५

२१. वही, ११.३० पृ० १८५

२२. वही, १५.२ पृ० २१९

२३. वही, १५.३ पृ० २१९

जैसा कि पहिले कहा गया है कि केवल क्षात्र रक्षक के अभाव में ही शापास्त्र मुनि जन अपने तपोबल का व्यय करते हैं --

त्राणाभावे हि शापास्त्राः कुर्वन्ति तपसो व्ययम् ।

रघु की वंशावली के गुणों का परिगणना करते हुए कालिदास (हमारे इस अध्ययन से सम्बद्ध) एक और विशिष्ट गुण की चर्चा करते हैं और वह है -- उनके द्वारा शास्त्रोक्त विधि से यज्ञाग्नि में आहुति का अर्पण --

-- यथाविधिहुताग्नीनाम्[२४]

जिस समय दिलीप अपनी अनपत्यता का कारण एवं उसके निराकरण का उपाय पूछने ऋषि वसिष्ठ के पास जाते हैं उस समय वे अपनी दशा का वर्णन इन शब्दों में करते हैं -- यद्यपि मैं 'इज्याविशुद्धात्मा' हूं (यद्यपि यज्ञों के निरन्तर अनुष्ठान से मेरा व्यक्तित्व विशुद्ध अर्थात् पापरहित है) फिर भी सन्तति के लोप (अभाव) के कारण मैं कुण्ठित हूं --

प्रजालोप निमीलितः ---- ।[२५]

यज्ञानुष्ठान का उद्देश्य मात्र आत्मविशुद्धि ही नहीं अपितु भौतिक समृद्धि की उपलब्धि भी है ।

दिलीप वसिष्ठ से कहते हैं -- आपके द्वारा विधिपूर्वक अग्नि में अर्पित हवि वृष्टि के रूप में परिवर्तित होकर अनावृष्टि से शोषित अनाज को हरा भरा कर देती है --

हविरावर्जितं होतस्त्वया विधिवदग्निषु ।
वृष्टिर्भवति सस्यानामवग्रहविशोषिणाम् ।।[२६]

----

२४. रघु० १.६. पृ० १०३

२५. वही १.६८ पृ० १०८

२६. वही १.६२ पृ० १०८

मन्त्रों के दृष्टा -- मन्त्रकृत्[27] एवं अथर्वज्ञान के भण्डार -- अथर्वनिधि:[28] के द्वारा उच्चारित मन्त्रों से शत्रु निरस्त हो जाते हैं एवं प्रजाएं समृद्धिशालिनी ।

यत: घृत यज्ञाग्नि में आहुति, हवि सामग्री में मुख्य था अत: उसकी प्राप्ति के साधन गौ का भी यज्ञ कार्य में अपना पृथक् महत्व था । उसे आहिताग्नि[29] होता[30] के लिए आहुतिसाधन (आज्य प्राप्ति का साधन) कहा गया है ।

कालिदास ने राजा अज के विषय में अग्निचित्[31] -- जिसने अग्नियों का चयन किया तथा दोमर्षणों के लिए यज्वा[32] (यज्वन्) यज्ञ करने वाला, -- विशेषणों के प्रयोग द्वारा यज्ञ-परता की सामान्य स्थिति की ओर इंगित करने के साथ साथ अनेक राजाओं द्वारा कतिपय विशिष्ट यज्ञानुष्ठानों की ओर भी संकेत किया है ।

दिलीप ने ९९ अश्वमेधों का अनुष्ठान किया था[33] तथा यद्यपि उसके पुत्र द्वारा रक्षित अश्व को, अपने पद नाम --'शतक्रतु' के छिनने से भयभीत इन्द्र द्वारा अपहृत कर लिए जाने के कारण वह १००वां अश्वमेध यज्ञ न कर सका तथापि उसे उस सौवें यज्ञ (सौवें) का पूर्ण फल प्राप्त हुआ ।[34]

रघु ने विश्वजित् यज्ञ किया जिसमें उसने अपने समस्त कोष का दान कर दिया ।[35]

----

२७. रघु० तं च मन्त्रकृतो मन्त्रैः, १.६१, पृ० १०८, १५ [illegible] मन्त्रकृतामृषीणाम्, ५.४, सखा दशरथस्यापि जनकस्य च मन्त्रकृत्, १५.३१, पृ० २२१. [पृ० १३४.४.

२८. वही [illegible] अथर्वनिधेस्तस्य, १.५९, पृ० १०८.

२९. रघु० १.८२, पृ० ११०

३०. वही, २.४४ पृ० ११५

३१. वही, ८.२५ पृ० १५९

३२. वही, १८.१२ पृ० १४५

३३. अपूर्णमेकेन शतक्रतूपम: शतंक्रतूनामपविघ्नमापस: । --वही, ३.३८ पृ० १२२

३४. अनसूदीक्षाप्रयत: स मद्गुरु: क्रतोरशेषेण फलेन युज्यताम् । --वही, ३.६५, पृ० १२४

३५. तमध्वरे विश्वजिति क्षितीशं नि:शेषविश्राणितकोषजातम् । --वही, ५, पृ० १३५

दशरथ ने पुत्र प्राप्ति के लिए पुत्रोष्टि यज्ञ का अनुष्ठान किया ।[३६]

राम ने अश्वमेध यज्ञ किया[३७] जिसमें सीता को वनवास देने के कारण उसकी स्वर्णप्रतिमा को अर्धाङ्गिनी के आसन पर अधिष्ठित किया ।[३८]

सीता के पिता जनक ने भी एक यज्ञ किया था जिसका नाम तो निर्दिष्ट नहीं किन्तु जिस की समाप्ति पर 'यूप'[३९] की चर्चा एवं क्रतु[४०] शब्द के प्रयोग से, उस का 'अश्वमेध' होना ही अनुमित होता है --

यूपवत्यवसिते क्रियाविधौ ।

क्योंकि अन्यत्र 'क्रतु' शब्द से अश्वमेध ही अभिहित है । इस यज्ञ में ऋषि विश्वामित्र को भी आमन्त्रित किया गया था --

तं न्यमन्त्रयत सम्भृतक्रतुर्मैथिलः[४१]

जहां वे राम को भी अपने साथ ले गए थे - एवं वहीं शिव धनुष के उठाने एवं तोड़ने की घटना के उपरान्त राम व सीता का विवाह हुआ था ।

अपने पिता द्वारा किये जा रहे अश्वमेध यज्ञ के अश्व को ऋषि कपिल द्वारा अपहृत कर पाताल लोक में ले जाने पर, उसकी खोज करते हुए राम के पूर्वजों ने पृथ्वी का खनन किया था ।लंका से अयोध्या की यात्रा में राम समुद्र की विस्तीर्णता का कारण बताते हुए इस अश्वमेध यज्ञ की चर्चा करते हैं --

----

३६. ऋष्यशृङ्गादयस्तस्य सन्तः सन्तानकाङ्क्षिणः ।
आरेभिरे जितात्मानः पुत्रीयामिष्टिमृत्विजः ।।
-- रघु० १०.४ पृ० १७५

३७. तमध्वरायमुक्ताश्वम् -- वही, १५.५८, पृ० २२३

३८. विधेरधिकसम्भारस्ततः प्रववृते मखः । -- वही, १५.६२

३९. वही, ११.३७ पृ० १८६

४०. वही, ११.३२ पृ० १८५

गुरोर्यियक्षो: कपिलेन मेध्ये
रसातलं सङ्क्रमिते तुरङ्गे
तदर्थमुर्वीमवदारयद्भि:
पूर्वै: किलायं परिवर्धितो न: ।।[४१]

राम के पौत्र अतिथि के द्वारा भी अश्वमेध के अनुष्ठान की रघुवंश में चर्चा है --

'जिगीषोरश्वमेधाय'[४२]

प्रसंगत: रघुवंश में 'अश्वमेधयज्ञ' विषयक यह अन्तिम संकेत है ।

अश्वमेध में अश्व की बलि दी जाती थी । अत: कालिदास के द्वारा अनेकत्र 'यूप' की चर्चा किया जाना ~~सर्वथा~~ स्वाभाविक है । बलि से पूर्व अश्व को यूप (यज्ञार्थ प्रतिष्ठापित दण्ड) से बांधा जाता था ।

जनक ने जिन यज्ञों का अनुष्ठान किया उनमें भी यूप के प्रयोग की चर्चा है ।[४३] --

यूपवत्यवसिते क्रियाविधौ ।

दशरथ के यज्ञानुष्ठान के प्रसंग में कवि ने कहा है कि दशरथ के द्वारा किये गये यज्ञों से तमसा एवं सरयू के तट समुच्छ्रित स्वर्णिम यूपों से शोभायमान हैं --

क्रतुषु तेन विसर्जितमौलिना भुजसमाहृतदिग्वसुना कृता: ।[४४]
कनकयूपसमुच्छ्रयशोभिनो वितमसा तमसासरयूतटा: ।।

----

४१. रघु० १३.३ पृ० २०२

४२. वही, १७.७६ पृ० २४२

४३. वही, ११.३७ पृ० १८६

४४. वही, ९.२०. पृ० १६७

पुष्पक विमान द्वारा अयोध्या आते हुए राम सीता से वार्तालाप के क्रम में अयोध्या के समीप बहती हुई सरयू के तट पर, तुरंगमेध[46] की चर्चा के प्रसंग में यूपों[45] की विस्तीर्ण पंक्तियों की ओर अत्यन्त गौरव से इंगित करते हैं।

राम के पुत्र कुश ने अयोध्या प्रत्यावर्तन के समय सरयू के तट पर चौकोर वेदियों पर स्थित सैंकड़ों यूपों को देखा जो उनके पूर्वजों द्वारा किए गए यज्ञानुष्ठानों के स्मारक थे। —

इत्यध्वनः कैश्चिदहोभिरन्ते
कूलं समासाद्य कुशः सरय्वाः।
वेदिप्रतिष्ठान् विततध्वराणां
यूपानपश्यच्छतशो रघूणाम्॥[47]

कुमारसम्भव में भी कालिदास ने 'यूप' को दिए जाने वाले वैदिक सत्कार की चर्चा की है। प्रसंग है ब्रह्मचारी वेशधारी शिव का शिव को पतिरूप में प्राप्त करने के लिए तपस्यारत पार्वती से वार्तालाप का। शिव पार्वती की इस इच्छा की अनुपयुक्तता एक दृष्टान्त द्वारा प्रकट करते हैं -- सज्जनों के द्वारा (अपराधी को मृत्युदण्ड देने के लिए) श्मशान में गाड़े गए शूल को वह आदर देना अपेक्षित नहीं, जो यज्ञानुष्ठानार्थ प्रतिष्ठित 'यूप' को वैदिक विधि में दिया जाता है।

अपेक्ष्यते साधुजनेन वैदिकी श्मशानशूलस्य न यूपसत्क्रिया।[48]

सम्भवतः अश्वमेध में अश्व को एवं गोमेध में गौ की बलि दी जाती थी। मेघदूत में राजा रन्तिदेव के द्वारा गोमेध यज्ञ में गौओं की बलि का उल्लेख कालिदास

---

४५. जलानि या तीरनिखातयूपा। --रघु० १३.६१ पृ० २०७

४६. तुरङ्गमेधावभृथावतीर्णैरिक्ष्वाकुभिः पुण्यतरीकृतानि। -- वही.

४७. वही, १६.३५ पृ० २३१

४८. कु० स० ५.७३ पृ० ७४

ने किया है। मेघ को चर्मण्वती के तट पर कुछ देर ठहर उसके यश के प्रति सम्मान व्यक्त करने का कथन है, जो यश नदी के रूप में पृथिवी पर प्रकट हुआ है --

व्यालम्बेथाः सुरभितनयालम्भजां मानयिष्यन्
स्रोतोमूर्त्या भुविपरिणतां रन्तिदेवस्य कीर्तिम् ।।[४९]

विमानमार्ग से यात्रा करते हुए राम सीता से आश्रमों तपोवनों एवं उनमें तपस्या लीन मुनियों एवं यज्ञानुष्ठानों का अनेकत्र वर्णन करते हैं। इसी क्रम में हविःप्रदान से प्रवृद्ध चार अग्नियों के मध्य स्थित हो तपस्या करते हुए मुनि सुतीक्ष्ण का वर्णन द्रष्टव्य है --

हविर्भुजामेधवतां चतुर्णां मध्ये ।[५०]

इसी प्रकार का मुनि शरभङ्ग का वर्णन है जिसने सुदीर्घ काल तक प्रज्वलित एवं समिधाग्नि से संतृप्त पवित्र अग्नि में अन्ततः अपने मन्त्रपूत शरीर तक को भी अर्पित कर दिया था --

चिराय सन्तर्प्य समिद्भिरग्निम् ---यो मन्त्रपूतां तनुमप्यहौषीत् ।[५१]

यज्ञ की समाप्ति पर किए जाने वाले पुण्य स्नान को अवभृथ कहते हैं ।
कालिदास ने एकाधिक स्थानों पर इस क्रिया की ओर संकेत किया है --

१. नन्दिनी के दुग्ध की पवित्रता को अवभृथ से तुलना करते हुए उसे (दुग्ध को) अवभृथ से भी अधिक पवित्र करने वाला कहा है --
-- भुवं कोष्णेन कुण्डोध्नी मेध्येनावभृथादपि ।[५२]

----

४९. मेघ० (पूर्वमेघ) श्लोक ४५ पृ० ३३

५०. रघु० १३.४१ पृ० २०५

५१. वही, १३.४५ पृ० २०६

५२. वही, १.८४ पृ० ११०.

२. दूसरी बार दशरथ के प्रसंग में -- उसके अवभृथ से अभिषिक्त होने की चर्चा है --

-- अवभृथप्रयत: ।[५३]

३. तीसरी बार विश्वामित्र के यज्ञकर्म की समाप्ति की सूचना देते हुए -- उसे अवभृथस्नात -- अवभृथाप्लुतो मुनि:[५४] कहा है ।

४. चौथी बार राम के पूर्वजों, इक्ष्वाकुवंशी राजाओं के विषय में वर्णन करते हुए -- तुरङ्गमेधावभृथावतीर्णैरिक्ष्वाकुभि:[५५] कहकर उनकी निरन्तर यज्ञव्यापृति और उसमें अवभृथस्नान की सूचना दी है।

कालिदास ने अपनी कृतियों में यज्ञ के लिये यज्ञ,[५६] इज्या,[५७] होम,[५८] अध्वर,[५९] क्रतु,[६०] मख,[६१] और इष्टि[६२] -- इन शब्दों का प्रयोग किया है । तद्धित रूप वैतान, वैतानिक, शान्त्युदकम्,[६३] वैतानास्त्वां वह्नय: पावयन्तु,[६४] से उसने वितान शब्द की ओर भी संकेत किया है । कभी कभी यज्ञ अथवा यज्ञविधि अर्थ मात्र क्रिया शब्द से भी उसने सूचित कर दिया है । दिलीप सिंह से गाय के बदले में स्वयं उन्हें स्वीकार करने के प्रकरण में इसी शब्द का प्रयोग करते हैं । उनका कहना

----

५३. रघु० ६.२२, पृ० १६८
५४. वही, ६.३१ पृ० १८५
५५. वही, १३.६१- पृ०
५६. वही, पृ० ८१, ५५६
५७. पृ० १०८, २३, २१६
५८. पृ० ११४, १२२
५९. पृ० १३४, १८३, २२३, २२४, २३१
६०. पृ० १२२, १२४, १४८, १८६
६१. पृ० १२२, १३५, १६०, २२४
६२. पृ० १७५
६३. अभि० शा०, अङ्क ३, पृ० ४५६
६४. वही, अङ्क ४, पृ० ४८६

है कि उन्हें खा जाने से सिंह की पारणा भी हो जायगी और मुनि वसिष्ठ के यज्ञ की साधन सभूत गाय भी बची रह जायेगी - मर्वेदलुप्तश्च मुनेः क्रियार्थः[६५]। रघु भी इस शब्द का प्रयोग करते हैं जबकि अपने पिता के यज्ञ में विघ्न डालने के कारण इन्द्र को सम्बोधित कर वे कहते हैं -- मुद्गुरोः क्रियाविघाताय कथं प्रवर्तसे ?[६६] जब श्रीराम ने ऋषि विश्वामित्र के यज्ञ में विघ्न डालने वाले राक्षसों का नाश कर दिया तो ऋत्विजों ने ऋषि की यज्ञ विधि सम्पन्न करा दी। यज्ञविधि के लिये कवि ने यहां क्रिया शब्द का ही प्रयोग किया है -- ऋत्विजः कुलपतर्यथाक्रमं वाग्यतस्य निरवर्तयन् क्रियाः ।[६७] जनक की यज्ञ विधि के सन्दर्भमें भी इसी शब्द का प्रयोग हुआ है -- यूपवत्यवसिते क्रियाविधौ[६८]।

कहीं कहीं यज्ञ अथवा याज्ञिक अनुष्ठानों के लिये कर्म शब्द का प्रयोग कालिदास की कृतियों में दृष्टिगोचर होता है। जब अग्निवर्ण (अत्यन्त विलासिता के कारण अतीव) रुग्ण हो गया तब उसके पुरोहितों ने शंकित प्रजाओं में यह प्रचारित कर दिया कि वह पुत्रप्राप्त्यर्थ यज्ञकर्ममें संलग्न है --

-- बाढमेषु दिवसेषु पार्थिवः कर्म साधयति पुत्रजन्मने ।[६९]

अश्वमेध एवं विश्वजित् जैसी बड़ी बड़ी यज्ञक्रियाओं के प्रसंग में 'महत्' शब्द का प्रयोग भी द्रष्टव्य है -- यथा --

'तदङ्गमग्र्यं मघवन् महाक्रतोः'[७०] इति क्षितीशो नवतिं नवाधिकां महाक्रतूनां -- ततान,[७१] ऋत्विजः स तथाऽनर्च दक्षिणाभिर्महाक्रतौ,[७२] पुत्रो रघुस्तस्य पदं

----

६५. रघु०, २.५५, पृ० ११६

६६. वही, ३.४४, पृ० १२२

६६क वही, ४.८, पृ० १३४.

६७. वही, ११.३०, पृ० १८५

६८. वही, ११.३७, पृ० १८६

६९. वही, १९.५२, पृ० २५३

७०. वही, ३.४६, पृ० १२२

७१. वही, ३.६९, पृ० १२४

७२. वही, १७.८०, पृ० २४३

प्रशास्ति महाक्रतोर्विश्वजितः प्रयोक्ता ।[७३]

यह एक अद्भुत एवं विचारणीय तथ्य है कि यज्ञविधि के लिए याग शब्द का प्रयोग कालिदास की रचनाओं में कहीं भी उपलब्ध नहीं है ।

यज्ञविषयक शब्दों को कवि ने प्राय: मात्र पर्यायवाची के रूप में प्रयुक्त किया है यद्यपि कर्मकाण्डीय ग्रन्थों में उनका प्रयोग यज्ञ विशेषों के लिये किया जाता है । महाकवि का एक ही यज्ञ के लिए विभिन्न शब्दों का प्रयोग यहां प्रमाण रूप में प्रस्तुत है -- यथा --

होम मख एवं क्रतु का प्रयोग अश्वमेध के लिए, यज्ञ अध्वर एवं मख शब्दों का प्रयोग विश्वजित् यज्ञ के लिए ।[७४] इसी प्रकार अन्यत्र भी द्रष्टव्य है ।

यज्ञ के नियमानुसार दान एवं दक्षिणा यज्ञ कार्य की सफलता के लिए अनिवार्य हैं । यज्ञ की समाप्ति पर इन दोनों का अभाव यज्ञफल की प्राप्ति में बाधक हो जाता है एवं यज्ञ व्यर्थ हो जाता है --

हतो यज्ञस्त्वदक्षिणः ।

कालिदास ने पहिली बार कुश के पुत्र एवं राम के पौत्र अतिथि के राज्याभिषेक के समय इसकी चर्चा की है जिससे कि स्नातक उदारतापूर्वक दिए गए दान से अपने यज्ञानुष्ठानों को सफल बनाने में समर्थ हों । --

स तावदभिषेकान्ते स्नातकेभ्यो ददौ वसु ।
यावतैषां समाप्येरन् यज्ञाः पर्याप्तदक्षिणाः ।।[७५]

----

७३. रघु०, ६.७६, पृ० १४८

७४. वही, ३.३८, ३६,४५, पृ० १२२; ४.८६, पृ० १३३; ५.६ पृ० १३४,१३५.

७५. वही, १८.१७, पृ० २३७

दूसरी बार उसने उसी राजा के द्वारा अश्वमेध का अनुष्ठान करने के अवसर पर इसका उल्लेख किया है --

ऋत्विज: स तथाऽऽनर्च दक्षिणाभिर्महाक्रतौ ।
यथा साधारणीभूतं नामास्य धनदस्य च ।।[७६]

कुछ स्थलों पर बरसों चलने वाले दीर्घसत्रों की चर्चा भीउपलब्ध है । पतञ्जलि ने महाभाष्य में सैंकड़ों, अथवा उससे भी अधिक सहस्रों, वर्षों तक चलने वाले यज्ञों का उल्लेख किया है --

वार्षशतिकानि वार्षसाहस्त्रिकाणि

कालिदास ने भी एक बार प्रचेता के दीर्घसत्र में हवि के लिये गौ सुरभि के पाताल में होने के कारण क्षमा याचना की । दिलीप को उसके उपलब्ध न होने के प्रसंग में इस ओर (दीर्घ सत्र की ओर) संकेत किया है --

हविषे दीर्घसत्रस्य सा चेदानीं प्रचेतस: ।
भुजङ्गापिहितद्वारं पातालमधितिष्ठति ।।[७७]

कालिदास ने यज्ञ क्रिया विधि से सम्बद्ध किसी उपकरण की चर्चा केवल एक बार ही की है । विश्वामित्र के यज्ञ के दूषण के सन्दर्भ में, विकङ्कत की लकड़ी से निर्मित एक महदाकार याज्ञिक कलछी -- `स्रुव` की चर्चा है । बड़े बड़े रक्त बिन्दुओं से वेदि को प्रदूषित होते देख ऋत्विज् इतने `विचलित` हो गए कि स्रुव उनके हाथ से छूट गए ।

----

७६. रघु०, १७.८० पृ० २४३

७७. वही, १.८० पृ० १०६

~~७८. वही, ११.२५. पृ० १८५~~

वीक्ष्य वेदिमथ रक्तबिन्दुभिः-
बन्धुजीवपृथुभिः प्रदूषिताम् ।
सम्भ्रमोऽभवदपोढकर्मणा -
मृत्विजां च्युतविकङ्कतस्रुचाम् ।।[७८]

राजा दशरथ ने यज्ञ से प्राप्त जिस चरु नामक अन्न को अपनी पत्नियों में विभक्त कर दिया था उस यज्ञान्न का उल्लेख भी रघुवंश में कवि ने किया है --

-- स तेजो वैष्णवं पत्न्योर्विभेजे चरुसंज्ञितम् ।[७९]

यज्ञ में दी जाने वाली हवियों की चर्चा के प्रसंग कालिदास की रचनाओं में ~~सामान्य~~ पर्याप्त हैं ।

रघु के जन्म के समय होने वाले अनेक शुभशकुनों में एक है ++ यज्ञाग्नि द्वारा प्रदक्षिणार्थियों से हवि का ग्रहण --

प्रदक्षिणार्थिर्हविरग्निराददे[८०]

ऐसा ही वर्णन अन्यत्र भी है जहां दशरथ के दिग्विजय के लिए प्रस्थान काल में अश्वों के नीराजना के समय अग्नि ने अपने प्रदक्षिणार्थियों से हवि का ग्रहण किया था --

तस्मै सम्यग्घुतो वह्निर्वाजिनीराजनाविधौ ।
प्रदक्षिणार्चिर्व्याजेन हस्तेनेव जयं ददौ ।।[८१]

अन्यत्र अग्नि के सहज तेज को हविर्दान के द्वारा विवृद्धि (संवर्धन) की चर्चा

----

७८. रघु० ११.२५ पृ० १८५

७९. वही, १०.५४ पृ० १७९

८०. वही ४.२५ पृ० १२८

८१. वही ३.१४. पृ० १२०

करते हुए दशरथ के पुत्रों के स्वाभाविक ~~(सहज)~~ विनीतता ~~विनय~~ के संवर्धन से तुलना करते हुए कवि कहता है --

उनकी स्वाभाविक विनीतता विनयकर्म (अनुशासनकारक शिक्षापद्धति) के द्वारा उसी प्रकार संवर्धित की गई जिस प्रकार अग्नि का सहज तेज हवि अर्पित करने पर विवृद्ध हो उठता है --

स्वाभाविकं विनीतत्वं तेषां विनयकर्मणा ।
मुमूर्च्छ सहजं तेजो हविषेव हविर्भुजाम् ।।[८२]

एक स्थल पर रक्तवर्ण कर्णिकार पुष्प की तुलना कवि ने हुतहुताशनदीप्ति (आहुति से प्रदीप्त अग्नि) से की है --

हुतहुताशनदीप्ति: --- युवतय: कुसुमं दधुराहितं तदलके ।[८३]

यह ध्यान देने योग्य है कि अनेक स्थलों पर जहां कालिदास ने अग्नि में आहुति अर्पण की चर्चा की है वहां विधिना,[८४] यथाविधि[८५], विधिवत्[८६], यथावत्,[८७] सम्यक्[८८] आदि शब्दों का प्रयोग किया है जोकि नियमानुसार कर्मविधि के अनुष्ठान के महत्व को प्रदर्शित करता है अर्थात् कोई भी यज्ञकर्म तत्सम्बन्धी शास्त्रों में विहित नियमों व क्रमप्रक्रिया के अनुसार ही होना चाहिए । एक स्थल पर [illegible] विधि-विधान से अटकर किए यज्ञ के उपक्रम [illegible] उल्लेख किया है ।[८८क]
कालिदास उस सभ्यता में संवर्धित हुए जब वैदिक यज्ञों का पर्याप्त प्रचलन था,

----

८२. रघु० ३.७९ पृ० १८२
८३. वही, ९.४० पृ० १९९
८४. यदग्नौ विधिना हुतम् -- कु० स० ६.६ पृ० ७७
८५. यथाविधि हुताग्नीनाम् -- रघु० १.६ पृ० १०३
८६. हविरावर्जितं होतस्त्वया विधिवदग्निषु
(यहां अग्निषु में बहुवचन द्वारा तीन अग्नियों की ओर संकेत द्रष्टव्य है)
वही, १.६२ पृ० १०८
८७. ततो यथावद् विहिताध्वराय । --वही ५.१९ पृ० १३५
८८. तस्मै सम्यग्धुतो वह्नि: । -- वही, ४.२५ पृ० १२८
८८क [illegible] वही, १५.६२, पृ० २२४.

करते हुए दशरथ के पुत्रों के स्वाभाविक ~~(सहज)~~ विनीतता ~~विनय~~ के संवर्धन से तुलना करते हुए कवि कहता है --

उनकी स्वाभाविक विनीतता विनयकर्म (अनुशासनकारक शिक्षापद्धति) के द्वारा उसी प्रकार संवर्धित की गई जिस प्रकार अग्नि का सहज तेज हवि अर्पित करने पर विवृद्ध हो उठता है --

स्वाभाविकं विनीतत्वं तेषां विनयकर्मणा ।
मुमूर्च्छ सहजं तेजो हविषेव हविर्भुजाम् ।।[८२]

एक स्थल पर रक्तवर्ण कर्णिकार पुष्प की तुलना कवि ने हुतहुताशनदीप्ति (आहुति से प्रदीप्त अग्नि) से की है --

हुतहुताशनदीप्तिः --- युवतयः कुसुमं दधुराहितं तदलके ।[८३]

यह ध्यान देने योग्य है कि अनेक स्थलों पर जहां कालिदास ने अग्नि में आहुति अर्पण की चर्चा की है वहां विधिना,[८४] यथाविधि[८५], विधिवत्[८६], यथावत्,[८७] सम्यक्[८८] आदि शब्दों का प्रयोग किया है जोकि नियमानुसार कर्मविधि के अनुष्ठान के महत्व को प्रदर्शित करता है अर्थात् कोई भी यज्ञकर्म तत्सम्बन्धी शास्त्रों में विहित नियमों व क्रमप्रक्रिया के अनुसार ही होना चाहिए। कालिदास उस सभ्यता में संवर्धित हुए जब वैदिक यज्ञों का पर्याप्त प्रचलन था,

----

८२. रघु० ६.७६ पृ० १८२

८३. वही, ६.४० पृ० १६६

८४. यदग्नौ विधिना हुतम् -- कु० स० ६.६ पृ० ७७

८५. यथाविधि हुताग्नीनाम् -- रघु० १.६ पृ० १०३

८६. हविरावर्जितं होतस्त्वया विधिवदग्निषु
(यहां अग्निषु में बहुवचन द्वारा तीन अग्नियों की ओर संकेत द्रष्टव्य है)
वही, १.६२ पृ० १०८

वही ५.१६ पृ० १३५

८७. ततो यथावद् विहिताध्वराय । --वही ५.१६ पृ० १३५

८८. तस्मै सम्यग्घुतो वह्निः । -- वही, ४.२५ पृ० १२८ ... वही, १५.६२, पृ० २२५

जब यज्ञवेदियों का निर्माण, उनके चारों ओर दर्भ का आस्तरण; पवित्र, संख्या में तीन अथवा चार सुनिश्चित स्थान की अग्नियों का प्रज्वलन किया जाता था, जब यज्ञशालाओं में समिधा का भण्डार पर्याप्त मात्रा में सदा उपलब्ध रहता था, जब ऋत्विग्जन यजमानों की विविध यज्ञों के सम्पादन में सहायता करते थे, जब मुनिजन आशीर्वाद में वैदिक छन्दों का प्रयोग करते थे। राजा और सम्राट् छोटे बड़े दैनिक और विशिष्ट (जिनमें व्यापक प्रबन्ध की अपेक्षा थी) यज्ञकार्यों में निरन्तर व्यावृति से गौरवान्वित होते थे तथा जब वे उनकी समाप्ति के सूचक अवभृथ से अभिषिक्त होते थे।

यह वह सभ्यता थी जो कालिदास की अन्तश्चेतना पर पूर्णतया छाई हुई थी एवं जो अतीव सहज रूप से उसकी सभी अमर कृतियों में स्वतः मुखरित हुई थी।

इक्कीसवीं शती और संस्कृत

सत्यव्रत शास्त्री

लगभग ढाई वर्ष पूर्व बीसवीं शताब्दी समाप्त हुई थी और उसके साथ ही नई सहस्राब्दी और नई शताब्दी ने जन्म लिया था। अतीत के बारे में तो जानकारी है ही पर अनागत का पता नहीं। विश्व का मानचित्र इस में क्या होगा और उसमें संस्कृत का क्या स्थान होगा यह सम्प्रति कल्पना का ही विषय है। जो प्रवृत्तियां गत शताब्दी के अन्तिम चरण में उभरीं उन्हीं के आधार पर भविष्य का अनुमान लगाया जा सकता है। चूंकि अनुमान भी एक प्रमाण है और प्रमाणचतुष्टय के अन्तर्गत है इसलिये उसके आधार पर भविष्य की परिकल्पना को सर्वथा सन्देह की दृष्टि से ही नहीं देखा जा सकता।

समाज को यह कितना ही पीड़ाकर क्यों न लगे, पर यह सच है कि संस्कृत के प्रति सिवाय कुछेक गिने-चुने संस्कृत प्रचारकों के जो कि संस्कत को लोकभाषा बनाने का मधुर स्वप्न देखते हैं, जनता में उत्साह नहीं है। कुछ लोगों का यह चिन्तन है कि आज के बच्चों को अपने अतीत से परिचित कराने के लिये संस्कृत किसी न किसी स्तर पर अनिवार्य करना चाहिए। यह चिन्तन उत्तम हो सकता है पर व्यावहारिक नहीं। बीसवीं शती में यह सम्भव रहा होगा, इक्कीसवीं शती शायद इसे स्वीकार न करे। आज किसी भाषा को अनिवार्य करने का वातावरण नहीं है। अनिवार्य करते ही विरोध का स्वर उभरने लगता है। आज की पीढ़ी धीरे-धीरे उन्मुक्तता की ओर अग्रसर हो रही है। भाषा के विषय में भी उसका यही चिन्तन हैं। इसमें किसी प्रकार का बन्धन उसके गले नहीं उतरता।

रोटी, कपड़ा और मकान मानव की मूलभूत आवश्यकताएं हैं। ये तो उसे चाहिये हीं। इनके बिना जीवन यात्रा नहीं चल सकती। जहाँ से मनुष्य को इनकी उपलब्धि की आशा दिखती है वह उसी की ओर उन्मुख हो लेता है। यही कारण है कि आज कम्प्यूटर इंजिनीयर बनने की होड़ लगी है। उसके बाद का स्थान है वाणिज्य शास्त्र और अर्थ शास्त्र का और उससे भी बाद का विज्ञान का। कभी विज्ञान का बोल बाला था। भाषाओं का स्थान उन सब से नीचे का है। उनमें भी अंग्रेजी विदेशी होते हुए भी बाज़ी मार लेती है। प्रतिभाशाली विद्यार्थी इन सब की ओर खिचें चले जाते हैं। इस सब के आलोक में संस्कृत को कैसे पनपना है यह हम सबके सोच का विषय है।

जो समर्पित व्यक्ति हैं वे संस्कृत पढ़ेंगे ही। पर जनसाधारण तक संस्कृत को कैसे पहुंचाना है यह समस्या बीसवीं शती की भी थी और इक्कीसवीं की भी होगी। बहुत वर्ष हुए मैं जर्मनी में था। वहाँ बर्लिन में लगभग एक सप्ताह तक रहा। एक दिन सन्ध्या के समय

तत्कालीन संस्कृत विद्वान् प्रो. क्लास ब्रून के साथ समुद्रतट पर टहलते-टहलते भारत में संस्कृत के भविष्य पर चर्चा चल पड़ी। उस समय उन्होनें जो विचार व्यक्त किये उन्होनें मुझे कहीं गहरे तक स्पर्श किया था। उन्होंने कहा था कि संस्कृत के व्यापक प्रचार-प्रसार के लिये इसे एक अतिरिक्त विषय के रूप में पढ़ाना आवश्यक है। योरुप में, उन्होंने बताया, कि इस प्रकार की पद्धति है कि विश्वविद्यालय के अपने पाठ्यक्रम, कोर्स, के अतिरिक्त खाली समय में, उपराह्ण में या सन्ध्या के समय लोग कोई न कोई अपनी-अपनी रुचि के अनुसार, हॉबी के रूप में अतिरिक्त विषय ले लेते हैं, कोई बागवानी का कोर्स ले लेता है, कोई फोटोग्राफी की क्लासें अटेंड करता है, कोई विदेशी भाषा ही सीखने लगता है। इससे अच्छी तरह समय बीतने के साथ-साथ वह अपने में अतिरिक्त योग्यता भी अर्जित कर लेता है जो उसे मानसिक तथा आध्यात्मिक सन्तोष प्रदान करती है। भौतिक आवश्यकता की पूर्ति वह अपने मुख्य विषय से करता है। यह उसके अपने व्यक्तिगत जीवन का एक अङ्ग होता है। इस तरह की पद्धति यदि संस्कृत विषय में अपनाई जाय तो अनेकानेक लोग इस ओर आकर्षित होंगे।

प्रो. ब्रून के कथन की सत्यता नई दिल्ली के जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय के एक नये प्रयोग से सिद्ध हो गई है। वहां बी. ए. एवम् एम. ए. के छात्रों को अपने मुख्य विषयों के अतिरिक्त तीन क्रेडिट्स के दो वैकल्पिक कोर्स (Optional Course), या दो क्रेडिट्स के साधन कोर्स (Tool Course) लेने होते हैं वे कोई भी हो सकते हैं, संस्कृत के भी, अन्य किसी भाषा के भी या अन्य किसी विषय के भी। गत वर्ष इन अन्यान्य विषयों के 180 छात्रों ने संस्कृत विषय लिया। इनमें से बहुत से ऐसे थे जिन्होंने किसी भी स्तर पर संस्कृत नहीं पढ़ी थी। विश्वविद्यालय के विशिष्ट संस्कृत अध्ययन केन्द्र द्वारा उनके लिये संस्कृत भाषा और वाङ्मय का एक विशिष्ट पाठ्यक्रम तैयार किया गया। वैकल्पिक कोर्स के लिये 180 की संख्या और वह भी केन्द्र की स्थापना के प्रथम वर्ष में ही बहुत उत्साहवर्धक रही। इससे इतना अवश्य सिद्ध होता है कि युवा-वर्ग में इस ओर झांकने की उत्सुकता एवं कुतूहल अभी है।

संस्कृत के प्रचार-प्रसार का एक और कारगर उपाय है इसे मातृभाषा से जोड़ना। भारत की प्रायः सभी भाषाओं में चाहे वे भारोपीय परिवार को हों, या द्रविड भाषा परिवार की, संस्कृत की भरपूर शब्दावली है। अलग-अलग भाषाओं की - भारत के संविधान में अट्ठारह भाषाएं स्वीकृत हैं - इस संस्कृत शब्दावली में भेद हो सकता है। कहीं यह बहुत अधिक है, कहीं अपेक्षाकृत कम। कहा जाता है कि मलयालम में सत्तर प्रतिशत शब्द संस्कृत के हैं। तमिल में यह प्रतिशत तीस के लगभग बताया जाता है। भाषाओं के हिसाब से संस्कृत शब्दावली के स्वरूप में भी भेद है। भारोपीय परिवार की भाषाओं में संस्कृत तद्भवरूप में अधिक है और द्रविड़ परिवार की भाषाओं में तत्सम रूप में। भारोपीय परिवार की भाषाओं में

भी बंगला, उड़िया आदि में इसी परिवार की अन्य भाषाओं की अपेक्षा तत्सम शब्द अधिक हैं। प्रारम्भिक स्थिति में जब बच्चे को संस्कृत सिखानी हो तो प्रयास यह होना चाहिये कि उन्हीं शब्दों का विभक्ति आदि लगाकर प्रयोग किया जाए जिनसे बच्चे सुपरिचित हों। तब उसे यह नहीं लगेगा कि संस्कृत अलग ही कोई कोई भाषा है जो उसके लिये नई है। इससे संस्कृत एक क्लिष्ट भाषा है इस सर्वाधिक प्रचलित भ्रान्ति का भी निराकरण हो जाएगा। मेरे पूज्य पितृचरण कहा करते थे कि गाय जंगल में घास खाती है यदि इस बात को संस्कृत में कहना हो तो क्यों न इस रूप में कहा जाए - गौः जंगले घासं खादति। गौः = गाय, जङ्गले=जङ्गल में, घासम् - घास को, खादति=खाती है। इसमें किसी को क्या आपत्ति हो सकती है? विशुद्ध संस्कृत है। कोई भी वैयाकरण इसमें दोष नहीं निकाल सकता। घास चरती है कहना हो तो - कहना उचित होगा घासं चरति। चर गति भक्षणयोः। चर् धातु भक्षणार्थक है। घासं चरति कहने में क्या दोष है? क्यों कहा जाय घासमत्ति? यह उस स्थिति की बात है जब विद्यार्थी संस्कृत सीखना शुरू ही करता है। बाद में आप उसे जो सिखाना चाहें सिखायें। नये संस्कृत सीखने वाले के लिये 'मैं पानी पीता हूं' के लिये संस्कृत वाक्य होना चाहिये *अहं जलं पिबामि* और इससे भी अच्छा - *अहं पानीयं पिबामि।* इसी तरह 'मैं दूध पीता हूं' को संस्कृत में कहना हो तो कहा जा सकता है *अहं दुग्धं पिबामि।* क्यों प्रारभ्म में ही पयः आदि शब्दों के प्रयोग से उसे उद्विग्न कर दिया जाए। पानी और दूध के प्रसङ्ग में एक बात जो विशेष ध्यान देने योग्य है वह यह है कि विभिन्न भारतीय भाषाओं में इनके लिये अलग-अलग संस्कृत शब्द हैं। जहां उत्तर भारत में पानीय या जल शब्द का प्रयोग होता है वहीं दक्षिण भारत में नीर का या नीरु शब्द का। जहाँ उत्तर भारत में संस्कृत दुग्ध से उद्भूत दूध शब्द का प्रयोग हैं वहीं उड़ीसा में संस्कृत के क्षीर शब्द से उद्भूत खीरा शब्द का। तत्तत् प्रदेश के विद्याथियों को संस्कृत सिखाने के प्रसङ्ग में वहाँ-वहाँ के प्रचलित संस्कृत या संस्कृतमूलक शब्दों का प्रयोग उचित होगा। यहां प्रासङ्गिक रूप से यह कहना अनुचित न होगा कि इस सम्भावना से इन्कार नहीं किया जा सकता। कि जो शब्द संस्कृत कोशों में पर्यायवाची के रूप में पठित हैं वे कभी अलग-अलग प्रदेशों में प्रयुक्त रहे होंगे। कात्यायन के वार्तिक - *सर्वे देशान्तरे* को प्रकरण-भेद से इस विषय में लगाया जा सकता है। अलग-अलग प्रदेश के इन संस्कृत शब्दों को बाद में कोशकारों ने एक साथ संग्रथित कर पर्यायवाची रूप में उन्हें प्रस्तुत कर दिया।

भारत की प्रादेशिक भाषाओं में कितनी शब्दावली संस्कृतमूलक है इसका वैज्ञानिक दृष्टि से अलग-अलग भाषा के हिसाब से आकलन अभी नहीं हुआ है जोकि प्रादेशिक भाषाओं में प्रयुक्त संस्कृतमूलक शब्दों के प्रयोग के माध्यम से संस्कृत शिक्षण के सुझाव के कार्यान्वयन में बहुत सहायक होगा। इस दिशा में केवल एक मात्र प्रयास किया गया हैं। 1974

में आचार्य काका कालेलकर की सत्प्रेरणा के फलस्वरूप मेरी तत्कालीन सहयोगिनी मिराण्डा हाउस, दिल्ली की संस्कृत अध्यापिका डा. रत्नमयी देवी दीक्षित ने संस्कृत केन्द्रित भाषा समन्वय कोश के नाम से इस कार्य को अपने हाथ में लिया था। उसके कुछ अंश उस समय प्रकाशित होने वाली दिल्ली विश्वविद्यालय संस्कृत विभाग की पत्रिका इण्डोलोजिकल स्टडीज़ में प्रकाशित हुए थे। श्रीमती दीक्षित के स्वर्गवास से यह कार्य अवरुद्ध हो गया। आवश्यकता है एक बृहद् योजना के रूप में इस कार्य को आगे बढ़ाने की। इसके लिये तत्तद्भाषाभाषी संस्कृत विद्वानों का सहयोग अपेक्षित होगा। निश्चित ही यह राष्ट्रीय स्तर की महती योजना होगी और इसका महत्त्व पूना में चल रहे ऐतिहासिक सिद्धान्तों के आधार पर विश्वस्तरीय संस्कृत शब्दकोष Encyclopaedic Dictionary of Sanskrit on Historical Principles से किसी भी तरह कम नहीं होगा।

संस्कत के प्रचार-प्रसार के लिये इसके सरलीकरण की चर्चा बहुत समय से चलती आ रही है और इस दिशा में अनेक प्रयोग भी किये जाते रहे हैं जिनमें शामिल हैं सन्धि का परिहार, संवाद शैली (Conversational Method), श्रवण और दर्शन यन्त्र से शिक्षण, (Audio - visual Learning) आदि। अनेक प्रकार के Primars तथा Readers एवं डा. धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री के Sanskrit in 30 Lectures, संस्कृत का मानचित्र आदि इस दिशा में स्तुत्य प्रयास हैं। पश्चिम के देशों में Perry's Sanskrit Grammar से लोग संस्कृत सीखते हैं। ईश्वरचन्द्र विद्यासागर के काल से प्रारम्भ हुई संस्कृत भाषा और व्याकरण के सरलीकरण की प्रक्रिया, रामकृष्ण गोपाल भण्डारकर, वामन शिवराम आप्टे, एम. आर. काले, श्रीपाद दामोदर सातवलेकर आदि महारथियों के सत्प्रयत्नो से पल्लवित होती हुई इक्कीसवी शती में और भी अधिक प्रयोगोन्मुखता की ओर यदि अग्रसर होती है तो यह संस्कृत के जिज्ञासुओं के लिये अत्युपकारक सिद्ध होगी।

गत शताब्दी में नन्हे मुन्ने बच्चों को संस्कृत सिखाने के अनेक सफल प्रयोग किये गये। इस सन्दर्भ में अनेक विद्वानों के नाम स्मृतिपटल पर उभर कर आ रहे हैं। इनमें विशेष उल्लेखनीय हैं वाई. एम्. नानल, कपिल देव शर्मा, अनन्त शास्त्री फड़के, राहुल सांकृत्यायन, एल्. एम्. चक्रदेव, मालती चक्रदास और अनेक गुमनाम पण्डित। चक्रदेव ने मुम्बई के चर्नी रोड पर श्रीवत्स बाल मन्दिरम् नाम से एक बाल विद्यालय की स्थापना की है जिसमें Lower और Upper Kindergarten के बच्चे और बच्चियों को एक विशेष पद्धति से संस्कृत सिखाई जाती है जो उनकी स्वयं की उपज है। एवमेव पाण्डिचेरी के अन्तर्राष्ट्रीय शिक्षण केन्द्र ने स्कूली शिक्षा प्राप्त करने के पूर्व के बच्चों, Pre-school students को, संस्कृत सिखाने के लिए एक नई पद्धति का आविष्कार किया है। इसके साथ ही उसने शिशु साहित्य भी संस्कृत

में तैयार किया है जिसकी संस्कृत में बहुत कमी है। अनेक संस्थाएं जिनमें विशेष उल्लेखनीय हैं - संस्कृत भारती, लोकभाषा प्रचार समिति (पुरी) तथा शारदा ज्ञानपीठम् (पुणे) संस्कृत के सम्भाषण शिबिर भी चला रही हैं। न केवल संस्थाएं ही अपितु अनेक विद्वान् मात्र अपने पुरुषार्थ के बल पर सम्भाषण शिबिर अयोजित करते है। जयपुर के डा. सुभाष वेदालङ्कार ने इस प्रकार के अनेक शिबिरों का अयोजन कर संस्कृत का प्रचार-प्रसार किया हैं। लोकप्रिय धुनों पर इन्होनें स्वरचित गीतों के केसैट भी बनाये हैं। इस प्रकार की गीत रचना बड़ौदा के डॉ. अरुणोदय नटवरलाल जानी ने भी की है। उनके सुपुत्र जयदेव जानी उनके इस कार्य को आगे बढ़ा रहे हैं। सार्वभौम संस्कृत प्रचार कार्यालय काशी के पण्डित वासुदेव द्विवेदी ने अपना सारा जीवन इस कार्य में लगा दिया था।

संस्कृत शिक्षण के पश्चात् संस्कृत लेखन पर भी दृष्टिपात करना आवश्यक है। इक्कीसवीं शती का संस्कृत लेखन कैसा होगा। उन्नीसवीं और बीसवीं शती के संस्कृत लेखन ने जो समस्याएं उपस्थापित कीं उनका समाधान भी इस इक्कीसवीं शती को ही ढूंढना है। गत दो शताब्दियों के संस्कृत लेखन में - इन्हीं शताब्दियों का लेखन ही अर्वाचीन अथवा आधुनिक लेखन के नाम से जाना जाता है - तीन प्रकार की प्रवृत्तियां देखने में आती हैं। एक तो वह जिसमें कालिदास, भारवि, भवभूति, बाण, दण्डी, सुबन्धु आदि की शैली का अनुवर्तन किया जाता है जिसके अनुसार यदि पद्य रचना है तो अनिवार्यत: छन्दोबद्धता ही रहती है और काव्यशास्त्र के नियमों का विधिवत् पालन किया जाता है, यदि गद्यबद्ध रचना है तो कादम्बरी-हर्षचरितादिवत् ओज:समासभूयस्त्व रहता है और रहता है इसी के साथ ही क्लिष्ट शब्दौघ जो रचयिता के पाण्डित्य को प्रदर्शित करने के माध्यम से उसकी सोच के अनुसार उसे विद्वत्समाज में प्रतिष्ठापित करने में सहायक होता है। काव्यों में नित्यानन्द शास्त्री का 'श्रीरामचरिताब्धिरत्नम्' महाकाव्य एवं 'हनुमद्दूतम्' नामक दूतकाव्य, अखिलानन्द सरस्वती का 'दयानन्द दिग्विजय', वी. राघवन् का 'मुत्तुस्वामीदीक्षितचरितम्' महाकाव्य, रेवाप्रसाद द्विवेदी का 'सीताचरितम्' महाकाव्य, हरिनारायण दीक्षित का 'भीष्मचरितम्' महाकाव्य मेरा स्वयं का 'श्रीरामकीर्तिमहाकाव्य', उपन्यासों में अम्बिकादत्त व्यास का 'शिवराजविजयम्', मेधाव्रत शास्त्री का 'कुमुदिनीचन्द्र', हरिदास सिद्धान्तवागीश का 'सरला', आप्पाशास्त्री राशिवडेकर का 'लावण्यमयी', शङ्करलाल माहेश्वर का 'चन्द्रप्रभचरितम्', कृष्णकुमार के 'विधिपौरुषम्' और 'तपोवनवासिनी', मोहनलालशर्मा पाण्डेय का 'पद्मिनी', राघवेन्द्र पंचमुखी का 'सप्तरात्रोत्सवचम्पू', आदि इस तरह की शतश: कृतियाँ है। दूसरी कोटि की वे कृतियां है जिनमें मुख्यतया प्राचीन शैली का अनुगमन है पर नवीनता अर्थात् लीक से हट कर रचनाधर्मिता, की प्रवृत्ति भी सांस लेती हुई दिखाई देती है। उदारहणार्थ, जयपुर के भटट्

मथुरानाथ शास्त्री के संस्कृत काव्य 'जयपुरवैभवम्' और 'साहित्यवैभवम्' जिनमें शास्त्री जी ने न केवल दोहा, चौपाई, सोरठा, आल्हा आदि हिन्दी की काव्य विधाओं को अपनाया है, अपितु उर्दू के बहारे हज़ाज़ मुसद्दस महज़ूफ, बहारे रमाम मुसम्मन महज़ूफ आदि को भी। मैंने स्वयं ने अपने महाकाव्य में काव्यशास्त्रीय नियमों के विपरीत एक महिला को काव्य की नायिका के रूप में प्रस्तुत किया है और स्वतन्त्रता आन्दोलन का चित्र प्रस्तुत करते समय 'झंडा ऊंचा रहे हमारा' आदि उस समय के जयोद्घोषों को संस्कृत रूप में प्रस्तुत किया है। माधव श्रीहरि अणे के तीन खण्डों के 'तिलकयशोऽर्णवः' तथा वीर सावरकर की जीवनगाथा पर आधारित 'वैनायकम्' महाकाव्य में छन्दोबद्ध रचना को अपनाते हुए भी अनेक आधुनिक उपकरणों से सम्बद्ध अंग्रेजी शब्दों को या तो मूल रूप में या उनका संस्कृतीकरण कर उन्हें प्रस्तुत किया गया है। पलसुले के 'विवेकानन्दविजयम्' तथा 'भासोऽहासः' एवं श्रीनिवासशास्त्री के 'सूर्यप्रभा किंवा वैभवपिशाचः' की भी यही स्थिति है। देवर्षि कलानाथ शास्त्री की 'कथानकवल्ली' भी इसी प्रकार की है। गत शताब्दी का बहुत बड़ा ग्रन्थ सम्भार इस कोटि के अन्तर्गत आता है। तीसरी प्रवृत्ति उन कृतियों की है जिन्होंने सर्वथा नवीन शैली को अङ्गीकार किया है। इस शैली के लेखकों में अग्रणी हैं हर्षदेव माधव, देवदत्त भटि्ट, बनमाली बिस्वाल, कृष्णलाल, केशवचन्द्र दाश आदि। इनकी कविताओं में छन्दोबद्धता के स्थान पर स्वच्छन्द पद्यात्मकता, Free Verse का प्रयोग है और हिन्दी की तर्ज पर अकविता का लेखन भी है। कज्जलिका नाम से गज़ल, काकली नाम से कव्वाली और अल्पक या हाइकु नाम से हाइकु भी इस समय के कवि लिख रहे हैं। उपन्यासों या कहानियों में कथोपकथन के समय पात्रों का निर्देश inverted commas से ही इन लेखकों की रचनाओं में देखने को मिलता है। नाट्य कृतियों में एकाङ्कियों ने अपना विशेष स्थान बना लिया है जिनकी भरमार दिखाई देने लगी है। अर्वाचीन संस्कृत वाङ्मय में इधर एक क्रान्ति आई है।

इस क्रान्ति ने जहां लेखक की शैली को प्रभावित किया है वहां भाषा को भी। लगता है व्याकरण की दृष्टि से भाषा की शुद्धता का उतना आग्रह नहीं है जितना होना चाहिये। जो इसके कारण उद्विग्न दिखाई देते हैं उन्हें पुराणपन्थी की मानद उपाधि से विभूषित किया जाता है। इस नवीनता के मोह ने संस्कृत भाषा के मूल स्वरूप को ही यत्र तत्र प्रभाावित करने का काम किया है। यह सर्वविदित है कि संस्कृत में - संस्कृत में ही नहीं हिन्दी में भी -Indirect Speech का अभाव है। हिन्दी ने तो इसे आत्मसात् कर लिया है। हिन्दी रचनाओं में इस तरह के वाक्य देखने को मिलते हैं - राम कह रहा था कि वह वहां जाएगा जब कि सही वाक्यविन्यास होना चाहिये - राम कह रहा था कि मैं वहाँ जाऊंगा, अंग्रेजी में यह चलता है

- Rama said he would go there, संस्कृत में रामोऽकथयत् यत्स तत्र गमिष्यति संस्कृत के स्वरूप के विरुद्ध है। अत:, अस्वीकार्य है।

अनेक संस्कृत लेखकों ने संस्कृत भाषा के लिये संस्कृता शब्द को अपना लिया है जो सर्वथा असंस्कृत है। भाषावाची संस्कृत शब्द नित्यनपुंसक लिङ्ग है। दण्डी ने इस बारे में किसी प्रकार के सन्देह का अवकाश नहीं रहने दिया। काव्यानुशासन (1.33) का उनका सुप्रसिद्ध वचन है - संस्कृतं नाम दैवी वागन्वाख्याता महर्षिभि:। स्त्रीलिङ्ग वाक् शब्द के साथ नपुसंकलिङ्ग संस्कृत शब्द का प्रयोग यहां किया गया है - संस्कृतं वाक्।

विधि, उपाधि, मृत्यु आदि शब्द हिन्दी में स्त्रीलिङ्ग की तरह प्रयुक्त होने लगं हैं। उसी के प्रभाव के कारण अनेक संस्कृत लेखक भी अपनी संस्कृत कृतियों में इनका स्त्रीलिङ्ग में प्रयोग करने लगे हैं - इयमत्र विधिरस्माभि: स्वीकर्तव्या, तस्य मृत्युः संजाता इति। ये सब अपप्रयोग हैं। आधुनिकता के नाम पर उन्हें स्वीकृति नहीं मिल सकती।

सरलता और शुद्धता में कोई परस्पर विरोध नहीं है। सरल होते हुए भी भाषा शुद्ध हो सकती है। *न म्लेच्छितवै नापभाषितवै म्लेच्छो ह वा एष यदपशब्द:* यह महाभाष्यकार का डिण्डिमघोष है। यदि क्रियापद क्लिष्ट लगते हैं, या उनके शुद्ध व अशुद्ध रूप में कोई व्यामोह है तो उनका प्रयोग मत कीजिये और उनके स्थान पर क्त, क्तवत्वन्त प्रयोग कीजिये। यह बात कोई आज की नहीं है। महाभाष्य के काल से ही यह प्रारम्भ हो गई थी। *अस्त्यप्रयुक्त:* के उदाहरणों के रूप में ऊष, तेर, चक्र, पेच को प्रस्तुत कर महाभाष्यकार कहते हैं - *अप्रयोग: खल्वप्येषां शब्दानां न्याय्य:। प्रयोगान्यत्वात्। यदेषां शब्दानामर्थेऽन्याञ्शब्दान् प्रयुञ्जते।* तद्यथा - *ऊषंत्यस्य शब्दस्यार्थे क्व यूयमुषिता:, तेरेत्यस्यार्थे क्व यूयं तीर्णा:, चक्रेत्यस्यार्थे क्व यूयं कृतवन्त:, पेचेत्यास्यार्थे क्व यूयं पक्ववन्त इति।* इससे स्पष्ट है कि प्रथम शताब्दी ईसा पूर्व, दो हजार वर्ष से भी पहिले - महाभाष्यकार का यही काल माना जाता है- तिङन्त रूपों के स्थान पर कृदन्त रूपों का चलन प्रारम्भ हो गया था। सम्भवत: उस समय के लोगों को भी तिङन्त रूप क्लिष्ट लगे होंगे।

यदि आधुनिक संस्कृत साहित्य इस रूप में लिखा जाता है कि उस का कथ्य भी प्राचीन है- वेद, उपनिषद् रामायण, महाभारत, पुराण आदि के आख्यानों का ही उसमें वर्णन है, भाषा भी प्राचीन है, शैली भी प्राचीन है तो वह आधुनिक इस रूप में ही कहा जायेगा कि उसका प्रणयन आधुनिक लेखकों ने किया है। इस तरह का वाङ्मय तो किसी भी युग में लिखा जा सकता है, प्राचीन युग में भी, मध्ययुग में भी, आधुनिक युग में भी। आधुनिक कहलाने के लिये तो वाङ्मय को इस तरह का होना चाहिये कि उसमें आधुनिक युग बोध हो,

वह आधुनिक जीवन और चिन्तन का प्रतिनिधित्व करे, आधुनिक समस्याओं और विषमताओं का प्रतिबिम्बन उसमें हो। यदि यह होता है तो इसके लिये आवश्यक है कि आधुनिक जीवन पद्धति से सम्बद्ध विषयों के समावेशार्थ उपयुक्त शब्दावली आज के लेखक को उपलब्ध हो। चूंकि वह शब्दावली संस्कृत में उपलब्ध नहीं है, और स्पष्ट है कि हो भी नहीं सकती, अत: संस्कृत लेखक के लिये उस शब्दावली को हासिल करने के दो रास्ते हो सकते थे, एक, वह कि जिस भाषा में वह उपलब्ध हो, यदि अंग्रेजी में वह उपलब्ध हो तो अंग्रेज़ी से यदि उर्दू-फारसी या लोकभाषा में उपलब्ध हो तो वहाँ से उसे जैसे के तैसे वह अपना ले और संस्कृत विभक्तियों के साथ उसका प्रयोग करे जैसे चायं पिबति, रिवाल्वरं धारयति अथवा उनके स्थान पर नये शब्दों का निर्माण करे और उनका प्रयोग करे। अधिकांशत: संस्कृत रचनाकारों ने यही किया। इसमें उन्होंने दो प्रकार की पद्धति अपनाई। एक, इस प्रकार के शब्दों का निर्माण उन्होनें किया जहां मूलभाषा के अर्थ का संस्कृत रूप में प्रतिबिम्बन था और दूसरी जिसमें अर्थ का भी और स्वरूप का भी। अंग्रेजी के पेट्रोल, petrol के लिये दो विभिन्न लेखकों ने दो अलग-अलग शब्दों का प्रयोग किया है। एक ने भूतैल शब्द का और दूसरे ने प्रतैल शब्द का। देशी भाषा के शब्दों के संस्कृतीकरण के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है चप्पल के लिये संस्कृत शब्द चपलोपानह् है, चपलोपानहं धारयित्वा। जैसे पेट्रोल के विषय में कहा गया है कि अलग-अलग संस्कृत लेखकों ने इसके लिये अलग-अलग शब्दों का निर्माण किया इसी प्रकार की स्थिति अनेकानेक अन्य शब्दों की है। चाय जिसकी चर्चा पहिले की जा चुकी है के लिये चाय और चाय के अतिरिक्त निम्न लिखित शब्दों का अर्वाचीन संस्कृत वाङ्मय में प्रयोग उपलब्ध है - कषायपान, कषायपेय और चायपान। इसी प्रकार रेलवे ट्रेन के लिये प्रयुक्त शब्द हैं- बाष्पानस्, वह्निवाहन, अग्निरथ, गन्त्री, लोहशकट, धूमशकट एवञ्च बाद के दो के स्त्रीलिंग रूप लोहशकटी और धूमशकटी। मेल ट्रेन के लिये पत्राग्निरथ शब्द प्रयुक्त है। नेकटाई के लिये एक स्थान पर कण्ठबन्ध प्रयुक्त है और दूसरे स्थान पर ग्रीवाबन्धन। यह सब बीसवीं शती की बात है। इक्कीसवीं शती की यह आवश्कता है कि सर्वप्रथम इन नवनिर्मित शब्दों को अर्वाचीन संस्कृत वाङ्मय से सङ्कलित कर उनका एक कोष बनाया जाए और दूसरा उनका मानक रूप निर्धारित किया जाए। एक बृहद् योजना के रूप में इन दोनों कार्यों को हाथ में लिया जा सकता है। कोष निर्माण, Dictionary Compile, करने का काम विद्वानों की एक टीम करे - टीम की आवश्यकता इसलिये है कि अर्वाचीन संस्कृत साहित्य बहुत विशाल है, छोटी-बड़ी सब मिलाकर सहस्रों कृतियों की रचना उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दियों में हुई है। इन कृतियों को पहिले पढ़ना पड़ेगा और फिर नवनिर्मित शब्दों को इनमें से छांटना पड़ेगा जो कि एक व्यक्ति का काम नहीं हैं। एक एक

विधा के लिये तीन-तीन, चार-चार विद्वानों की आवश्यकता पड़ेगी। शब्द-चयन हो जाने पर उनके मानकीकरण का काम रह जाता है जिसके लिए विशेषज्ञ समिति, Steering Committee of Experts गठित करनी होगी जो छोटे-छोटे Working Groups, कार्यदलों, के माध्यम से इस कार्य को करवा उसे अन्तिम रूप देने का कार्य करेगी। यह सब कार्य इक्कीसवीं शती में होना है।

यद्यपि आधुनिक काल में बहुत लिखा जा चुका है, जैसा कि पहिले कहा जा चुका है, तो भी कतिपय विधाएं इस प्रकार की हैं जो या तो इस में अस्पृष्ट रही हैं या उनमें लेखन बहुत ही कम हुआ है। आत्मकथा-लेखन संस्कृत में नहीं के बराबर है। जो दो एक आत्मकथा परक कृतियां मिलती भी हैं वे अंग्रेजी की आत्मकथापरक कृतियों का संस्कृत में अनुवाद ही हैं जैसे सत्यदेव वासिष्ठ का 'सत्यसंशोधनम्' जोकि महात्मा गान्धी की आत्मकथा My Experiments With Truth का संस्कृत में अनुवाद है या अमीरचन्द्र शास्त्री का 'नेहरूचरितम्' जो कि पण्डित नेहरू की आत्मकथा का संस्कृत रूपान्तर है। स्वतन्त्र रूप से संस्कृत में आत्मकथा का लेखन नहीं के बराबर है। केवल एक कृति की ही सूचना इस समय मेरे पास है और वह है वन महाराज रचित 'ईश्वरदर्शनम्।' ऐसा नहीं कि ऐसे कोई विशिष्ट व्यक्ति नहीं थे जो संस्कृत में आत्मकथा न लिख सकते हों। माधव श्रीहरि अणे स्वातन्त्र्य संग्राम के महान् योद्धा थे और उस संग्राम की अनेक घटनाओं के प्रत्यक्षद्रष्टा भी। उनकी आत्मकथा उनके युग की अनेक घटनाओं पर प्रकाश डाल सकती थी। स्वातन्त्र्य योद्धा होने के साथ-साथ वे संस्कृत के प्रकाण्ड पण्डित भी थे। उन्होंने लोकमान्य तिलक की जीवनी 'तिलकयशोऽर्णवः' नाम से लिखी जोकि, जैसा पहिले कहा जा चुका है, तीन भागों में प्रकाशित हुई थी। वे चाहते तो अपनी जीवनी लिख सकते थे। पर उधर उनका ध्यान गया नहीं। तिलक स्वयं संस्कृत के उद्भट विद्वान् थे। उनका संस्कृत पाण्डित्य उनके एक पद्यांश की पदशय्या से ही स्पष्ट है। अपना परिचय देते हुए वे कहते हैं - बालो गाङ्गाधरिश्चाहं तिलकान्वयजो द्विजः। गाङ्गाधरिः गङ्गाधरस्यापत्यं पुमान्, अत इञ् से इञ् प्रत्यय के साथ बना यह शब्द कोई परिनिष्ठित वैयाकरण ही कर सकता है। उन्होंनें गीतारहस्य तो लिखा, आत्मकथा नहीं। यह विधा अछूती ही रह गई।

पत्र साहित्य की भी संस्कृत वाङ्मय में बहुत कमी है। इसमें दो तीन कृतियां ही देखने में आती है - एक, शिवाङ्गना शर्मा द्वारा सम्पादित, आचार्य नवलकिशोर काङ्कर का 'पत्र-साहित्यम्', दूसरा मेरा पत्रकाव्यम्। शायद एकाध कृति कोई और हो। इस ओर भी संस्कृत विद्वानों का ध्यान आवश्यक है। अनेक विद्वान् संस्कृत में पत्र लिखते हैं पर उनकी प्रतिलिपियां वे अपने पास नहीं रखते अतः उनका एकत्र सङ्कलन सम्भव नहीं हो पाता। मेरे स्वयं के कार्यकाल के प्रथम दशक का, 1954-64 तक का, कोई भी पत्र मेरे पास नहीं है। सबसे

पहिला जो पत्र मुझे अपनी संचिकाओं, फाइलों में, उपलब्ध हुआ वह 1964 का है और पद्यमय है। इसके बाद जितने भी पत्र मुझे मिले या यूं कहिये की पत्रों की प्रतिलिपियां मुझे मिल सकीं वे सब पद्यमय हैं। स्पष्ट है गद्यमय पत्रों की प्रतिलिपि मैंने बनाई नहीं। यह वह युग था जब प्रतिलिपियां हाथ से ही बनाई जाती थीं, चित्र प्रतिलिपि, फोटोकापी, का तब चलन नहीं था और जैसा कि स्वाभाविक है हाथ से प्रतिलिपि बनाने में व्यक्ति आलस्य कर ही जाता है। इस प्रकार मेरा विपुल गद्यमय पत्र वाङ्मय लुप्त हो गया। उसके पद्यमय भाग का कुछ अंश ही पत्रकाव्यम् के रूप में प्रकाशित हो सका। इस अंश भर में भी 2222 पद्य हैं। इसके प्रकाशन से अब तक अनेक पद्यमय संस्कृत पत्र मैंने और लिखे हैं जिन्हें पूर्व प्रकाशित पत्रकाव्यम् के ही द्वितीय भाग, Companion Volume के रूप में प्रकाशित करवाने की मेरी इच्छा है। इसमें भी दो हज़ार पद्य होगें। मेरे पितृचरण पण्डित चारुदेव शास्त्री प्रायः संस्कृत में ही पत्र लिखा करते थे। काश उनकी प्रतिलिपियां रखी गई होतीं। आज वे संस्कृत साहित्य की अमूल्य निधि होतीं। पण्डिता क्षमाराव की सुपुत्री पण्डिता लीलाराव दयाल से मिलने मैं एक बार मुम्बई गया था। उन्होंने मुझे एक एल्बम दिखाया था जिसमें उन्होंने अपनी माता श्रीमती क्षमाराव को और उन्हें स्वयं को अनेक संस्कृत विद्वानों द्वारा लिखे गये पत्रों का संकलन था। उन पत्रों में मेरे पितृचरण का श्रीमती क्षमाराव को लिखा एक पत्र भी था जिस की चित्र प्रतिलिपि उन्होंने मुझे बनवा दी जो आज मेरी एक अमूल्य निधि है। वह पत्र इस प्रकार है -

लवपुरीय
श्रीदयानन्दकालेजतः
कार्तिकेऽसितचतुर्थ्याम्।

विपश्चिदपश्चिमे सुगृहीतनामधेये! नमस्ते। यद्गुण्या ऽत्रभवती सत्याग्रहगीताख्यपुस्तिकानिर्मितौ स्वं व्यापारितवती तन्नाम नितरां प्रसादयति नश्चेतः। अद्यत्वे विरला एव जनाः श्रेयस्कामा ईदृक्षेषु पुण्येषु यशस्येषु च कर्म्मसु प्रवर्तन्ते। नहि महात्मनां चरितस्तवनादृतेऽपरमाभ्युदयिकं किञ्चित्। प्रायेणार्थमुद्दिश्यैव प्रवर्तते लोकः, सुधीरिति च व्यपदिश्यते। परमल्पा एव सुकृतिनो मानवाः पेरषां शर्म्मणे यतन्ते, स्वकमर्थञ्च विनियुञ्जते, कष्टानि च सहन्ते। अतः प्रकृतया कृत्या सर्वथा मान्यासि नः। अवन्ध्यं ते जन्म। कृतिरपीयं बहुगुणा। एष हि प्रसत्तिमानुदात्तार्थगुम्फः पद्यरचनायामसामान्यां नैपुणीं भावत्कीं विद्योतयति। निश्वसितप्रायश्च वाक्प्रसरः सुतरां हारी। इमं प्रबन्धं प्रत्यहमालोचयामि। क्वचित् पदानि परिवृत्तिसहानि प्रत्यवभासन्ते तानि तथा निर्देक्ष्यामि। इतरदपि यच्छोधनार्हं तदपि साधूकृत्याचिरेण

पुस्तिकां प्रत्यावर्तयिष्यामि। आशासे पुण्यकर्मनिरता सर्वथा कुशलिनी श्रीमतीति।

अनुग्रहमभिलाषुकः

चारुदेवश्शास्त्री।

अंग्रेज़ी आदि भाषाओं में पत्र साहित्य का भण्डार है। इक्कीसवीं शती में संस्कृत साहित्य की इस क्षेत्र में भी समृद्धि अपेक्षित है।

मैंने श्रीमती लीलाराव दयाल को इन सभी पत्रों का ग्रन्थ रूप में प्रकाशित करने का सुझाव दिया था जिसे उन्होंने बहुत पसन्द किया था। पर विधि का विधान! यह सुझाव कार्यान्वित नहीं हो पाया और संस्कृत जगत् एक महत्त्वपूर्ण कृति से वंचित रह गया। आज श्रीमती लीलाराव दयाल इस संसार में नहीं हैं। उन पत्रों का क्या हुआ कोई नहीं जानता। अगर उन पत्रों की एल्बम कहीं होगी तो उसे प्राप्त करना आसान नहीं होगा। मैंने उस एल्बम में से कुछ पत्रों को पढ़ा था। अपने युग के मूर्धन्य मनीषियों ने वे पत्र भेजे थे। उनमें से कुछेक में तो अद्भुत साहित्यिक पुट था और उनकी भाषा की प्राञ्जलता और प्रवाहमयता देखते ही बनती थी।

पत्र साहित्य दो-तीन या तीन चार पत्र सङ्ग्रहों के रूप में ही सही अर्वाचीन संस्कृत वाङ्मय में मिल तो जाता है। पर डायरी साहित्य का इसमें अत्यन्ताभाव है। अंग्रेज़ी आदि में यह प्रचुर है - Emerson's Diary आदि। पाश्चात्य जगत् के मूर्धन्य मनीषियों ने इसमें भरपूर योगदान दिया है। इक्कीसवीं शती के संस्कृत साहित्यकार इस दिशा में अग्रसर होगें यह आशा है। जिसमें कथा आठ या दस पक्तियों में ही जाता है। अतिलघुकथा, Mini Story, का चलन भी संस्कृत वाङ्मय में नहीं है। देवर्षि कलानाथ शास्त्री ने अपनी कथानकवल्ली की भूमिका में इसका सङ्केत किया है। अपराधान्वेषण कथा Detective Story के अभाव को भी उन्होनें इसमें उद्घृत किया है। इन दिशाओं में संस्कृत साहित्यकारों का योगदान अपेक्षित है।

फ़ारसी में साहित्य की एक विधा है जिसे वहां मल्फ़ूज़ात कहा जाता है। इस विधा का वाङ्मय वहां अति प्रचुर है। वहाँ यह प्रथा है कि वहाँ के शिष्यजन अपने गुरुजनों की दैनन्दिनी, डायरी, लिखते हैं; गुरुओं ने दिनभर में क्या किया, कौन उनसे मिलने आया, क्या चर्चा उन्होंने उनसे की आदि-आदि। इस प्रकार की सैंकड़ों कृतियां शिष्यों द्वारा अपने गुरुजनों के दैनिक कार्यों के बारे में लिखी गई वहां मिलती है। मैंने अपने पत्रकाव्यम् के उपसंहार में संस्कृत में विरल उपलब्ध विधाओं के उल्लेख एवञ्च संस्कृत वाङ्मय के समृद्ध करने के प्रसङ्ग में फ़ारसी की इस विधा की विशेष रूप से चर्चा की है। जो इस प्रकार है -

प्रत्येकमह्नो भवते गुरोर्यद्

यज्जीवने कस्यचनापि तत्तत्।

तदीयशिष्या: क्रमश: स्ववाचा

पारस्यदेश्या उपवर्णयन्ति।।

यद्यच्च तेषां गुरवो ब्रुवन्ति

यद्यच्च तेऽन्यै: सह चर्चयन्ति।

हितेच्छया वोपदिशन्ति यद्वाल्

लिखन्ति शिष्या: स्वगिरा हि तत्तत्।।

पारस्यदेशे भूतरां प्रसिद्ध:

प्रवर्ततेऽद्यापि शुभ: क्रमोऽयम्।

प्रक्कालिकानामपि येन बोध:

संजायते नैकबुधाग्रगाणाम्।।

एतद्विधा पद्धतिरस्मदीये

न संस्कृते वाङ्मय इत्यतो न:।

न नामबोधोऽपि पुरातनानां

महायशः संस्कृतपण्डितानाम्।।

शिष्यै रचितमेतादृग् गुरुसम्बन्धि वाङ्मयम्।

पारस्यां कीर्त्यते वाचि मल्फ़ूजातेतिसंज्ञया।।

तत्रत्यं विपुलं चापि पत्रवाङ्मयमद्भुतम्।

बुधैर्मक्तूबनिगारीति संज्ञया तत्र कीर्त्यते।।

संस्कृतेऽपि भवेदेतद्यदि तर्हि समेधितम्।

भवेत्तद्वाङ्मयं भूयो नास्त्यत्र मम संशय:।।

संस्कृत वाङ्मय का जो अंश असमृद्ध है वह भी समृद्ध हो यह समय की मांग है।

अन्त में एक बात और। मेरे जीवन के अनेक वर्ष दक्षिण पूर्व एशिया में बीते हैं। जिसे मैंने बहुत निकट से देखा है। मैंने पाया है कि वहां की भाषा में संस्कृत के शब्द प्रचुर हैं और यह तब जबकि उनका संस्कृत के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। वे संस्कृत मूल की नहीं हैं। शताब्दियों से वाणिज्य-व्यवसाय एवं धर्म-प्रचार के लिये वहां जाने वाले भारतीयों के माध्यम से वे वहां अपना लिये गये हैं। किञ्च, विदेशी भाषाओं के परिभाषिक शब्दों को अपनी भाषा

में रूपान्तरित करने ... प्रयास में वहां ...
कारण उनका संस्कृ... ...न्तर कर उन्हें ...
एशिया के देशों की ... ...तमूलक शब्दाव...
रोचक एवं मनोहर ... है। मुम्बई के ...
अपने हाथ में लिया ... और उसके संयो...
उन शब्दों को देखता ... चमत्कृत हो ...
किया। यदि किसी ... भी यह कहना ...
अर्थात् आग्नेय एशि... एशिया का वहाँ
संस्कृत का आग्नेय ... उत्तर पूर्व के लि...
के लिये प्रपा शब्द है ... प्रपा पानीयशालि...
लिये धनपत्र, तार के ... दूरलेख, डाक
कहा जाता है जो ... की अपेक्षा
सटीक शब्द है टेली... के लिये दूरशब्...
सुगम है। मलय भाषा ... prejudice के ...
शब्द है घात। इण्डोने... में इसी जैसा
शब्द है गुरुदोष। Jud... को वहां कहा
तुला न्याय का प्रती... है। अनेक देशों
Communication अथवा Means of Co...
गमनागमन। शिल्पकार ... वहां आज ...
अपरिमित ऊर्जा का ... प्रभाव है कि इण्...
शब्द है अचिन्त्यभाव... हाथी के लिये अ...
पुत्री के लिय वे शब्द ...। थाई में शौचाल...
सुखभाव। भोजन के ... वहां शब्द है ...
कानूनी कारवाई Legal Proceedings भी ...
विस्म या वेश्म। सैन्य ...ालय Army H...
जानवरों के लिये वहां शब्द है लोकस...
इण्डोनेशिया के खेल ...करण या Sports
नाम है - शासन अ... क्रीड़ा। इण्डोनेशि...
बात ध्यान आकर्षित ... है कि दक्षिण ...
अनेक शब्द का प्रयोग है। बहूद्देश्यीय अथ...

...वासियों ने संस्कृत शब्दों से पूर्वपरिचित होने के
...अपनी भाषा में समाविष्ट कर लिया। दक्षिण पूर्व
... पहिचान और उसका सङ्कलन अपने में अत्यन्त
... विद्याविहार ने एक बृहद योजना के रूप में इसे
... कार्य मुझ अकिञ्चन को ही सौंपा है। मैं जब
...हूँ। अभी दक्षिण पूर्व एशिया शब्द का मैंने प्रयोग
... वह कहेगा 'आसिया आखने', एशिया आग्नेय
...या की तरह उच्चारण किया जाता है, आखने
... ईसान, ईशान शब्द का प्रयोग है। वाटरवर्क्स
...कलेण्डर के लिये शब्द है - प्रतिदिनम्। चेक् के
... के लिये प्रेषणी। वायुयान को वहां आकाशयान
... सटीक प्रतीत होता है। इसी प्रकार अधिक
... दूरभाष से कम भारी और अपेक्षाकृत अधिक
...शब्द है पूर्वशङ्का। लाओ भाषा में प्रहार के लिये
...शब्द है अवघात । भारी अपराध के लिए लाओ
... है तुलाकान्, तुलाकार जोकि बहुत सटीक हैं।
... न्याय का चिह्न तुला ही है। संचार माध्यम
...unication के लिये वहां शब्द है गमनागोम्,
...शिल्पकार भी कहा जाता है। यह संस्कृत की
...शया की भाषा में खालीपन या निराशा के लिये
...ी गज शब्द ही प्रयुक्त है। इसी प्रकार पुत्र और
... लिये शब्द है सुखा और स्नान आदि के लिये
... मलय में विचार शब्द का चर्चा के अतिरिक्त
...है। इण्डोनेशिया में अट्टालिका के लिये शब्द है
...quarter के लिये वहां का शब्द है गृह पूर्णायुध।
और चिड़ियाघर, Zoo, के लिये अनेकसत्त्व।
...thority of Indonesia का इण्डोनेशिया भाषा का
...से थाईलैण्ड की ओर फिर लौट के आयें। यह
एशिया की अनेक भाषाओं में अनेक प्रकरणों में
Multipurpose के लिय थाई भाषा में शब्द है -

अनेक प्रसोङ्, अनेक प्रसङ्ग । उस फल का जिसे अपने यहां शरीफा कहा जाता है का इण्डोनेशिया का नाम है श्रीकाय।

सामान्यत: एक वर्ष के भीतर-भीतर दक्षिण पूर्व एशिया की संस्कृत मूलक शब्दावली का कोश संस्कृत जगत् को उपलब्ध हो जायगा। संस्कृत के लेखक उसमें से उपयोगी शब्द ले सकते हैं और अपनी रचनाओं में उनका प्रयोग कर सकते हैं। कभी ये शब्द भारत से गये थे। अब उनकी वापसी की यात्रा प्रारम्भ हो सकती है। इस यात्रा को प्रारम्भ होना ही चाहिये। इक्कीसवीं शती इसी ओर सङ्केत कर रही है।

इक्कीसवीं शती में संस्कृत के लिये करने को बहुत कुछ है। यह विश्व की प्राचीनतम भाषा भी है और नवीनतम भी। यही इसकी विलक्षणता है। सृष्टि के आदिम काल में भी यह थी और आज इक्कीसवीं शती में भी यह है।

If there is a work with more than one manuscript and which is not the copy of the same, the editor has a scope to compare the readings and pick one among them either on the principle of the one figuring in a larger number of the manuscripts or the one that appears to him to be more suitable to the context and the diction. So in some where the work has commentary or commentaries that also helps the editor in the choice of picking up a particular reading. It also helps him in pronouncing on the genuineness or otherwise of a text. A fuss was the case with the Kumārasambhava of Kālidāsa. Apart from the clear difference in style and vocabulary, it has been an additional factor in Mallinātha having commented upon its portion from canto VIII onwards in motivating scholars in pronouncing it ~~from~~ a later addition. The same is the case with the Meghadūta where Mallinātha's commentary runs upto stanza   only while some of its manuscripts go upto stanza   . With regard to texts we have a single manuscript, and that too in a bad state, corrupt and broken with no commentary thereon the difficulties of the editor multiply manifold. With no other manuscript, he has no choice to compare the readings and has to depend on his ingenuity to restore the text, if it is broken or corrupt or incoherent. In my study of the Sanskrit Dūtakāvyas or Sandeśakāvyas as they are called in South India in which I have been engaged for the past couple of years I have come across two of two Jaina writers, one the Jaina Meghadūta of Merutuṅgācārya and the other, the Indudūta of Vinayavijayagaṇi both of which are based on a single manuscript. While the manuscript of the Jaina Meghadūta is based on a manuscript which is in a fairly good condition, the Indudūta is based on one that is highly corrupt. The editor did not exert to set the text right, a task expected of him. This is what I have attempted to do.

The Jaina Meghadūta purports to describe in its 196 verses divided in four cantos the life of Neminātha when he was a child and his acts of valour (Canto I), the season of spring and his sports in it (Canto II), his marriage with Rājīmatī and his renunciation of householder's life (Canto III) and the love-lorn condition of Rājīmatī and the message she sends through a cloud she entices to woo him back to her. Rājīmatī's friends console her and tell her as however she may try, her husband would develop no longing for her. Sad and forsaken she goes to him, gets initiation from him and like him secures freedom from the worldly attachments.

Hon'ble Vice-Chancellor, Professor M.P. Unni Muralimadhavan, distinguished members of the Faculty of the Sree Sankara University, the learned members of the audience and dear students,

It is a great pleasure for me to be with you this forenoon at a place hallowed by the birth of one of India's greatest saint-philosophers Ādi Śaṅkarācārya. I had visited the site a couple of decades back. It has grown since then into the site of a University now appropriately named after the legendary saint.

It is so thoughtful of the University to have organized a national Seminar on Bhāsa for it was in this region that the famous T. Gaṇapati Śāstrī had discovered the plays which he later edited and published from Trivandrum providing the new nomenclature (the) plays of Trivandrum plays. After Gaṇapati Śāstrī C.R. Devadhar brought them out under the title Bhāsanāṭakacakram, a term inspired by their reference to them as such by Rājaśekhara in the context of the Svapnavāsavadatta having escaped flames when connoisseurs flung all of them into fire. Later a few of these plays were published by other scholars with translation in English, Hindi and other regional languages. They all of them, numbering thirteen form a big corpus of Sanskrit dramatic literature. And if they are taken to be by one single author as Gaṇapati Śāstrī and some others in agreement with him have shown who was no other than the celebrated Bhāsa reverentially referred to by such celebrities as Kālidāsa, Bāṇa and Rājaśekhara, he is just the only one in the vast galaxy of Sanskrit playwrights of the ancient period with so much of literary output in the field of Sanskrit drama. Not only this, he stands out in the galaxy who has tried his hand at a variety of dramatic forms. Though Bāṇa has termed the plays as Nāṭakas, nāṭakair bahubhūmikaiḥ, they are not really so.

Nāṭaka is one of the ten varieties of a Rūpaka. Bāṇa probably has used the term in the loose sense of a dramatic composition, as it is being used now in vernaculars. Unless it were to be presumed that he was referring to some other set of plays ~~who~~ that were all of the nāṭaka variety. The author of the plays, Bhāsa or not, has given us a mixed fare of plays, ~~nāṭakas~~ of which a few are Nāṭakas, one is Vyāyoga, one is Nāṭikā, one is Prakaraṇa and a few ~~are of the Aṅka variety~~ [illegible] stand in a category in themselves.

Keynote Address of Prof. Dr. Satya Vrat Shastri at the Colloquium

On

ORIENTALISM AND ITS IMPACT ON SANSKRIT STUDIES

Satya Vrat Shastri

Prof. Shripad Bhat, Prof. Shubhangana Atre, Members of the Faculty of the Tilak Maharashtra Vidyapeeth, Fellow Delegates and Learned Friends in the audience,

I deem it a great privilege to be with you this forenoon and share some of my thoughts on the interesting and important topic of Orientalism and its impact on Sanskrit studies. Before I come to the topic proper, I would like to reflect for a while on the orientalism which derives itself from the word orient which means countries to the east of the Mediterranean, especially the countries of Asia. Occident and orient are relative terms. To the people of the Occident, the Europeans, the people of Asia that includes our own country India, are orientals. They are to their east. It looks incongruous to find Indians calling themselves oriental and using the term to designate all that belongs to them. We have the use of this word in the names of some of our very prestigious institutions like the Govt. Oriental Manuscript Library, Chennai, Oriental Research Institute, Mysore, Oriental Institute, Vadodara, Bhandarkar Oriental Research Institute, here in Pune itself. It also figures in the name of the Conference called the All India Oriental Conference. Indology is a better term in place of Orientology.

Orientalism in the theme of the Colloquium may be interpreted to mean the Western System as it came to be introduced in India in the wake of the coming in of the British who had their own world view with which they looked at things they came into contact with.

When two systems meet it is inevitable that they should impact each other. The degree of impact varies with the identity of the systems, whose system it is. If it is that of the conquerors, the subjugators, it would hold its sway over the that of the subjugated. The very fact that the people holding on to theirs came to be subjugated come to accord in their view less importance to it . They, overawed by the superior might of the subjugators, allow to have their system an upper hand. And this is precisely what happened in India during the past two centuries or so.

For thousands of years Sanskrit was pursued in Pathashalas, Gurukulas, Tols and Vidyalayas which were more patronized by private initiative than the State one. The funding for them came from society, the more affluent members of it, who were philanthropically inclined. These institutions which in primary stage were either single teacher units and at higher level had but a couple of teachers dotted the entire landscape of India. It is through them that the fountain of

knowledge flowed and irrigated the minds of countless millions throughout the length and breadth of the vast stretches of this sprawling country.

Sanskrit teaching in them meant primarily the teaching of the old texts, line by line, unraveling their meanings. The teacher who had learnt them from his teacher through hard labour would put in an equal amount of hard labour to interpret these to his pupils who had to follow a rigorous routine. The more proficient one would be in comprehending the text line by line the more scholarly would he be taken. That was the paṅktipāṇditya. To achieve it was the desired aim.

In the Vaidika Pathashalas the alumni were expected to commit to memory the whole texts according to prescribed rules even the slightest deviation from them being frowned upon. In the primary stages the basic texts like the Aṣṭādhyāyī and the Amarakoṣa were assiduously committed to memory. The idea was to exercise full control over vocabulary and the grammatical correctness of speech. A very popular saying in traditional Sanskrit circles was, and still is : aṣṭādhyāyī jaganmātā 'marakoṣo jagatpitā, "Aṣṭādhyāyī is the mother of the universe and Amarakoṣa is the father of the same. If one has cultivated both, one's success in life is assured.

Disquisitions or the Śāstrārthas were the norm in those days and the Vidvatsadas-s where they were carried on were the vogue. It may be interesting to note here that till recently in U.P. and Bihar in Brahmin marriages when the groom's party would arrive at the brides' place, there would be Śāstrārtha between the priests of the two parties the result of which was keenly watched by all those present.

With the coming in of the British a new system of schools and colleges came to be introduced where Sanskrit came to be reduced to one of the subjects among many. Obviously the number of texts to be studied had to suffer reduction, the more abstruse and abstract of them being completely sidelined, that coming to be the sole preserve of the traditional Pundits, a fast diminishing fraternity with the existing traditional Sanskrit institutions also inserting in their curricula modern subjects in keeping with the demands of the age which would not accept a unilinear approach. Though through the introduction of Honours course at the graduate level and specialization at the post-graduate level an effort was made to remedy the situation, it was not enough to lift up the Sanskrit learning to the level of profundity which is the hall mark of traditional one. With schools having no Śāstric learning how much Hons. and Master's courses would have of the Śāstras? Moreover, the approach was different. In the modern system, it was more varied, along with the textual content much about the text, its authorship, its date, impact on it on earlier texts or of it on later ones, to impinge on the time possible of devoting to mastery of it line by line going by the name of uncritical approach, the former appropriating to itself the more exalted position of the critical one.

Here I may like t take a break and recount a personal anecdote that may throw light on the difference in approach in the two systems, western and the traditional Indian. I am a product of the both the systems, traditional and modern. My teacher from I studied the *Vākyapadīya* was a Professor at the Govt. Sanskrit College, Varanasi. The place of his stay and that of mine were very close to each other. I would accompany him every morning to the College. On the way we would discuss many things. One day I asked him as to what he thought about the authorship of the Nighaṇṭu which was the text which the famous Yāska had expounded in his Nirukta. I spoke to him about the three different theories in this connection. According to one Dakṣa Prajāpati was its author, according to the other, it was Yaska himself and according the to the third it were the early scholars, the Pūrvācāryas. My teacher told me that he has not given any thought to it. He is more concerned with what is in the *Nighaṇṭu* rather than what is about it. That sums up the attitude of the traditional Pandits about the old texts and that is more eloquent than anything else in highlighting the difference in approach.

Quite a few of the old Sanskrit texts have a large number of known commentaries, the *Bhāgavatapurāṇa* eleven, the Vālmīki *Rāmāyaṇa* six, the *Yogavāsiṣtha* thirteen (including twelve still in manuscript), the *Kāvyaprakāśa* fourteen (that are published; reportedly many more) but none of them engages itself with the question of the date and the authorship of these works. There is nothing in the old commentaries about the Bālakāṇḍa and the Uttarakāṇḍa being later additions to the Vālmīki *Rāmāyaṇa*, a question discussed by scholars, both Indian and western, extensively. The date of the *Yogavāsistha* still hovers anywhere between 6th cen. A.D. to the first half of the 10th cen. A.D. with each scholar pushing his own set of arguments for or against one view or the other.

Orient has always been a mystery to the Occident. To unravel it, to have a peep into its past and present has been a passion with it. That is why even the Jesuit priests who have been visiting India prior to the coming in of the East India Company or people of other persuasions have been interested in discovering for themselves the ancient wisdom of India. That accounts for their interest in Indian works that were in manuscript at that time. They collected them and brought them along to their countries on getting back. Later they gave them to some institutions therein. That is how big collections of them came be built up in countries of Europe over the years. Of these manuscripts a good number of them were in Sanskrit.

With the coming in of the British the process got a fillip. All this resulted in sizeable collections of manuscripts in such institutions as Bibliotheque Nationale, Paris, the India Office Library, London, the British Museum, London, the Bodlien Library, Oxford, the Cambridge University Library, Cambridge and the libraries of the Indological Institutes, the Seminars fur Indologie of Goettingen, Tubingen, Munich, the Staat Bibliothek, Berlin and so on of Germany

Here I may like t take a break and recount a personal anecdote that may throw light on the difference in approach in the two systems, western and the traditional Indian. I am a product of the both the systems, traditional and modern. My teacher from I studied the *Vākyapadīya* was a Professor at the Govt. Sanskrit College, Varanasi. The place of his stay and that of mine were very close to each other. I would accompany him every morning to the College. On the way we would discuss many things. One day I asked him as to what he thought about the authorship of the Nighaṇṭu which was the text which the famous Yāska had expounded in his Nirukta. I spoke to him about the three different theories in this connection. According to one Dakṣa Prajāpati was its author, according to the other, it was Yaska himself and according the to the third it were the early scholars, the Pūrvācāryas. My teacher told me that he has not given any thought to it. He is more concerned with what is in the *Nighaṇṭu* rather than what is about it. That sums up the attitude of the traditional Pandits about the old texts and that more eloquent than anything else in highlighting the difference in approach.

Quite a few of the old Sanskrit texts have a large number of known commentaries, the *Bhāgavatapurāṇa* eleven, the Vālmīki *Rāmāyaṇa* six, the *Yogavāsiṣṭha* thirteen (including twelve still in manuscript), the *Kāvyaprakāśa* fourteen (that are published; reportedly many more) but none of them engages itself with the question of the date and the authorship of these works. There is nothing in the old commentaries about the Bālakāṇḍa and the Uttarakāṇḍa being later additions to the Vālmīki *Rāmāyaṇa,* a question discussed by scholars, both Indian and western, extensively. The date of the *Yogavāsiṣṭha* still hovers anywhere between 6th cen. A.D. to the first half of the 10th cen. A.D. with each scholar pushing his own set of arguments for or against one view or the other.

Orient has always been a mystery to the Occident. To unravel it, to have a peep into its past and present has been a passion with it. That is why even the Jesuit priests who have been visiting India prior to the coming in of the East India Company or people of other persuasions have been interested in discovering for themselves the ancient wisdom of India. That accounts for their interest in Indian works that were in manuscript at that time. They collected them and brought them along to their countries on getting back. Later they gave them to some institutions therein. That is how big collections of them came be built up in countries of Europe over the years. Of these manuscripts a good number of them were in Sanskrit.

With the coming in of the British the process got a fillip. All this resulted in sizeable collections of manuscripts in such institutions as Bibliotheque Nationale, Paris, the India Office Library, London, the British Museum, London, the Bodlien Library, Oxford, the Cambridge University Library, Cambridge and the libraries of the Indological Institutes, the Seminars fur Indologie of Goettingen, Tubingen, Munich, the Staat Bibliothek, Berlin and so on of Germany

The British East India Company took up the work of collection of manuscripts in a systematic manner. For each region it appointed manuscript surveyors. The prominent ones for the eastern region that comprised the Bengal Presidency and included Bihar, Bengal, Orissa and Assam were Rajendra Lal Mitra and Har Prasad Shastri. For the western region were Peterson, G. Buhler, Kielhorn and R.G. Bhandarkar, for the southern region were K. Pisharody, T. Ganapati Sastry and Vasudevan Pillai, for the northern region, particularly for Varanasi, were Arthur Venice, Vindhyeshwsari Prasad Dwivedi, Gopinath Kaviraj and so on.

The total number of Sanskrit manuscripts in various collections all through the country is upward of three million.

The eagerness for search for manuscripts led to such initiatives as the expedition to Gobi desert under the leadership of Sir Aurel Stein. The expedition known as the Turfan Expedition led to the discovery of a large number of important manuscripts. Called after Stein, the Stein Collection, they are now with the Hungarian Academy of Sciences, Budapest. The collection was catalogued in eight volumes under the title Sanskrit *Handschriften Ausden Turfan*. A similar initiative led to the expedition to Gilgit and an important find of manuscripts from there called the Gilgit Manuscripts. The first lot of these was discovered by Sir Aurel Stein and the second by Madhusudan Kaul. The second one is now with the National Archives, Srinagar.

Indigenous effort in collection and preservation of manuscripts prior to the contact with the west owes itself in part to the initiative of the local rulers. The Anup Library at Bikaner, the Maharaja's Library called Pothikhana earlier, at Alwar which is now with the Prachya Pratishthan, Raja Man Singh Pustak Prakash at Jodhpur, the Pothikhana at Jaipur, the T.S.S.M. Library at Tanjore the Maharaja's Library at Travancore which is now with the Oriental Manuscrpt Library and Research Department, Kerala University, Kariavattom Campus, Thiruanathapuram are the contributions of the enlightened rulers of the time. In another part the effort owes itself to certain communities like the Jains who built big collections of Jain manuscripts, called the Bhāṇḍāgāras mainly in Gujarat. During the British times the manuscripts were also preserved in the libraries of the Oriental Colleges and the Oriental Libraries like the Govt. Oriental Manuscript Library, Madras set up at that time.

The need was felt to catalogue all these collections both in India and abroad. Apart from the individual catalogues brought out by the respective institutions comprehensive ones were also undertaken like the Sanskrit *Handscriften um Deautchland*, the Sanskrit Manuscripts of Germany, in twelve volumes, the *Catalogus Catalologurum* of Aufrecht and the *New Catalogus Catalogurum* initiated by V. Raghavan and currently in progress at the University of Madras, Chennai.

The British East India Company took up the work of collection of manuscripts in a systematic manner. For each region it appointed manuscript surveyors. The prominent ones for the eastern region that comprised the Bengal Presidency and included Bihar, Bengal, Orissa and Assam were Rajendra Lal Mitra and Har Prasad Shastri. For the western region were Peterson, G. Buhler, Kielhorn and R.G. Bhandarkar, for the southern region were K. Pisharody, T. Ganapati Sastry and Vasudevan Pillai, for the northern region, particularly for Varanasi, were Arthur Venice, Vindhyeshwsari Prasad Dwivedi, Gopinath Kaviraj and so on.

The total number of Sanskrit manuscripts in various collections all through the country is upward of three million.

The eagerness for search for manuscripts led to such initiatives as the expedition to Gobi desert under the leadership of Sir Aurel Stein. The expedition known as the Turfan Expedition led to the discovery of a large number of important manuscripts. Called after Stein, the Stein Collection, they are now with the Hungarian Academy of Sciences, Budapest. The collection was catalogued in eight volumes under the title Sanskrit *Handschriften Ausden Turfan*. A similar initiative led to the expedition to Gilgit and an important find of manuscripts from there called the Gilgit Manuscripts. The first lot of these was discovered by Sir Aurel Stein and the second by Madhusudan Kaul. The second one is now with the National Archives, Srinagar.

Indigenous effort in collection and preservation of manuscripts prior to the contact with the west owes itself in part to the initiative of the local rulers. The Anup Library at Bikaner, the Maharaja's Library called Pothikhana earlier, at Alwar which is now with the Prachya Pratishthan, Raja Man Singh Pustak Prakash at Jodhpur, the Pothikhana at Jaipur, the T.S.S.M. Library at Tanjore the Maharaja's Library at Travancore which is now with the Oriental Manuscrpt Library and Research Department, Kerala University, Kariavattom Campus, Thiruanathapuram are the contributions of the enlightened rulers of the time. In another part the effort owes itself to certain communities like the Jains who built big collections of Jain manuscripts, called the Bhāṇḍāgāras mainly in Gujarat. During the British times the manuscripts were also preserved in the libraries of the Oriental Colleges and the Oriental Libraries like the Govt. Oriental Manuscript Library, Madras set up at that time.

The need was felt to catalogue all these collections both in India and abroad. Apart from the individual catalogues brought out by the respective institutions comprehensive ones were also undertaken like the Sanskrit *Handscriften um Deautchland*, the Sanskrit Manuscripts of Germany, in twelve volumes, the *Catalogus Catalologurum* of Aufrecht and the *New Catalogus Catalogurum* initiated by V. Raghavan and currently in progress at the University of Madras, Chennai.

The biggest collection of Sanskrit manuscripts is with the Sarasvati Bhavan Library of the Sampurnanand Sanskrit Vishvavidyalaya, Varanasi. It has one lakh and twenty-five thousand catalogued manuscripts. Besides these there are thirty thousand uncataloged manuscripts in Oriya script discovered from Orissa which are one part of the find from there, the other part being with the State Museum, Bhubaneswar.

The splurge for search for Sanskrit manuscripts generated by western scholars led to the discovery sometimes of rare finds in India and abroad. The plays that Bāṇa refers to in his *Kādambarī* with their special characteristics and which are frequently quoted in works on rhetorics and whose author Bhāsa finds a reverential mention from such a celebrity as Kālidāsa in his *Mālavikāgnimitra* were discovered by T. Ganapati Sastri from a chance recovery in the course of his search of manuscripts of a palm-leaf codex in Malayalam which contained ten of the now well-known of thirteen of them as also one, later identified as *Dūtavakya* in a mutilated state. The search continuing, he was able to lay his hands on more manuscripts of them thus completing the full picture of the thirteen plays. Another equally great find was the Paippalada recension of the *Atharvaveda* by Durgamohan Bhattacharya from Orissa two small tracts from which he published from the Asiatic Society, Kolkata. The full text of it was later brought out by his illustrious son Deepak Bhattacharya.

The next step to the procurement and preservation of the manuscripts was their publication. Scholars thought to bring out in print as many of them as possible. With this started a series of publications some of the more prominent of them being the Sacred Books of the East Series which Max Muller edited, the Kavyamala Sanskrit Series, the Gaekwad Oriental Series, the Trivandrum Sanskrit Series. The Chowkhamba Sanskrit Series with their off-shoots of Benaras Sanskrit Series and Kashi Sanskrit Series, the Anandashram Sanskrit Series, the Calcutta Govt. Sanskrit College Series, the Bhandarkar Oriental Research Institute Series and so on. Some of the works appearing in these series were critically edited, some were not. Some works like the *Padamañjarī* of Haradatta and the *Śabdakaustubha* of Bhattojidīksita were published serially in the Sanskrit magazines the *Saṁskṛtacandrikā* and the *Sūnṛtavādinī* being brought out in the mid-nineteenth century, around 1850 or so from Varanasi.

Critically editing and constituting the text of a work was the greatest contribution of western scholars. Their Indian counterparts assimilated the methodology adopted by them which led to the appearance of such monumental works as the critical editions of the *Mahābhārata* and the *Rāmāyaṇa* by the Bhandarkar Oriental Research Institute, Pune and the Oriental Institute, Baroda respectively. Along the same lines is being brought out the critical edition of the Purāṇas by the All India Kashiraj Trust, Varanasi.

The other area wherein the western scholarship created its impact was the preparation of dictionaries like the *Worterbüch* by Roth and Bothlingk, the

Sanskrit-English Dictionary by M. Monier-Williams, the *Sanskrit-English Dictionary* by Vaman Shaivram Apte and the *Sanskrit Dictionary on Historical Principles* currently in progress at the Deccan College Post-Graduate and Research Institute, Pune which in their character are altogether different from the old Sanskrit lexicons like the *Amarakoṣa* and the later works like the *Śabdakalpadruma* and the *Vācaspatya* as also Concordances, Indices, Encyclopaedias like the multi-volume *Vedic Word Concordance* of the Vishveshvaranand Vedic Research Institute, Hoshiarpur, *A Vedic Concordance* by Maurice Bloomfield, *Concordance of the Principal Upanisads and the Bhagavadgita* by G.A. Jacob, *A Concordance of Sanskrit Dhātupāthas* by G.B. Palsule and the Indices like the *Index to the Names of the Mahābhārata* by Sorenson,*Mahābhāratanāmānukramanikā* from the Gita Press, Gorakhpur, Upanisadvākyamahākosa from the Gujarati Printing Press, Bombay, Pada Index of the Rāmāyaṇa by Harcharan, *Mahabharatapratikasuci*, the *Pada Index of the Mahābhārata* , forming the last volume of the critical edition of the *Mahābhārata* from Bhandarkar Oriental Research Institute, Poona, the *Word Index of the Mahābhārata* , in CD yet by Ramanujan, Pada Index of the Sanskrit Kavyas by Satya Pal Narang currently in progress,*Encyclopaedia of Vedānta* by Ram Murti Sharma, *Encyclopaedia of Hinduism* in progress in Hrishikesh and so on.. In line with the above is the appearance of the Bibliographies like the two Kalidasa Bibliographies, one A.P. Mishra and the other by Satya Pal Narang, the Rāmāyaṇa and the Mahābhārata Bibliographies from the Sahitya Akademi, New Delhi and the Indices of the verses in the poems, the plays, the tales and fables like the Pañcatantra and the Hitopadeśa and the Campus. The texts on grammar now have indices of the Sūtras, Vārtikas, Dhātus, Uṇādis and Paribhāṣās and so have the lexicons of words listed in them. The table of contents, the indices and the bibliography form part of almost all the critical works now, the theses fpr various University degrees included, in addition to carrying a detailed introduction discussing such problems as the date and the authorship of the work, other works of the author, the impact on him of his predecessors and his impact on his successors and his contribution to his field.

It was not always the altruistic consideration that drove western orientalists to the study of Sanskrit literature. Some of them, particularly the British ones among them, had a different motive. It is true that being foreign to Indian ethos they sometimes could not do full justice to it. Otherwise they would not have spoken of the Vedas as the 'songs of the shepherds' and Śākuntalā of the *Abhijñānaśākuntala* as' a rustic girl'. Sir William Jones, a judge of the Supreme Court and the founder of the Royal Asiatic Society of Calcutta in 1784 whose Latin translation of the *Śākuntalala* first in 1787 and the word to word rendering of the same in English in 1789 had surprised Europe had started learning Sanskrit, as his biographer Lord Teignmouth testifies, to his desire to understand the culture of the land to rule as a perfect ruler true to his own Whig principles, yet in accordance with Indian law. His ambition was, as says his biographer, to translate only the Sanskrit legal treatise, the *Mānavadharmaśāstra*. Max Muller's first foray in Sanskrit literature was to have a better appreciation of the culture

and traditions of the natives to motivate them to Christianity. It is a different matter that the same scholar on realizing the depth and the profundity of the ancient Indian wisdom became its votary and came out with the collection of his lectures delivered to the I.C.S. probationers about to leave for India to govern under the title: *India What it can Teach Us*

It was due to growing interest in Sanskrit that Chairs for Sanskrit/oriental studies were set up in many foreign Universities either independently or part of South Asian studies or faculties of religious studies. In addition to providing Sanskrit teaching to students they evolved into important centers of Sanskrit learning where scholars distinguished themselves in study and analysis of Sanskrit classics The past two hundred years or so have thrown up a long line of such scholars as have turned into legendary figures commanding instant respect and admiration. Some of them have become a byword for scholarship in a particular field like Max Muller in Vedic scholarship, Pargiter in Purāṇic scholarship, Jacobi in the Rāmāyaṇic scholarship, Franklin Edgerton in Buddhist Hybrid Sanskrit and so on.

In the Charter issued by the British Crown to the East India Company it was enjoined on the Company to look after education of its British subjects. In accordance with that the Company took upon itself to promote Sanskrit and Persian and Arabic education that was in vogue at that time. In pursuance of this aim it set up Sanskrit/Oriental Colleges in various parts of India some of which served later as the nucleus of the Universities that were to come up there. The first such College to be set up was the Govt. Sanskrit College, Varanasi in 1792 followed by the Govt. Sanskrit College and Govt. Madrassa at Calcutta in 1810, the Deccan College, Poona, earlier named Hindoo College in 1821 (it was renamed as Deccan College in 1864) and the Oriental College at Lahore in 1864 (from all available evidence it was coterminous with the setting up of the Govt. College there in that year). Besides these the Company also set up the Asiatic Societies, the Royal Asiatic Society, Calcutta, the Bombay Branch of the Royal Asiatic Society, Bombay and the Royal Asiatic Society, London.

In 1830 the thinking developed that it would be better if the British subjects of India were taken away from their traditional learning and were taught English and other modern subjects. The greatest protagonists of this school were Macaulay and Raja Rammohan Roy, the latter vehemently opposing the continuation of the age-old system of education.

When the western scholars took to Sanskrit they had the clear advantage of having already equipped themselves with knowledge of Greek and Latin. They could, therefore, easily identify similarities between these languages and the ones grown out of them, the languages that they spoke; English French, German, Italian, Danish and so on and could relate them to a common source which they first gave the name of Proto-Indo-European. The languages of Europe and those of India having commonalities they first grouped under the umbrella term of 'family' that they first called as Indo-Germanic, the term later

changed to Indo-European. This was to serve over a period of time to the birth of a science of Comparative Philology. The great German philologist Friedrich Schlegel was the founder of this science who asserted the common origin of Sanskrit and the principal European languages. The similarities observed in the myths of different nations after study of those of India led to the evolution of the science of Comparative Mythology. With this background when the western scholars approached Sanskrit literature they brought to bear on its interpretation fresh light which not unoften appeared more appealing. An instance here would bear it out. In the mantra *gartārug iva sanaye dhanānām* *gartārug* had generally been interpreted by traditional interpreters as 'one going up the *garta*'; *gartam ārohati*. Now, it is a moot question as to how *ārohana*, climbing is to go with *garta*, which means a pit. It has to be *avarohaṇa*, going down. But the moment *garta* is identified with English cart, the anomaly disappears. With cart it has to be *ārohana*, climbing.

The western scholars and the Indian ones who had the western education used the Sanskrit works in drawing the picture of India and its society in the times when they were written. *India as known to Pāṇini, Harṣacarita—Ek Sāṁskṛtika Adhyayana* ((Harṣacarita—A Cultural Study), *Patañjalikālīnba Bhāratavarṣa* (India in the time of Patañjali) are works which on the basis of the evidence yielded by the respective works draw a picture of India and its society and culture in days of yore, the days when their authors wrote them. This became a norm for many a later study. The initiative for literary and linguistic analysis of old Sanskrit works also owes itself to the western critical system of enquiry.

It was due t impact of western scholarship that historical evolution of Sanskrit literature was taken up as a line of enquiry. This needed the dating of the Sanskrit works requiring as it did massive effort on the part of a galaxy of scholars. There was a wide gap in the dating of the *Ṛgveda* which hovered anywhere between 2500 to 5000 B.C. Gap of several centuries which not unoften looked arbitrary was inserted between the various forms of the Vedic literature, the Brāhmaṇas, the Āraṇyakas and the Upaniṣads. Controversies raged for decades about the chronology of the works and the authors; whether the *Rāmāyaṇa* preceded the *Mahābhārata* or vice-versa or whether Aśvaghosa preceded Kālidāsa or vice versa. Even in the works of the same author an order was sought, the *Ṛtusaṁhara* being taken to be earliest of the works of Kālidāsa and the *Śākuntalam* the last on the basis of the linguistic and stylistic considerations and on the same basis certain portion/s of the same work, as in the case of the *Rāmāyaṇa* whose first and the last Books are taken to be later additions or in the case of the *Kumārasambhava* whose cantos from IX to XII are taken to be later additions. Massive efforts were also put in to identify through comparative and critical method the large number of interpolations in old Sanskrit texts.

It was due to the efforts of oriental scholars that histories of Sanskrit literature came to be written like the *A History of Sanskrit Literature* by A.B. Kieth, *A*

History of Sanskrit Literature by A.A. Macdonell, *A History of Sanskrit Literature* by Winternitz, *Sanskrit Drama* by A.B. Kieth, *History of Dharmaśāstra* and the *History of Alaṅkāraśāstra* by P.V. Kane followed by a large number of similar attempts by later writers.

With the opening up of India to the world, Sanskrit literature has undergone change, both qualitative and quantitative. With access to western literature new literary forms have come to appear in Sanskrit. Novel in the sense in which it is practiced in the west is practiced now in Sanskrit literature. A one-act play that was a rarity in days of yore is the vogue now. So are the radio plays and the plays for the television. In poetry free verse is a common enough occurrence. Even Japanese Haiku has made its inroads into it. New style and technique has come to be adopted in all types of literary forms. In keeping with the demands of the age new vocabulary has come to be coined. There are works now in Sanskrit on subjects like library science, *Pustakālayaparicaryāprasūna* and the economic survey of India, *Bharatīyam, Ārthikam Sarveksanam.* A new revolution is overtaking Sanskrit literature at present.

Sanskrit has gained much from oriental scholarship. It has given new orientation to it and provided it a new impetus to have a different look at it. It is no longer restricted to the confines of India. Thanks to the efforts of the unending chain of oriental scholars it has come to occupy its rightful place in world literature of which it can legitimately be proud.

VALEDICTORY ADDRESS

by

Professor Satya Vrat Shastri

This Conference on Sanskrit in Southeast Asia is now drawing to a close. It is a unique event in the annals of Southeast Asia. It is the first Conference of its kind where Sanskrit has been noticed with reference to a particular area. This is in line with area studies programmes in vogue now where a particular area is taken up for intensive treatment and expertise is cultivated in it resulting in the evolution of a think tank which could be approached for advice when needed. Sanskrit is the common link with the languages of Southeast Asia where it has strong presence. It needs appraisal as part of their vocabulary and not as part of the vocabulary of the languages of India and this is what makes the appraisal something special. The Sanskrit words in Southeast Asian languages are now the Southeast Asian words, the words with a Southeast Asian mould in phonology , semantics and syntax. They , therefore, have to be looked at from that point of view. It is imperative that specialists in Southeast Asian languages deal with them. Hence the importance of a conclave of scholars like the present one.

Just as it is with vocabulary so is it with literature, art and archaeology, religion and philosophy, rites and rituals. They have all grown here, as part of the invaluable cultural heritage of this vast region. To the common man with no penchant for digging into the past, they represent his milieu, something which is his,

something which his forbears have bequeathed to him . He may be chary of accepting it, and rightly so, as something foreign, something grafted on him. Well, the whole scenario has been with him since he opened his eyes into the world. They represent his ethos, reflect his personality, reveal his likes and dislikes. Or else how is one to explain the phenomenal difference in the Rama story which imparts a character of its own to it in Southeast Asia where Hanuman is no loner the celebate monkey that he is in India, where the allies of Rama assume high-sounding titles on being rewarded by him (Rama) with rulerships of different kingdoms for the assistance they had offered him in the conquest of Lanka, where Ravana loses his life not because of the Brahmastra of Rama but because of getting sandwitched by two rocks which were none other than his own daughters whom he had killed earlier and who out of revenge had closed in on him while he had been sliding back with every shot of the arrows of his adversary, where the seven wives of Arjuna bear him sons with the premonition of losing their progeny in the war yet to be fought.

The figures of the different deities , gods and goddesses, heroes and heroines, the semi-divine beings, the Yaksas, the Yaksis, the Kinnaras and Kinnaris have different facial expressions, typically Khmer or typically Javanese with peculiar ornaments, headgears and make-up with different periods of the history of the nations best exemplified in Thailand in its Sukhothai, Dvaravati, Ayuthaya, and Bangkok periods

comprising Southeast Asia

Friends, this is Southeast Asia. We have gathered here to discover it , to discover the common thread that runs

something which his forbears have bequeathed to him . He may be chary of accepting it, and rightly so, as something foreign, something grafted on him. Well, the whole scenario has been with him since he opened his eyes into the world. They represent his ethos, reflect his personality, reveal his likes and dislikes. Or else how is one to explain the phenomenal difference in the Rama story which imparts a character of its own to it in Southeast Asia where Hanuman is no loner the celebate monkey that he is in India, where the allies of Rama assume high-sounding titles on being rewarded by him (Rama) with rulerships of different kingdoms for the assistance they had offered him in the conquest of Lanka, where Ravana loses his life not because of the Brahmastra of Rama but because of getting sandwitched by two rocks which were none other than his own daughters whom he had killed earlier and who out of revenge had closed in on him while he had been sliding back with every shot of the arrows of his adversary, where the seven wives of Arjuna bear him sons with the premonition of losing their progeny in the war yet to be fought.

The figures of the different deities , gods and goddesses, heroes and heroines, the semi-divine beings, the Yaksas, the Yaksis, the Kinnaras and Kinnaris have different facial expressions, typically Khmer or typically Javanese with peculiar ornaments, headgears and make-up with different periods of the history of the nation best exemplified in Thailand in its Sukhothai, Dvaravati, Ayuthaya, and Bangkok periods

Friends, this is Southeast Asia. We have gathered here to discover it , to discover the common thread that runs

through it, that unites it , that harmonizes its different cultures, the thread called Sanskrit which has come to have strong presence in it. We have felt the thrill of this discovery, as the discovery of anything unique would. This thrill is sufficient to bring us together an opportunity for which was provided by the Sanskrit Studies Centre of the Silpakorn University under the able and dynamic leadership of Dr. Chirapat Prapandvidya and his enthusiastic band of colleagues like Dr. Chamlong Sarapadnuke, Dr. Hari Dutt Sharma, Dr. Samniang Leurmsai, Dr. Bumrung Kham-Ek, Dr, Chittabha and friends like Dr. Amarjiva Lochan. The Sanskrit Studies Centre is --and that goes to its credit-- the only nodal agency at present to study Sanskrit in Southeast Asian paradigm. This nodal agency needs all the help and assistance, moral and material, encouragement and promotion, build-up and growth to carry on with its all-important task that it has set before itself. This august assembly of scholars, I am sure, would pledge all this and more for this nodal agency.

Before I close, I would like to mention that the present Conference coincides with the retirement of Dr. Chirapat from the Department of Oriental Languages of the Silpakorn University on attaining superannuation. This will leave him free to devote himself wholeheartedly to the Sanskrit Studies Centre which needs his tender care in its initial stages. I have been closely associated with him for the past two decades and more. He is a man of strong will and perseverence with clear perception and grasp of things . He is sure to make this institution , the Sanskrit Studies Centre, a prominent forum of study and research in the area of Sanskrit in Southeast Asia. I join his vast array of friends and

through it, that unites it , that harmonizes its different cultures, the thread called Sanskrit which has come to have strong presence in it. We have felt the thrill of this discovery, as the discovery of anything unique would. This thrill is sufficient to bring us together an opportunity for which was provided by the Sanskrit Studies Centre of the Silpakorn University under the able and dynamic leadership of Dr. Chirapat Prapandvidya and his enthusiastic band of colleagues like Dr. Chamlong Sarapadnuke, Dr. Hari Dutt Sharma, Dr. Samniang Leurmsai, Dr. Bumrung Kham-Ek, Dr, Chittabha and friends like Dr. Amarjiva Lochan. The Sanskrit Studies Centre is --and that goes to its credit-- the only nodal agency at present to study Sanskrit in Southeast Asian paradigm. This nodal agency needs all the help and assistance, moral and material, encouragement and promotion, build-up and growth to carry on with its all-important task that it has set before itself. This august assembly of scholars, I am sure, would pledge all this and more for this nodal agency.

Before I close, I would like to mention that the present Conference coincides with the retirement of Dr. Chirapat from the Department of Oriental Languages of the Silpakorn University on attaining superannuation. This will leave him free to devote himself wholeheartedly to the Sanskrit Studies Centre which needs his tender care in its initial stages. I have been closely associated with him for the past two decades and more. He is a man of strong will and perseverence with
clear perception and grasp of things . He is sure to make this institution , the Sanskrit Studies Centre, a prominent forum of study and research in the area of Sanskrit in Southeast Asia. I join his vast array of friends and

admirers in wishing him a long, healthy and prosperous life.

Friends, we are just through a very successful Conference which has attracted a galaxy of scholars from all parts of the world. We have made new friendships and renewed old ones. We have learnt much from each other. We are all co-travellers in our journey of discovering Sanskrit in this part of the world. The interaction starting now would, I am sure, grow in the years to come to mutual benefit.

During the time we have been here we have been bestowed utmost care and attention and love and affection. We will carry back very happy memories of our stay here which we shall cherish always.

translation work is taken up systematically. It may also institute a part-time translation course to train the potential translators. This will help absorb hundreds of scholars who are languishing for want of job.

The Dhātupāṭhas of Sanskrit grammar have hundreds of roots whose actual use is not traceable to literature. Compilers of the Dhātupāṭhas must have noticed them to prompt them for their compilation. As any linguist would vouchsafe, it is not necessary that each and every root should find a place in literature. The roots may be the current coin in colloquial expression. It is possible that they have their descendants in their later evolutes coming down to modern vernaculars whose thorough scrutiny is needed to identify them. Some of them might have their origin in pronunciation vagaries. This may be illustrated with reference to Pāṇini's *Dhātupāṭha* which records the following four roots for eating : *camu chamu jamu jhamu adane.* Now, the difference in the two sets *camu-chamu* and *jamu-jhamu* is in the addition of an aspirate in one and the lack of it in the other. They should evidently not be counted as two separate

For the past century and a half Oriental studies have been pursued vigorously both in India and abroad. During the British period there was more of emphasis on critical editing of Sanskrit, Pali and Prakrit manuscripts. This has suffered decline in the post-independence era. Critical studies of works not unoften covering the same ground for the Master's, M. Phil. and Ph.D. degrees has taken precedence over it and are the norm now. It would be good if the old practice of critically editing manuscripts for the various degrees in Indian Universities is revived. This will help in a big way in bringing to light in course of time at least a portion of the vast manuscript wealth of India equipping at the same time the younger scholars with the knowledge of the various old scripts as also methods of collating and constituting the text. As per the calculation of the National Manuscript Mission (NMM) there are as many as five million manuscripts in the country. This figure may not include a sizeable number still with individuals to which the NMM may not have had an access.

Besides Oriental manuscripts in India there are vast collections of them abroad. There is a catalogue in twelve volumes

of the Sanskrit manuscripts in Germany under the title *Sanskrit Handscriften in Deutchland*. The India Office Library, London, the Bodlien Library, Oxford and such other libraries also have rich collections of Sanskrit and other manuscripts. The entire manuscript wealth of Nepal has been microfilmed with the financial assistance of the Govt. of Germany. The microfilms are now with the Stadt Bibliothek, the State Library, Berlin and the National Archives, Kathmandu. There may be hundreds of valuable manuscripts in these collections which could profitably be taken up for critical editing.

From the time the English translation of the *Śākuntala* by Sir William Jones generated interest in western scholars about Indian literature a long array of them have applied themselves to its interpretation. A large corpus of their works is in their own languages, German, French, Dutch, Polish, Hungarian, Russian and so on. In the absence of knowledge of these languages much of that has remained a sealed book to Indian scholars. It is a desideratum if it is translated into English or Indian languages. This could be taken up as a big project, selectively first, in some Universities. There will be no harm if Sanskrit scholars were to learn these languages and acquire proficiency in them to take up the work in right earnest.

In the context of translation it may not be out of place to mention that for the convenience of the common man who may not be familiar with the old languages like Sanskrit, Pali, Prakrit, old Arabic and Persian, translation of the more prominent of the works in these languages is attempted. It may come as surprise, if it is told, that translation of such classics as the *Kirātārjunīya*, the *Naiṣadhīyacarita* and the *Śiśupālavadha* has not been attempted either in Hindi or in English so far. Some portions of them, a canto here and a canto there, if it is prescribed as text, might have been, as indeed they have been, translated but the whole works, to my knowledge, have so far remained untranslated. If that is the situation with these works, one can well imagine the situation with hundreds of others which may not be accompanied with a commentary or a gloss. It is suggested that each University Department of Sanskrit, Pali and Prakrit or Arabic and Persian should have a translation cell where

India being a vast country it was nothing unusual that different words would have come to be used in it for the same objects and ideas in its different regions. In this context it is worthwhile to quote the words of the master grammarian Patañjali: *niyataviṣayāḥ śabdā dṛśyante. Tad yathā: samāne rakte varṇe gaur lohita ity ucyate aśvah śoṇa iti, samāne ca kāle varṇe gauḥ kṛṣṇa iti bhavati aśvo hema iti, samāne ca śukle varṇe gauḥ śveta iti bhavati asvaḥ karka iti (1.4.37)*. He also hints at the particular types of words, the words in their verbal form or their derivative form, being restricted in their use to certain regions: *śavatir gatikarmā kambojeṣ eva bhāṣito bhavati vikāra enam āryā bhāṣante śava iti, hammatiḥ surāṣṭreṣu raṁhatiḥ prācyamadhyeṣu gamim eva tv āryāh prayuñjate, dātir lavanārthe prācyeṣu dātram udīcyeṣu,* (1.1.1 under the Vārtika *sarve deśāntare*), The root *śav* in the verbal form is in use among the people of the Kamboja country while the Aryans use it in its derivative form of *śava* (the dead body), the root *hamma* is used in the Surāṣṭra country, *raṁha* in the mid-eastern regions but the Aryans use the root *gam* only, the root *dā* meaning 'to cut' is used in its verbal form

translation work is taken up systematically. It may also institute a part-time translation course to train the potential translators. This will help absorb hundreds of scholars who are languishing for want of job.

The Dhātupāṭhas of Sanskrit grammar have hundreds of roots whose actual use is not traceable to literature. Compilers of the Dhātupāṭhas must have noticed them to prompt them for their compilation. As any linguist would vouchsafe, it is not necessary that each and every root should find a place in literature. The roots may be the current coin in colloquial expression. It is possible that they have their descendants in their later evolutes coming down to modern vernaculars whose thorough scrutiny is needed to identify them. Some of them might have their origin in pronunciation vagaries. This may be illustrated with reference to Pāṇini's *Dhātupāṭha* which records the following four roots for eating : *camu chamu jamu jhamu adane.* Now, the difference in the two sets *camu-chamu* and *jamu-jhamu* is in the addition of an aspirate in one and the lack of it in the other. They should evidently not be counted as two separate roots but the same root pronounced differently. The same is the case with *kiṭa* and *khiṭa* both meaning fear, *kiṭakhiṭa trāse, drākh* and *dhrākh* meaning drying and decorating, *drākhṛ dhrākhṛ śoṣaṇālamarthayoḥ*. Sometimes the two roots may differ only to the point of one among them having a short vowel and the other having the same as long as in *hudṛ hūdṛ* in the sense of movement, *gatau*. The sounds *r* and *l* have been mixed up so much (the classic example is *nālikera* in place of *nārikela*) as to have got acceptance from connoisseurs of their interchangeability, *ralayor abhedaḥ*. It is this that should have led to the phenomenon of two roots emerging out of one like *ragh lagh gatau, ruṭi luṭi steye, roḍṛ loḍṛ unmāde, sraki, śraki ślaki gatau.* The examples are so numerous that it is not possible to reproduce them all here. Sometimes the roots differ only in a vowel or a consonant. The twenty-seven roots listed in the sense of *gati,* movement like *uga ugi rakha rakhi makha makhi ṇakha ṇakhi rakha rakhi lakha lakhi* etc. are an example of this *par excellence.* All these are indicative of the dialectical variations going with regions and possibly communities which could not escape the keen eye of the Dhātupāṭha compilers.

India being a vast country it was nothing unusual that different words would have come to be used in it for the same objects and ideas in its different regions. In this context it is worthwhile to quote the words of the master grammarian Patañjali: *niyataviṣayāḥ śabdā dṛśyante. Tad yathā: samāne rakte varṇe gaur lohita ity ucyate aśvah śoṇa iti, samāne ca kāle varṇe gauḥ kṛṣṇa iti bhavati aśvo hema iti, samāne ca śukle varṇe gauḥ śveta iti bhavati asvaḥ karka iti (1.4.37)*. He also hints at the particular types of words, the words in their verbal form or their derivative form, being restricted in their use to certain regions: *śavatir gatikarmā kambojeṣ eva bhāṣito bhavati vikāra enam āryā bhāṣante śava iti, hammatiḥ surāṣṭreṣu raṁhatiḥ prācyamadhyeṣu gamim eva tv āryāh prayuñjate, dātir lavanārthe prācyeṣu dātram udīcyeṣu,* (1.1.1 under the Vārtika *sarve deśāntare*), The root *śav* in the verbal form is in use among the people of the Kamboja country while the Aryans use it in its derivative form of *śava* (the dead body), the root *hamma* is used in the Surāṣṭra country, *raṁha* in the mid-eastern regions but the Aryans use the root *gam* only, the root *dā* meaning 'to cut' is used in its verbal form by the people of the east but in its derivative form *dātra* (sickle) by the people of the north. This regional variation noticed so early by Patañjali is noticeable in modern Indian vernaculars too. For water while the people in the north use either *pānī,* Sanskrit *pānīya* or *jala,* the people in the south use *nīru,* Sanskrit *nīra.* Similarly, while the people in the north use *dūdh,* Sanskrit *dugdha,* for milk, the people in the east use *khirā,* Sanskrit *kṣīira.* This brings me to the all-important question of the identification of the total Sanskritic content in modern Indian languages that may provide the lead to the identification of the different Sanskritic words in use for the same objects and ideas in languages of modern India, a project deserving of pursuit at the national level.

Equally important is the identification of the non-Sanskritic content in Sanskrit. As pointed out earlier, Sanskrit had been the spoken language in India, its lingua franca. At that time it was known just by the name *bhāṣā.* Nowhere does Pāṇini use the word Sanskrit to designate the language that goes by this name. He just calls it *bhāṣā : bhāṣāyāṁ sadavasaśruvaḥ (3.2.108),* He just calls it *bhāṣā : bhāṣāyāṁ sadavasaśruvaḥ (3.2.108),*

Kātyāyana, the author of the Vārtikas, e.g., *bhāṣāyāṁ dhāñkṛsṛgamijaninamibhyaḥ* (under the Sūtra *ādṛgamahanajanaḥ kikinau liṭ ca* (3.2.171), *bhāṣāyāṁ śāsiyudhidṛśidhṛṣimṛṣibhyo yuj vācyaḥ* under the Sūtra *āto yuc* (3.3.128). The same had done Yāska earlier: *iveti bhāṣāyāṁ cānvadhyāṁ* ca (*Nirukta,* 1.2.5). Patañjali also does nowhere use the word in his work as the name of the language. This means that from the 8th cen. B.C., the date generally assigned to Yāska— may be a couple of centuries anterior to him as well—, up to the 1st cen. B.C. the date of Patañjali, a period of about a thousand years or so Sanskrit was called just *bhāṣā.* The name Sanskrit came to be assigned to it, it appears, rather late when it had undergone transformation in a big scale with its words getting corrupted or, to be linguistically correct, changed in the natural process of evolution —a phenomenon that had started as early as in the time of Patañjali himself; he specifically referring to it; in his comment: *ekasyaiva śabdasya bahavo 'pabhraṁśāḥ, gāvīgoṇīgopotaliketyevamādayaḥ* and had got confined to the upper strata of society which still preferred the old favoured expression and had become the preferred medium of intellectual discourse. In the far ancient period the divide was between the Vedic language and the *bhāṣā,* the language that goes by the name Sanskrit now. The Vedic was referred to by the terms *anvadhyāyam* or *chandasi* or *mantre,* the spoken was referred to by *bhāṣā.* It is not unusual that the spoken expression, the language of the masses, should just be called *bhāṣā* and not be called by any specific name. Even Hindi, our national language, initially was known as *bhāṣā* for a considerable period as testified by such expressions as *bhāṣāṭīkā,* the Hindi commentary. The earliest use of Sanskrit for a language is traced generally to the *Rāmāyaṇa* line *yadi vācaṁ pradāsyāmi dvijātir iva saṁskṛtām* but it is so shrouded in ambiguity as to not to lead to any definitive conclusion.

Since no spoken language could remain immune to the influence of the languages it comes into contact with, Sanskrit could not be an exception to it. It also incorporated words from other languages. A big vocabulary of astronomical words in Sanskrit is of Greek origin. The text *Horāśāstra* carries in its title the Greek word *horā,* the precursor of English hour. The word

for salt quarry in Sanskrit is *rumā* which is nothing but *rome, rumā syāl lavaṇākare* (*Śabdaratnasamanvayakoṣā*, 225.15; *rumā sugrīvadāreṣu viśiṣṭalavaṇākare, Vaijayantīkoṣa*, 41.10; *Medinīkoṣa*, 117.29, *Viśvaprakāśa*, 112. 34). It is on record that the Indians had learnt the art of salt quarrying from the Romans. As a matter of fact, the Indo-Roman interaction had impacted India deeply. There is mention in the Varāhamihira's *Bṛhatsaṁhitā* of one Romakācārya and his postulation the Romaka-siddhānta. As did Rome, so did Persia. *Dīnāra, kārṣāpaṇa* and *paṇṇa(ka)*, the words for coins, are all from Persian. The Arabic word *kalama* was adopted by Sanskrit as such and a gender was also assigned to it, vide *Medinīkoṣa: kalamaḥ puṁsi lekhanyām* (see under *ma-trika*). The same is the case with *śera*, vide Ajaya *śeras tu kesarī siṁhaḥ* (9.57). The Persian word *bandī* has become the base for a number of them of Sanskrit like *gṛha, caura* and *pāla* and the Sanskrit roots *kṛ* and *bhū* . The Hebrew word *gamal* sneaked into Sanskrit via Arabic and Persian with the addition of *ka* in the form *kramela(ka)*. The Persian *Shahenshah* meets the eye in the form of *Ṣahiṣāhānuṣāhi* in the Allahabad Stone Pillar Inscription of Samudragupta. All this non-Sanskritic content in Sanskrit shows its innate strength and robust vitality which did not stunt its growth by not allowing it isolation. It is incumbent upon scholars to apply their mind to this aspect of the study of the Sanskrit language as well,

Friends, I am sorry for having taken up so much of your time. I could not resist the temptation of sharing some of my thoughts with you, the think tank of India, in the field of Oriental studies present here. The three days that you will be here, you will ruminate over many a problem of Indology and try to find solutions to them. This brainstorming will lead for sure to the emergence of new ideas and new interpretations. I wish your deliberations all success.

translation work is taken up systematically. It may also institute a part-time translation course to train the potential translators. This will help absorb hundreds of scholars who are languishing for want of job.

The Dhātupāṭhas of Sanskrit grammar have hundreds of roots whose actual use is not traceable to literature. Compilers of the Dhātupāṭhas must have noticed them to prompt them for their compilation. As any linguist would vouchsafe, it is not necessary that each and every root should find a place in literature. The roots may be the current coin in colloquial expression. It is possible that they have their descendants in their later evolutes coming down to modern vernaculars whose thorough scrutiny is needed to identify them. Some of them might have their origin in pronunciation vagaries. This may be illustrated with reference to Pāṇini's *Dhātupāṭha* which records the following four roots for eating : *camu chamu jamu jhamu adane.* Now, the difference in the two sets *camu-chamu* and *jamu-jhamu* is in the addition of an aspirate in one and the lack of it in the other. They should evidently not be counted as two separate

For the past century and a half Oriental studies have been pursued vigorously both in India and abroad. During the British period there was more of emphasis on critical editing of Sanskrit, Pali and Prakrit manuscripts. This has suffered decline in the post-independence era. Critical studies of works not unoften covering the same ground for the Master's, M. Phil. and Ph.D. degrees has taken precedence over it and are the norm now. It would be good if the old practice of critically editing manuscripts for the various degrees in Indian Universities is revived. This will help in a big way in bringing to light in course of time at least a portion of the vast manuscript wealth of India equipping at the same time the younger scholars with the knowledge of the various old scripts as also methods of collating and constituting the text. As per the calculation of the National Manuscript Mission (NMM) there are as many as five million manuscripts in the country. This figure may not include a sizeable number still with individuals to which the NMM may not have had an access.

Besides Oriental manuscripts in India there are vast collections of them abroad. There is a catalogue in twelve volumes of the Sanskrit manuscripts in Germany under the title *Sanskrit Handscriften in Deutchland.* The India Office Library, London, the Bodlien Library, Oxford and such other libraries also have rich collections of Sanskrit and other manuscripts. The entire manuscript wealth of Nepal has been microfilmed with the financial assistance of the Govt. of Germany. The microfilms are now with the Stadt Bibliothek, the State Library, Berlin and the National Archives, Kathmandu. There may be hundreds of valuable manuscripts in these collections which could profitably be taken up for critical editing.

From the time the English translation of the *Śākuntala* by Sir William Jones generated interest in western scholars about Indian literature a long array of them have applied themselves to its interpretation. A large corpus of their works is in their own languages, German, French, Dutch, Polish, Hungarian, Russian and so on. In the absence of knowledge of these languages much of that has remained a sealed book to Indian scholars. It is a desideratum if it is translated into English or Indian languages. This could be taken up as a big project, selectively first, in some Universities. There will be no harm if Sanskrit scholars were to learn these languages and acquire proficiency in them to take up the work in right earnest.

In the context of translation it may not be out of place to mention that for the convenience of the common man who may not be familiar with the old languages like Sanskrit, Pali, Prakrit, old Arabic and Persian, translation of the more prominent of the works in these languages is attempted. It may come as surprise, if it is told, that translation of such classics as the *Kirātārjunīya,* the *Naiṣadhīyacarita* and the *Śiśupālavadha* has not been attempted either in Hindi or in English so far. Some portions of them, a canto here and a canto there, if it is prescribed as text, might have been, as indeed they have been, translated but the whole works, to my knowledge, have so far remained untranslated. If that is the situation with these works, one can well imagine the situation with hundreds of others which may not be accompanied with a commentary or a gloss. It is suggested that each University Department of Sanskrit, Pali and Prakrit or Arabic and Persian should have a translation cell where

इक्कीसवीं शती और संस्कृत

सत्यव्रत शास्त्री

लगभग ढाई वर्ष पूर्व बीसवीं शताब्दी समाप्त हुई थी और उसके साथ ही नई सहस्राब्दी और नई शताब्दी ने जन्म लिया था। अतीत के बारे में तो जानकारी है ही पर अनागत का पता नहीं। विश्व का मानचित्र इस में क्या होगा और उसमें संस्कृत का क्या स्थान होगा यह सम्प्रति कल्पना का ही विषय है। जो प्रवृत्तियां गत शताब्दी के अन्तिम चरण में उभरीं उन्हीं के आधार पर भविष्य का अनुमान लगाया जा सकता है। चूंकि अनुमान भी एक प्रमाण है और प्रमाणचतुष्टय के अन्तर्गत है इसलिये उसके आधार पर भविष्य की परिकल्पना को सर्वथा सन्देह की दृष्टि से ही नहीं देखा जा सकता।

समाज को यह कितना ही पीड़ाकर क्यों न लगे, पर यह सच है कि संस्कृत के प्रति सिवाय कुछेक गिने-चुने संस्कृत प्रचारकों के जो कि संस्कत को लोकभाषा बनाने का मधुर स्वप्न देखते हैं, जनता में उत्साह नहीं है। कुछ लोगों का यह चिन्तन है कि आज के बच्चों को अपने अतीत से परिचित कराने के लिये संस्कृत किसी न किसी स्तर पर अनिवार्य करना चाहिए। यह चिन्तन उत्तम हो सकता है पर व्यावहारिक नहीं। बीसवीं शती में यह सम्भव रहा होगा, इक्कीसवीं शती शायद इसे स्वीकार न करे। आज किसी भाषा को अनिवार्य करने का वातावरण नहीं है। अनिवार्य करते ही विरोध का स्वर उभरने लगता है। आज की पीढ़ी धीरे-धीरे उन्मुक्तता की ओर अग्रसर हो रही है। भाषा के विषय में भी उसका यही चिन्तन हैं। इसमें किसी प्रकार का बन्धन उसके गले नहीं उतरता।

रोटी, कपड़ा और मकान मानव की मूलभूत आवश्यकताएं हैं। ये तो उसे चाहिये हीं। इनके बिना जीवन यात्रा नहीं चल सकती। जहाँ से मनुष्य को इनकी उपलब्धि की आशा दिखती है वह उसी की ओर उन्मुख हो लेता है। यही कारण है कि आज कम्प्यूटर इंजिनीयर बनने की होड़ लगी है। उसके बाद का स्थान है वाणिज्य शास्त्र और अर्थ शास्त्र का और उससे भी बाद का विज्ञान का। कभी विज्ञान का बोल बाला था। भाषाओं का स्थान उन सब से नीचे का है। उनमें भी अंग्रेजी विदेशी होते हुए भी बाज़ी मार लेती है। प्रतिभाशाली विद्यार्थी इन सब की ओर खिचें चले जाते हैं। इस सब के आलोक में संस्कृत को कैसे पनपना है यह हम सबके सोच का विषय है।

जो समर्पित व्यक्ति हैं वे संस्कृत पढ़ेंगे ही। पर जनसाधारण तक संस्कृत को कैसे पहुंचाना है यह समस्या बीसवीं शती की भी थी और इक्कीसवीं की भी होगी। बहुत वर्ष हुए मैं जर्मनी में था। वहाँ बर्लिन में लगभग एक सप्ताह तक रहा। एक दिन सन्ध्या के समय

तत्कालीन संस्कृत विद्वान् प्रो. क्लास ब्रून के साथ समुद्रतट पर टहलते-टहलते भारत में संस्कृत के भविष्य पर चर्चा चल पड़ी। उस समय उन्होनें जो विचार व्यक्त किये उन्होनें मुझे कहीं गहरे तक स्पर्श किया था। उन्होंने कहा था कि संस्कृत के व्यापक प्रचार-प्रसार के लिये इसे एक अतिरिक्त विषय के रूप में पढ़ाना आवश्यक है। योरुप में, उन्होंने बताया, कि इस प्रकार की पद्धति है कि विश्वविद्यालय के अपने पाठ्यक्रम, कोर्स, के अतिरिक्त खाली समय में, उपराह्ण में या सन्ध्या के समय लोग कोई न कोई अपनी-अपनी रुचि के अनुसार, हॉबी के रूप में अतिरिक्त विषय ले लेते हैं, कोई बागवानी का कोर्स ले लेता है, कोई फोटोग्राफी की क्लासें अटेंड करता है, कोई विदेशी भाषा ही सीखने लगता है। इससे अच्छी तरह समय बीतने के साथ-साथ वह अपने में अतिरिक्त योग्यता भी अर्जित कर लेता है जो उसे मानसिक तथा आध्यात्मिक सन्तोष प्रदान करती है। भौतिक आवश्यकता की पूर्ति वह अपने मुख्य विषय से करता है। यह उसके अपने व्यक्तिगत जीवन का एक अङ्ग होता है। इस तरह की पद्धति यदि संस्कृत विषय में अपनाई जाय तो अनेकानेक लोग इस ओर आकर्षित होंगे।

प्रो. ब्रून के कथन की सत्यता नई दिल्ली के जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय के एक नये प्रयोग से सिद्ध हो गई है। वहां बी. ए. एवम् एम. ए. के छात्रों को अपने मुख्य विषयों के अतिरिक्त तीन क्रेडिट्स के दो वैकल्पिक कोर्स (Optional Course), या दो क्रेडिट्स के साधन कोर्स (Tool Course) लेने होते हैं वे कोई भी हो सकते हैं, संस्कृत के भी, अन्य किसी भाषा के भी या अन्य किसी विषय के भी। गत वर्ष इन अन्यान्य विषयों के 180 छात्रों ने संस्कृत विषय लिया। इनमें से बहुत से ऐसे थे जिन्होंने किसी भी स्तर पर संस्कृत नहीं पढ़ी थी। विश्वविद्यालय के विशिष्ट संस्कृत अध्ययन केन्द्र द्वारा उनके लिये संस्कृत भाषा और वाङ्मय का एक विशिष्ट पाठ्यक्रम तैयार किया गया। वैकल्पिक कोर्स के लिये 180 की संख्या और वह भी केन्द्र की स्थापना के प्रथम वर्ष में ही बहुत उत्साहवर्धक रही। इससे इतना अवश्य सिद्ध होता है कि युवा-वर्ग में इस ओर झांकने की उत्सुकता एवं कुतूहल अभी है।

संस्कृत के प्रचार-प्रसार का एक और कारगर उपाय है इसे मातृभाषा से जोड़ना। भारत की प्रायः सभी भाषाओं में चाहे वे भारोपीय परिवार को हों, या द्रविड भाषा परिवार की, संस्कृत की भरपूर शब्दावली है। अलग-अलग भाषाओं की - भारत के संविधान में अट्ठारह भाषाएं स्वीकृत हैं - इस संस्कृत शब्दावली में भेद हो सकता है। कहीं यह बहुत अधिक है, कहीं अपेक्षाकृत कम। कहा जाता है कि मलयालम में सत्तर प्रतिशत शब्द संस्कृत के हैं। तमिल में यह प्रतिशत तीस के लगभग बताया जाता है। भाषाओं के हिसाब से संस्कृत शब्दावली के स्वरूप में भी भेद है। भारोपीय परिवार की भाषाओं में संस्कृत तद्भवरूप में अधिक है और द्रविड़ परिवार की भाषाओं में तत्सम रूप में। भारोपीय परिवार की भाषाओं में

भी बंगला, उड़िया आदि में इसी परिवार की अन्य भाषाओं की अपेक्षा तत्सम शब्द अधिक हैं। प्रारम्भिक स्थिति में जब बच्चे को संस्कृत सिखानी हो तो प्रयास यह होना चाहिये कि उन्हीं शब्दों का विभक्ति आदि लगाकर प्रयोग किया जाए जिनसे बच्चे सुपरिचित हों। तब उसे यह नहीं लगेगा कि संस्कृत अलग ही कोई कोई भाषा है जो उसके लिये नई है। इससे संस्कृत एक क्लिष्ट भाषा है इस सर्वाधिक प्रचलित भ्रान्ति का भी निराकरण हो जाएगा। मेरे पूज्य पितृचरण कहा करते थे कि गाय जंगल में घास खाती है यदि इस बात को संस्कृत में कहना हो तो क्यों न इस रूप में कहा जाए - गौः जंगले घासं खादति। गौः = गाय, जङ्गले=जङ्गल में, घासम् = घास को, खादति=खाती है। इसमें किसी को क्या आपत्ति हो सकती है? विशुद्ध संस्कृत है। कोई भी वैयाकरण इसमें दोष नहीं निकाल सकता। घास चरती है कहना हो तो - कहना उचित होगा घासं चरति। चर गति भक्षणयोः। चर् धातु भक्षणार्थक है। घासं चरति कहने में क्या दोष है? क्यों कहा जाय घासमत्ति? यह उस स्थिति की बात है जब विद्यार्थी संस्कृत सीखना शुरू ही करता है। बाद में आप उसे जो सिखाना चाहें सिखायें। नये संस्कृत सीखने वाले के लिये 'मैं पानी पीता हूं' के लिये संस्कृत वाक्य होना चाहिये *अहं जलं पिबामि* और इससे भी अच्छा - *अहं पानीयं पिबामि*। इसी तरह 'मैं दूध पीता हूं' को संस्कृत में कहना हो तो कहा जा सकता है *अहं दुग्धं पिबामि*। क्यों प्रारम्भ में ही पयः आदि शब्दों के प्रयोग से उसे उद्विग्न कर दिया जाए। पांनी और दूध के प्रसङ्ग में एक बात जो विशेष ध्यान देने योग्य है वह यह है कि विभिन्न भारतीय भाषाओं में इनके लिये अलग-अलग संस्कृत शब्द हैं। जहां उत्तर भारत में पानीय या जल शब्द का प्रयोग होता है वहीं दक्षिण भारत में नीर का या नीरु शब्द का । जहाँ उत्तर भारत में संस्कृत दुग्ध से उद्भूत दूध शब्द का प्रयोग हैं वहीं उड़ीसा में संस्कृत के क्षीर शब्द से उद्भूत खीरा शब्द का। तत्तत् प्रदेश के विद्यार्थियों को संस्कृत सिखाने के प्रसङ्ग में वहाँ-वहाँ के प्रचलित संस्कृत या संस्कृतमूलक शब्दों का प्रयोग उचित होगा। यहां प्रासङ्गिक रूप से यह कहना अनुचित न होगा कि इस सम्भावना से इन्कार नहीं किया जा सकता। कि जो शब्द संस्कृत कोशों में पर्यायवाची के रूप में पठित हैं वे कभी अलग-अलग प्रदेशों में प्रयुक्त रहे होंगे। कात्यायन के वार्तिक - *सर्वे देशान्तरे* को प्रकरण-भेद से इस विषय में लगाया जा सकता है। अलग-अलग प्रदेश के इन संस्कृत शब्दों को बाद में कोशकारों ने एक साथ संग्रथित कर पर्यायवाची रूप में उन्हें प्रस्तुत कर दिया।

भारत की प्रादेशिक भाषाओं में कितनी शब्दावली संस्कृतमूलक है इसका वैज्ञानिक दृष्टि से अलग-अलग भाषा के हिसाब से आकलन अभी नहीं हुआ है जोकि प्रादेशिक भापाओं में प्रयुक्त संस्कृतमूलक शब्दों के प्रयोग के माध्यम से संस्कृत शिक्षण के सुझाव के कार्यान्वयन में बहुत सहायक होगा। इस दिशा में केवल एक मात्र प्रयास किया गया हैं। 1974

में तैयार किया है जिसकी संस्कृत में बहुत कमी है। अनेक संस्थाएं जिनमें विशेष उल्लेखनीय हैं - संस्कृत भारती, लोकभाषा प्रचार समिति (पुरी) तथा शारदा ज्ञानपीठम् (पुणे) संस्कृत के सम्भाषण शिबिर भी चला रही हैं। न केवल संस्थाएं ही अपितु अनेक विद्वान् मात्र अपने पुरुषार्थ के बल पर सम्भाषण शिबिर अयोजित करते है। जयपुर के डा. सुभाष वेदालङ्कार ने इस प्रकार के अनेक शिबिरों का अयोजन कर संस्कृत का प्रचार-प्रसार किया है। लोकप्रिय धुनों पर इन्होनें स्वरचित गीतों के केसैट भी बनाये हैं। इस प्रकार की गीत रचना बड़ौदा के डॉ. अरुणोदय नटवरलाल जानी ने भी की है। उनके सुपुत्र जयदेव जानी उनके इस कार्य को आगे बढ़ा रहे हैं। सार्वभौम संस्कृत प्रचार कार्यालय काशी के पण्डित वासुदेव द्विवेदी ने अपना सारा जीवन इस कार्य में लगा दिया था।

संस्कृत शिक्षण के पश्चात् संस्कृत लेखन पर भी दृष्टिपात करना आवश्यक हैं। इक्कीसवीं शती का संस्कृत लेखन कैसा होगा। उन्नीसवीं और बीसवीं शती के संस्कृत लेखन ने जो समस्याएं उपस्थापित कीं उनका समाधान भी इस इक्कीसवीं शती को ही ढूंढना है। गत दो शताब्दियों के संस्कृत लेखन में - इन्हीं शताब्दियों का लेखन ही अर्वाचीन अथवा आधुनिक लेखन के नाम से जाना जाता है - तीन प्रकार की प्रवृत्तियां देखने में आती हैं। एक तो वह जिसमें कालिदास, भारवि, भवभूति, बाण, दण्डी, सुबन्धु आदि की शैली का अनुवर्तन किया जाता है जिसके अनुसार यदि पद्य रचना है तो अनिवार्यतः छन्दोवद्धता ही रहती है और काव्यशास्त्र के नियमों का विधिवत् पालन किया जाता है, यदि गद्यबद्ध रचना है तो कादम्बरी-हर्षचरितादिवत् ओजःसमासभूयस्त्व रहता है और रहता है इसी के साथ ही क्लिष्ट शब्दौघ जो रचयिता के पाण्डित्य को प्रदर्शित करने के माध्यम से उसकी सोच के अनुसार उसे विद्वत्समाज में प्रतिष्ठापित करने में सहायक होता है। काव्यों में नित्यानन्द शास्त्री का 'श्रीरामचरिताब्धिरत्नम्' महाकाव्य एवं 'हनुमद्दूतम्' नामक दूतकाव्य, अखिलानन्द सरस्वती का 'दयानन्द दिग्विजय', वी. राघवन् का 'मुत्तुस्वामीदीक्षितचरितम्' महाकाव्य, रेवाप्रसाद द्विवेदी का 'सीताचरितम्' महाकाव्य, हरिनारायण दीक्षित का 'भीष्मचरितम्' महाकाव्य मेरा स्वयं का 'श्रीरामकीर्तिमहाकाव्य', उपन्यासों में अम्बिकादत्त व्यास का 'शिवराजविजयम्', मेधाव्रत शास्त्री का 'कुमुदिनीचन्द्र', हरिदास सिद्धान्तवागीश का 'सरला', आप्पाशास्त्री राशिवडेकर का 'लावण्यमयी', शङ्करलाल माहेश्वर का 'चन्द्रप्रभचरितम्', कृष्णकुमार के 'विधिपौरुषम्' और 'तपोवनवासिनी', मोहनलालशर्मा पाण्डेय का 'पद्मिनी', राघवेन्द्र पंचमुखी का 'सप्तरात्रोत्सवचम्पू', आदि इस तरह की शतशः कृतियाँ है। दूसरी कोटि की वे कृतियां हैं जिनमें मुख्यतया प्राचीन शैली का अनुगमन है पर नवीनता अर्थात् लीक से हट कर रचनाधर्मिता, की प्रवृत्ति भी सांस लेती हुई दिखाई देती है। उदारहणार्थ, जयपुर के भट्ट्

मथुरानाथ शास्त्री के संस्कृत काव्य 'जयपुरवैभवम्' और 'साहित्यवैभवम्' जिनमें शास्त्री जी ने न केवल दोहा, चौपाई, सोरठा, आल्हा आदि हिन्दी की काव्य विधाओं को अपनाया है, अपितु उर्दू के बहारे हज़ाज़ मुसद्दस महजूफ़, बहारे रमाम मुसम्मन महजूफ़ आदि को भी। मैंने स्वयं ने अपने महाकाव्य में काव्यशास्त्रीय नियमों के विपरीत एक महिला को काव्य की नायिका के रूप में प्रस्तुत किया है और स्वतन्त्रता आन्दोलन का चित्र प्रस्तुत करते समय 'झंडा ऊंचा रहे हमारा' आदि उस समय के जयोद्घोषों को संस्कृत रूप में प्रस्तुत किया है। माधव श्रीहरि अणे के तीन खण्डों के 'तिलकयशोऽर्णवः' तथा वीर सावरकर की जीवनगाथा पर आधारित 'वैनायकम्' महाकाव्य में छन्दोबद्ध रचना को अपनाते हुए भी अनेक आधुनिक उपकरणों से सम्बद्ध अंग्रेजी शब्दों को या तो मूल रूप में या उनका संस्कृतीकरण कर उन्हें प्रस्तुत किया गया है। पलसुले के 'विवेकानन्दविजयम्' तथा 'भासोऽहासः' एवं श्रीनिवासशास्त्री के 'सूर्यप्रभा किंवा वैभवपिशाचः' की भी यही स्थिति है। देवर्षि कलानाथ शास्त्री की 'कथानकवल्ली' भी इसी प्रकार की है। गत शताब्दी का बहुत बड़ा ग्रन्थ सम्भार इस कोटि के अन्तर्गत आता है। तीसरी प्रवृत्ति उन कृतियों की है जिन्होंने सर्वथा नवीन शैली को अङ्गीकार किया है। इस शैली के लेखकों में अग्रणी हैं हर्षदेव माधव, देवदत्त भटि्ट, बनमाली बिस्वाल, कृष्णलाल, केशवचन्द्र दाश आदि। इनकी कविताओं में छन्दोबद्धता के स्थान पर स्वच्छन्द पद्यात्मकता, Free Verse का प्रयोग है और हिन्दी की तर्ज पर अकविता का लेखन भी है। कज्जलिका नाम से गज़ल, काकली नाम से कव्वाली और अल्पक या हाइकु नाम से हाइकु भी इस समय के कवि लिख रहे हैं। उपन्यासों या कहानियों में कथोपकथन के समय पात्रों का निर्देश inverted commas से ही इन लेखकों की रचनाओं में देखने को मिलता है। नाट्य कृतियों में एकाङ्कियों ने अपना विशेष स्थान बना लिया है जिनकी भरमार दिखाई देने लगी है। अर्वाचीन संस्कृत वाङ्मय में इधर एक क्रान्ति आई है।

इस क्रान्ति ने जहां लेखक की शैली को प्रभावित किया है वहां भाषा को भी। लगता है व्याकरण की दृष्टि से भाषा की शुद्धता का उतना आग्रह नहीं है जितना होना चाहिये। जो इसके कारण उद्विग्न दिखाई देते हैं उन्हें पुराणपन्थी की मानद उपाधि से विभूषित किया जाता है। इस नवीनता के मोह ने संस्कृत भाषा के मूल स्वरूप को ही यत्र तत्र प्रभाावित करने का काम किया है। यह सर्वविदित है कि संस्कृत में - संस्कृत में ही नहीं हिन्दी में भी Indirect Speech का अभाव है। हिन्दी ने तो इसे आत्मसात् कर लिया है। हिन्दी रचनाओं में इस तरह के वाक्य देखने को मिलते हैं - राम कह रहा था कि वह वहां जाएगा जब कि सही वाक्यविन्यास होना चाहिये - राम कह रहा था कि मैं वहाँ जाऊंगा, अंग्रेजी में यह चलता है

- Rama said he would go there, संस्कृत में रामोऽकथयत् यत्स तत्र गमिष्यति संस्कृत के स्वरूप के विरुद्ध है। अत:, अस्वीकार्य है।

अनेक संस्कृत लेखकों ने संस्कृत भाषा के लिये संस्कृता शब्द को अपना लिया है जो सर्वथा असंस्कृत है। भाषावाची संस्कृत शब्द नित्यनपुंसक लिङ्ग है। दण्डी ने इस बारे में किसी प्रकार के सन्देह का अवकाश नहीं रहने दिया। काव्यानुशासन (1.33) का उनका सुप्रसिद्ध वचन है - संस्कृतं नाम दैवी वागन्वाख्याता महर्षिभि:। स्त्रीलिङ्ग वाक् शब्द के साथ नपुसंकलिङ्ग संस्कृत शब्द का प्रयोग यहां किया गया है - संस्कृतं वाक्।

विधि, उपाधि, मृत्यु आदि शब्द हिन्दी में स्त्रीलिङ्ग की तरह प्रयुक्त होने लगें हैं। उसी के प्रभाव के कारण अनेक संस्कृत लेखक भी अपनी संस्कृत कृतियों में इनका स्त्रीलिङ्ग में प्रयोग करने लगे हैं - इयमत्र विधिरस्माभि: स्वीकर्तव्या, तस्य मृत्यु: संजाता इति। ये सव अपप्रयोग हैं। आधुनिकता के नाम पर उन्हें स्वीकृति नहीं मिल सकती।

सरलता और शुद्धता में कोई परस्पर विरोध नहीं है। सरल होते हुए भी भाषा शुद्ध हो सकती है। *न म्लेच्छितवै नापभाषितवै म्लेच्छो ह वा एष यदपशब्द:* यह महाभाष्यकार का डिण्डिमघोष है। यदि क्रियापद क्लिष्ट लगते हैं, या उनके शुद्ध व अशुद्ध रूप में कोई व्यामोह है तो उनका प्रयोग मत कीजिये और उनके स्थान पर क्त, क्तवत्वन्त प्रयोग कीजिये। यह वात कोई आज की नहीं है। महाभाष्य के काल से ही यह प्रारम्भ हो गई थी। *अस्त्यप्रयुक्त:* के उदाहरणों के रूप में ऊष, तेर, चक्र, पेच को प्रस्तुत कर महाभाष्यकार कहते हैं - *अप्रयोग: खल्वप्येषां शब्दानां न्याय्य:। प्रयोगान्यत्वात्। यदेषां शब्दानामर्थेऽन्यान्शब्दान् प्रयुञ्जते। तद्यथा - ऊषेत्यस्य शब्दस्यार्थे क्व यूयमुषिता:, तेरेत्यस्यार्थे क्व यूयं तीर्णा:, चक्रेत्यस्यार्थे क्व यूयं कृतवन्त:, पेचेत्यास्यार्थे क्व यूयं पक्ववन्त इति।* इससे स्पष्ट है कि प्रथम शताब्दी ईसा पूर्व, दो हजार वर्ष से भी पहिले - महाभाष्यकार का यही काल माना जाता है- तिङन्त रूपों के स्थान पर कृदन्त रूपों का चलन प्रारम्भ हो गया था। सम्भवत: उस समय के लोगों को भी तिङन्त रूप क्लिष्ट लगे होंगे।

यदि आधुनिक संस्कृत साहित्य इस रूप में लिखा जाता है कि उस का कथ्य भी प्राचीन है- वेद, उपनिषद् रामायण, महाभारत, पुराण आदि के आख्यानों का ही उसमें वर्णन है, भाषा भी प्राचीन है, शैली भी प्राचीन है तो वह आधुनिक इस रूप में ही कहा जायेगा कि उसका प्रणयन आधुनिक लेखकों ने किया है। इस तरह का वाङ्मय तो किसी भी युग में लिखा जा सकता है, प्राचीन युग में भी, मध्ययुग में भी, आधुनिक युग में भी। आधुनिक कहलाने के लिये तो वाङ्मय को इस तरह का होना चाहिये कि उसमें आधुनिक युग बोध हो,

वह आधुनिक जीवन और चिन्तन का प्रतिनिधित्व करे, आधुनिक समस्याओं और विषमताओं का प्रतिबिम्बन उसमें हो। यदि यह होता है तो इसके लिये आवश्यक है कि आधुनिक जीवन पद्धति से सम्बद्ध विषयों के समावेशार्थ उपयुक्त शब्दावली आज के लेखक को उपलब्ध हो। चूंकि वह शब्दावली संस्कृत में उपलब्ध नहीं है, और स्पष्ट है कि हो भी नहीं सकती, अतः संस्कृत लेखक के लिये उस शब्दावली को हासिल करने के दो रास्ते हो सकते थे, एक, वह कि जिस भाषा में वह उपलब्ध हो, यदि अंग्रेजी में वह उपलब्ध हो तो अंग्रेज़ी से यदि उर्दू-फारसी या लोकभाषा में उपलब्ध हो तो वहाँ से उसे जैसे के तैसे वह अपना ले और संस्कृत विभक्तियों के साथ उसका प्रयोग करे जैसे चायं पिबति, रिवाल्वरं धारयति अथवा उनके स्थान पर नये शब्दों का निर्माण करे और उनका प्रयोग करे। अधिकांशतः संस्कृत रचनाकारों ने यही किया। इसमें उन्होंने दो प्रकार की पद्धति अपनाई। एक, इस प्रकार के शब्दों का निर्माण उन्होनें किया जहां मूलभाषा के अर्थ का संस्कृत रूप में प्रतिबिम्बन था और दूसरी जिसमें अर्थ का भी और स्वरूप का भी। अंग्रेजी के पेट्रोल, petrol के लियं दो विभिन्न लेखकों ने दो अलग-अलग शब्दों का प्रयोग किया है। एक ने भूतैल शब्द का और दूसरे ने प्रतैल शब्द का। देशी भाषा के शब्दों के संस्कृतीकरण के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है चप्पल के लिये संस्कृत शब्द चपलोपानह् है, चपलोपानहं धारयित्वा। जैसे पेट्रोल के विषय में कहा गया है कि अलग-अलग संस्कृत लेखकों ने इसके लिये अलग-अलग शब्दों का निर्माण किया इसी प्रकार की स्थिति अनेकानेक अन्य शब्दों की है। चाय जिसकी चर्चा पहिले की जा चुकी है के लिये चाय और चाय के अतिरिक्त निम्न लिखित शब्दों का अर्वाचीन संस्कृत वाङ्मय में प्रयोग उपलब्ध है - कषायपान, कषायपेय और चायपान। इसी प्रकार रेलवे ट्रेन के लिये प्रयुक्त शब्द हैं- बाष्पानस्, वह्निवाहन, अग्निरथ, गन्त्री, लोहशकट, धूमशकट एवञ्च बाद के दो के स्त्रीलिंग रूप लोहशकटी और धूमशकटी। मेल ट्रेन के लिये पत्राग्निरथ शब्द प्रयुक्त है। नेकटाई के लिये एक स्थान पर कण्ठबन्ध प्रयुक्त है और दूसरे स्थान पर ग्रीवाबन्धन। यह सब बीसवीं शती की बात है। इक्कीसवीं शती की यह आवश्कता है कि सर्वप्रथम इन नवनिर्मित शब्दों को अर्वाचीन संस्कृत वाङ्मय से सङ्कलित कर उनका एक कोष बनाया जाए और दूसरा उनका मानक रूप निर्धारित किया जाए। एक बृहद् योजना के रूप में इन दोनों कार्यों को हाथ में लिया जा सकता है। कोष निर्माण, Dictionary Compile, करने का काम विद्वानों की एक टीम करे - टीम की आवश्यकता इसलिये है कि अर्वाचीन संस्कृत साहित्य बहुत विशाल है, छोटी-बड़ी सब मिलाकर सहस्रों कृतियों की रचना उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दियों में हुई है। इन कृतियों को पहिले पढ़ना पड़ेगा और फिर नवनिर्मित शब्दों को इनमें से छांटना पड़ेगा जो कि एक व्यक्ति का काम नहीं हैं। एक एक

विधा के लिये तीन-तीन, चार-चार विद्वानों की आवश्यकता पड़ेगी। शब्द-चयन हो जाने पर उनके मानकीकरण का काम रह जाता है जिसके लिऐ विशेषज्ञ समिति, Steering Committee of Experts गठित करनी होगी जो छोटे-छोटे Working Groups, कार्यदलों, के माध्यम से इस कार्य को करवा उसे अन्तिम रूप देने का कार्य करेगी। यह सब कार्य इक्कीसवीं शती में होना है।

यद्यपि आधुनिक काल में बहुत लिखा जा चुका है, जैसा कि पहिले कहा जा चुका है, तो भी कतिपय विधाएं इस प्रकार की हैं जो या तो इस में अस्पृष्ट रही हैं या उनमें लेखन बहुत ही कम हुआ है। आत्मकथा-लेखन संस्कृत में नहीं के बराबर है। जो दो एक आत्मकथा परक कृतियां मिलती भी हैं वे अंग्रेजी की आत्मकथापरक कृतियों का संस्कृत में अनुवाद ही हैं जैसे सत्यदेव वासिष्ठ का 'सत्यसंशोधनम्' जोकि महात्मा गान्धी की आत्मकथा My Experiments With Truth का संस्कृत में अनुवाद है या अमीरचन्द्र शास्त्री का 'नेहरूचरितम्' जो कि पण्डित नेहरू की आत्मकथा का संस्कृत रूपान्तर है। स्वतन्त्र रूप से संस्कृत में आत्मकथा का लेखन नहीं के बराबर है। केवल एक कृति की ही सूचना इस समय मेरे पास है और वह है वन महाराज रचित 'ईश्वरदर्शनम्।' ऐसा नहीं कि ऐसे कोई विशिष्ट व्यक्ति नहीं थे जो संस्कृत में आत्मकथा न लिख सकते हों। माधव श्रीहरिं अणे स्वातन्त्र्य संग्राम के महान् योद्धा थे और उस संग्राम की अनेक घटनाओं के प्रत्यक्षद्रष्टा भी। उनकी आत्मकथा उनके युग की अनेक घटनाओं पर प्रकाश डाल सकती थी। स्वातन्त्र्य योद्धा होने के साथ-साथ वे संस्कृत के प्रकाण्ड पण्डित भी थे। उन्होंने लोकमान्य तिलक की जीवनी 'तिलकयशोऽर्णवः' नाम से लिखी जोकि, जैसा पहिले कहा जा चुका है, तीन भागों में प्रकाशित हुई थी। वे चाहते तो अपनी जीवनी लिख सकते थे। पर उधर उनका ध्यान गया नहीं। तिलक स्वयं संस्कृत के उद्‌भट विद्वान् थे। उनका संस्कृत पाण्डित्य उनके एक पद्यांश की पदशय्या से ही स्पष्ट है। अपना परिचय देते हुए वे कहते हैं - बालो गाङ्गाधरिश्चाहं तिलकान्वयजो द्विजः। गाङ्गाधरिः गङ्गाधरस्यापत्यं पुमान्, अत इञ् से इञ् प्रत्यय के साथ बना यह शब्द कोई परिनिष्ठित वैयाकरण ही कर सकता है। उन्होनें गीतारहस्य तो लिखा, आत्मकथा नहीं। यह विधा अछूती ही रह गई।

पत्र साहित्य की भी संस्कृत वाङ्मय में बहुत कमी है। इसमें दो तीन कृतियां ही देखने में आती है - एक, शिवाङ्गना शर्मा द्वारा सम्पादित, आचार्य नवलकिशोर काङ्कर का 'पत्र-साहित्यम्', दूसरा मेरा पत्रकाव्यम्। शायद एकाध कृति कोई और हो। इस ओर भी संस्कृत विद्वानों का ध्यान आवश्यक है। अनेक विद्वान् संस्कृत में पत्र लिखते हैं पर उनकी प्रतिलिपियां वे अपने पास नहीं रखते अतः उनका एकत्र सङ्कलन सम्भव नहीं हो पाता। मेरे स्वयं के कार्यकाल के प्रथम-दशक का, 1954-64 तक का, कोई भी पत्र मेरे पास नहीं है। सबसे

पहिला जो पत्र मुझे अपनी संचिकाओं, फाइलों में, उपलब्ध हुआ वह 1964 का है और पद्यमय है। इसके बाद जितने भी पत्र मुझे मिले या यूं कहिये की पत्रों की प्रतिलिपियां मुझे मिल सकीं वे सब पद्यमय हैं। स्पष्ट है गद्यमय पत्रों की प्रतिलिपि मैंने बनाई नहीं। यह वह युग था जब प्रतिलिपियां हाथ से ही बनाई जाती थीं, चित्र प्रतिलिपि, फोटोकापी, का तब चलन नहीं था और जैसा कि स्वाभाविक है हाथ से प्रतिलिपि बनाने में व्यक्ति आलस्य कर ही जाता है। इस प्रकार मेरा विपुल गद्यमय पत्र वाङ्मय लुप्त हो गया। उसके पद्यमय भाग का कुछ अंश ही पत्रकाव्यम् के रूप में प्रकाशित हो सका। इस अंश भर में भी 2222 पद्य हैं। इसके प्रकाशन से अब तक अनेक पद्यमय संस्कृत पत्र मैंने और लिखे हैं जिन्हें पूर्व प्रकाशित पत्रकाव्यम् के ही द्वितीय भाग, Companion Volume के रूप में प्रकाशित करवाने की मेरी इच्छा है। इसमें भी दो हज़ार पद्य होगें। मेरे पितृचरण पण्डित चारुदेव शास्त्री प्रायः संस्कृत में ही पत्र लिखा करते थे। काश उनकी प्रतिलिपियां रखी गई होतीं। आज वे संस्कृत साहित्य की अमूल्य निधि होतीं। पण्डिता क्षमाराव की सुपुत्री पण्डिता लीलाराव दयाल से मिलने मैं एक बार मुम्बई गया था। उन्होंने मुझे एक एल्बम दिखाया था जिसमें उन्होंने अपनी माता श्रीमती क्षमाराव को और उन्हें स्वयं को अनेक संस्कृत विद्वानों द्वारा लिखे गये पत्रों का संकलन था। उन पत्रों में मेरे पितृचरण का श्रीमती क्षमाराव को लिखा एक पत्र भी था जिस की चित्र प्रतिलिपि उन्होंने मुझे बनवा दी जो आज मेरी एक अमूल्य निधि है। वह पत्र इस प्रकार है -

लवपुरीय
श्रीदयानन्दकालेजतः
कार्तिकेऽसितचतुर्थ्याम्।

विपश्चिदपश्चिमे———सुगृहीतनामधेये! नमस्ते। यद्गुण्या ऽत्रभवती सत्याग्रहगीताख्यपुस्तिकानिर्मितौ स्वं व्यापारितवती तन्नाम नितरां प्रसादयति नश्चेतः। अद्यत्वे विरला एव जनाः श्रेयस्कामा ईदृक्षेषु पुण्येषु यशस्येषु च कर्म्मसु प्रवर्तन्ते। नहि महात्मनां चरितस्तवनादृतेऽपरमाभ्युदयिकं किञ्चित्। प्रायेणार्थमुद्दिश्यैव प्रवर्तते लोकः, सुधीरिति च व्यपदिश्यते। परमल्पा एव सुकृतिनो मानवाः परेषां शर्म्मणे यतन्ते, स्वकमर्थञ्च विनियुञ्जते, कष्टानि च सहन्ते। अतः प्रकृतया कृत्या सर्वथा मान्यासि नः। अवन्ध्यं ते जन्म। कृतिरपीयं बहुगुणा। एष हि प्रसत्तिमानुदात्तार्थगुम्फः पद्यरचनायामसामान्यां नैपुणीं भावत्कीं विद्योतयति। निश्वसितप्रायश्च वाक्प्रसरः सुतरां हारी। इमं प्रबन्धं प्रत्यहमालोचयामि। क्वचित् पदानि परिवृत्तिसहानि प्रत्यवभासन्ते तानि तथा निर्देक्ष्यामि। इतरदपि यच्छोधनार्हं तदपि साधूकृत्याचिरेण

पुस्तिकां प्रत्यावर्तयिष्यामि। आशासे पुण्यकर्मनिरता सर्वथा कुशलिनी श्रीमतीति।

अनुग्रहमभिलाषुकः

चारुदेवश्शास्त्री।

अंग्रेज़ी आदि भाषाओं में पत्र साहित्य का भण्डार है। इक्कीसवीं शती में संस्कृत साहित्य की इस क्षेत्र में भी समृद्धि अपेक्षित है।

मैंने श्रीमती लीलाराव दयाल को इन सभी पत्रों का ग्रन्थ रूप में प्रकाशित करने का सुझाव दिया था जिसे उन्होंने बहुत पसन्द किया था। पर विधि का विधान! यह सुझाव कार्यान्वित नहीं हो पाया और संस्कृत जगत् एक महत्त्वपूर्ण कृति से वंचित रह गया। आज श्रीमती लीलाराव दयाल इस संसार में नही हैं। उन पत्रों का क्या हुआ कोई नहीं जानता। अगर उन पत्रो की एल्बम कहीं होगी तो उसे प्राप्त करना आसान नहीं होगा। मैंने उस एल्बम में से कुछ पत्रों को पढ़ा था। अपने युग के मूर्धन्य मनीषियों ने वे पत्र भेजे थे। उनमें से कुछेक में तो अद्भुत साहित्यिक पुट था और उनकी भाषा की प्राञ्जलता और प्रवाहमयता देखते ही बनती थीं।

पत्र साहित्य दो-तीन या तीन चार पत्र सङ्ग्रहों के रूप में ही सही अर्वाचीन संस्कृत वाङ्मय में मिल तो जाता है। पर डायरी साहित्य का इसमें अत्यन्ताभाव है। अंग्रेज़ी आदि में यह प्रचुर है - Emerson's Diary आदि। पाश्चात्य जगत् के मूर्धन्य मनीषियों ने इसमें भरपूर योगदान दिया है। इक्कीसवीं शती के संस्कृत साहित्यकार इस दिशा में अग्रसर होगें यह आशा है। जिसमें कथा आठ या दस पक्तियों में ही जाता है। अतिलघुकथा, Mini Story, का चलन भी संस्कृत वाङ्मय में नहीं है। देवर्षि कलानाथ शास्त्री ने अपनी कथानकवल्ली की भूमिका में इसका सङ्केत किया है। अपराधान्वेषण कथा Detective Story के अभाव को भी उन्होंनें इसमें इङ्गित किया है। इन दिशाओं में संस्कृत साहित्यकारों का योगदान अपेक्षित है।

फ़ारसी में साहित्य की एक विधा है जिसे वहां मल्फ़ूज़ात कहा जाता है। इस विधा का वाङ्मय वहां अति प्रचुर है। वहाँ यह प्रथा है कि वहाँ के शिष्यजन अपने गुरुजनों की दैनन्दिनी, डायरी, लिखते हैं; गुरुओं ने दिनभर में क्या किया, कौन उनसे मिलने आया, क्या चर्चा उन्होंनें उनसे की आदि-आदि। इस प्रकार की सैंकड़ों कृतियां शिष्यों द्वारा अपने गुरुजनों के दैनिक कार्यों के बारे में लिखी गई वहां मिलती है। मैंने अपने पत्रकाव्यम् के उपसंहार में संस्कृत में विरल उपलब्ध विधाओं के उल्लेख एवञ्च संस्कृत वाङ्मय के समृद्ध करने के प्रसङ्ग में फ़ारसी की इस विधा की विशेष रूप से चर्चा की है। जो इस प्रकार है -

प्रत्येकमह्नो घटते गुरोर्यद्
यज्जीवने कस्यचनापि तत्तत्।
तदीयशिष्या: क्रमश: स्ववाचा
पारस्यदेश्या उपवर्णयन्ति।।
यद्यच्च तेषां गुरवो ब्रुवन्ति
यद्यच्च तेऽन्यै: सह चर्चयन्तिं।
हितेच्छया वोपदिशन्ति यद्यल्
लिखन्ति शिष्या: स्वगिरा हि तत्तत्।।
पारस्यदेशे सुतरां प्रसिद्ध:
प्रवर्ततेऽद्यापि शुभ: क्रमोऽयम्।
प्रक्कालिकानामपि येन बोध:
संजायते नैकबुधाग्रगाणाम्।।
एतद्विधा पद्धतिरस्मदीये
न सांस्कृते वाङ्मय इत्यतो न:।
न नामबोधोऽपि पुरातनानां
सहस्रश: संस्कृतपण्डितानाम्।।
शिष्यै रचितमेतादृग् गुरुसम्बन्धि वाङ्मयम्।
पारस्यां कीर्त्यते वाचि मल्फ़ूजातेतिसंज्ञया।।
तत्रत्यं विपुलं चापि पत्रवाङ्मयमद्भुतम्।
बुधैर्मक्तूब्निगारीति संज्ञया तत्र कीर्त्यते।।
संस्कृतेऽपि भवेदेतद्यदि तर्हि समेधितम्।
भवेत्तद्वाङ्मयं भूयो नास्त्यत्र मम संशय:।।

संस्कृत वाङ्मय का जो अंश असमृद्ध है वह भी समृद्ध हो यह समय की मांग है।

अन्त में एक बात और। मेरे जीवन के अनेक वर्ष दक्षिण पूर्व एशिया में बीते हैं। जिसे मैंने बहुत निकट से देखा है। मैंने पाया है कि वहां की भाषा में संस्कृत के शब्द प्रचुर हैं और यह तब जबकि उनका संस्कृत के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। वे संस्कृत मूल की नहीं हैं। शताब्दियों से वाणिज्य-व्यवसाय एवं धर्म-प्रचार के लिये वहां जाने वाले भारतीयों के माध्यम से वे वहां अपना लिये गये हैं। किञ्च, विदेशी भाषाओं के परिभाषिक-शब्दों-को-अपनी भाषा

में रूपान्तरित करने के प्रयास में वहां के निवासियों ने संस्कृत शब्दों से पूर्वपरिचित होने के कारण उनका संस्कृत रूपान्तर कर उन्हें ही अपनी भाषा में समाविष्ट कर लिया। दक्षिण पूर्व एशिया के देशों की संस्कृतमूलक शब्दावली की पहिचान और उसका सङ्कलन अपने में अत्यन्त रोचक एवं मनोहर कार्य है। मुम्बई के सोमैया विद्याविहार ने एक बृहद योजना के रूप में इसे अपने हाथ में लिया है और उसके संयोजन का कार्य मुझ अकिञ्चन को ही सौंपा है। मैं जब उन शब्दों को देखता हूँ तो चमत्कृत हो जाता हूँ। अभी दक्षिण पूर्व एशिया शब्द का मैंने प्रयोग किया। यदि किसी थाई को यह कहना हो तो वह कहेगा 'आसिया आखने', एशिया आग्नेय अर्थात् आग्नेय एशिया, एशिया का वहाँ आसिया की तरह उच्चारण किया जाता है, आखने संस्कृत का आग्नेय है। उत्तर पूर्व के लिये वहां ईसान, ईशान शब्द का प्रयोग है। वाटरवर्क्स के लिये प्रपा शब्द है – प्रपा पानीयशालिका। कलेण्डर के लिये शब्द है – प्रतिदिनम्। चेक् के लिये धनपत्र, तार के लिये दूरलेख, डाकखाना के लिये प्रैषणी। वायुयान को वहां आकाशयान कहा जाता है जो वायुयान की अपेक्षा अधिक सटीक प्रतीत होता है। इसी प्रकार अधिक सटीक शब्द है टेलीफोन के लिये दूरशब्द जोकि दूरभाष से कम भारी और अपेक्षाकृत अधिक सुगम है। मलय भाषा में prejudice के लिये शब्द है पूर्वशङ्का। लाओ भाषा में प्रहार के लिये शब्द है घात। इण्डोनेशिया में इसी जैसा ही शब्द है अवघात । भारी अपराध के लिए लाओ शब्द है गुरुदोष। Judge को वहां कहा जाता है तुलाकान्, तुलाकार जोकि बहुत सटीक है। तुला न्याय का प्रतीक है। अनेक देशों में न्याय का चिह्न तुला ही है। संचार माध्यम Communication अथवा Means of Communication के लिये वहां शब्द है गमनागोम्, गमनागमन। शिल्पकार को वहां आज भी शिल्पकार ही कहा जाता है। यह संस्कृत की अपरिमित ऊर्जा का ही प्रभाव है कि इण्डोनेशिया की भाषा में खालीपन या निराशा के लिये शब्द है अचिन्त्यभावना। हाथी के लिये आज भी गज शब्द ही प्रयुक्त है। इसी प्रकार पुत्र और पुत्री के लिये वे शब्द ही। थाई में शौचालय के लिये शब्द है सुखा और स्नान आदि के लिये सुखभाव। भोजन के लिये वहां शब्द है आहार। मलय में विचार शब्द का चर्चा के अतिरिक्त कानूनी कारवाई Legal Proceedings भी अर्थ है। इण्डोनेशिया में अट्टालिका के लिये शब्द है विस्म या वेश्म। सैन्य मुख्यालय Army Headquarter के लिये वहां का शब्द है गृह पूर्णायुध। जानवरों के लिये वहां शब्द है लोकसत्त्व और चिड़ियाघर, Zoo, के लिये अनेकसत्त्व। इण्डोनेशिया के खेल प्राधिकरण या Sports Authority of Indonesia का इण्डोनेशिया भाषा का नाम है – शासन अनेक क्रीड़ा। इण्डोनेशिया से थाईलैण्ड की ओर फिर लौट के आयें। यह बात ध्यान आकर्षित करती है कि दक्षिण पूर्व एशिया की अनेक भाषाओं में अनेक प्रकरणों में अनेक शब्द का प्रयोग है। बहूद्देश्यीय अथवा Multipurpose के लिय थाई भाषा में शब्द है -

अनेक प्रसोङ्, अनेक प्रसङ्ग । उस फल का जिसे अपने यहां शरीफा कहा जाता है का इण्डोनेशिया का नाम है श्रीकाय।

सामान्यत: एक वर्ष के भीतर-भीतर दक्षिण पूर्व एशिया की संस्कृत मूलक शब्दावली का कोश. संस्कृत जगत् को उपलब्ध हो जायगा। संस्कृत के लेखक उसमें से उपयोगी शब्द ले सकते हैं और अपनी रचनाओं में उनका प्रयोग कर सकते हैं। कभी ये शब्द भारत से गये थे। अब उनकी वापसी की यात्रा प्रारम्भ हो सकती है। इस यात्रा को प्रारम्भ होना ही चाहिये। इक्कीसवीं शती इसी ओर सङ्केत कर रही है।

इक्कीसवीं शती में संस्कृत के लिये करने को बहुत कुछ है। यह विश्व की प्राचीनतम भाषा भी है और नवीनतम भी। यही इसकी विलक्षणता है। सृष्टि के आदिम काल में भी यह थी और आज इक्कीसवीं शती में भी यह है।

TO THE BUDDHA

The world today is wild with the delirium of hatred,
the conflicts are cruel and unceasing,
crooked are its paths, tangled its meshes of greed.
All creatures are crying for a manifestation of thine.
Oh Thou of boundless life, save them, raise thine
eternal voice of hope.

Let love's lotus with its inexhaustible treasure of honey
open its petals in thy light.

O Serene, O Free, in thy immeasurable mercy and
goodness wipe away all dark stains from the heart of
this earth.

Thou giver of immortal gifts, give us the power of
dedication, claim from us our greed, and pride of
self. In the splendour of a new sun-rise of wisdom
let the blind gain thine sight, let life come to the
souls that are dead.

O Serene, O Free, in thine immeasurable mercy and
goodness wipe away all dark stains from the heart of
this earth.

.... Rabindranath Tagore

" The religion of the future will be a cosmic religion. It should transcend a personal God and without dogmas and theology. Covering both the natural and the spiritual, it should be based on a religious sense arising from the experience of all things, natural and spiritual, as a meaningful unity. Buddhism answers this description. "

------- Albert Einstein

" We live in an age of conflict and war, of hatred and violence, all over the world. Never before has the need been greater for all of us to remember that immortal message which Lord Buddha, the greatest and noblest of the sons of India, gave to us, and to you, and to all the world. That message of two thousand five hundred years ago is a living message today, enshrined in our hearts, and we draw inspiration from it to face the troubles and difficulties that threaten to overwhelm us. "

.... Jawaharlal Nehru

" It is my deliberate opinion that the essential part of the teachings of the Buddha now form an integral part of Hinduism. It is impossible for Hindu India now to retrace her steps and go behind the great reformation that Gautama effected in Hinduism. By his immense sacrifice, by his great renunciation and by the immaculate purity of his life, he left an indelible impress upon Hinduism, and Hinduism owes an eternal debt of gratitude to that great teacher."

.... M. K. Gandhi

Summary of the paper

HOW BUDDHISM REACHED THAILAND

BY

KARUNA KUSALASAYA

Different opinions exist about when exactly did Buddhism reach that part of the world now officially known as Thailand. Some scholars say that Buddhism was introduced to Thailand during the reign of Asoka, the great Indian emperor who sent Buddhist missionaries to various parts of the then known world. Others are of the view that Thailand received Buddhism much later. Judging from archaeological finds and other historical evidence, however, it is safe to say that Buddhism first reached Thailand when the country was inhabited by a racial stock of people known as the Mon-Khmer who then had their capital, Dvaravati, at a city now known as Nakon Pathom (Sanskrit:Nagara Prathama), about 50 kilometres to the west of Bangkok. The great pagoda at Nakon Pathom, Phra Pathom Chedi (Prathama cetiya), and other historical findings in other parts of the country testify to this fact as well as to the fact that Buddhism, in its varied forms, reached Thailand at four different periods, namely:

I. Theravada or Southern Buddhism

II. Mahayana or Northern Buddhism

III. Myanmar (Pagan) Buddhism

IV. Sri Lanka (Lankavamsa) Buddhism

We shall now proceed to study each of these periods in detail.

I. Theravada or Southern Buddhism

That the first form of Buddhism introduced to Thailand was that of Theravada (The Doctrine of the Elders) School is proved by various archaeological remains unearthed in the excavations at Nakon Pathom, such as

the Dharma Chakra (Wheel of Law), the Buddha footprints and seats, and the inscriptions in the Pali language, all of which are in rocks. Such objects of Buddhistic veneration existed in India before the introduction of the Buddha image, which appeared later as a result of the Greek influence. Buddhism, therefore, must have reached Thailand during the 3rd century B.C., and it must have been more or less the same form of Buddhism as was propagated by the great Buddhist Emperor Asoka. This form of Buddhism was known as Theravada or Hinayana (The Lower Vehicle) in contradistinction to the term Mahayana (The Higher Vehicle); the two schools having spring up soon after the passing away of the Buddha. When the worship of the Buddha image became popular in India, it also spread to other countries where Buddhism had already been introduced. This is borne out by the fact that many Buddha images, especially those of the Gupta style, had been found in the ruins of Nakon Pathom and the neighbouring cities. Judging from the style of the Buddha images found, it can also be assumed that the early Buddhist missionaries to Thailand, went from Magadha (in Bihar State, India).

To support the view that the first form of Buddhism introduced to Thailand was that of the Theravada School as propagated by Emperor Asoka, we have evidence from the Mahavamsa, the ancient chronicle of Sri Lanka. In one of its passages dealing with the propagation of the Dhamma, the Mahavamsa records that Asoka sent missionaries headed by Buddhist elders to as many as nine territories. One of these territories was known as Suvarnbhumi where two Theras (elder monks), Sona and Uttara, were said to have proceeded.

Now opinions differ as to where exactly is this land of Suvarnabhumi. Thai scholars express the opinion that it is in Thailand and that its capital was at Nakon Pathom, while scholars of Myanmar say that Suvarnabhumi is in Myanmar, the capital being at Thaton, a Mon (Peguan) town in Eastern Myanmar near the Gulf of Martaban. Still other scholars of Laos and Cambodia

claim that the territory of Suvarnabhumi is in their lands. Historical records in this connection being meagre as they are, it would perhaps be of no avail to argue as to the exact demarcation of Suvarnabhumi. Taking all points into consideration one thing, however, seems clear beyond dispute. That is Suvarnabhumi was a term broadly used in ancient times to denote that part of Southeast Asia which now includes Southern Burma, Thailand, Laos, Cambodia and Malaysia. The term Suvarnabhumi is a combination of the words "Suvarna" and "Bhumi". Both are Sanskrit words; the former means gold and the latter stands for land. Suvarnabhumi therefore literally means Golden Land or Land of Gold. Keeping in view the abundance of nature in that part of Asia just referred to, the term seems but appropriate.

The reason why scholars of Thailand express the view that the capital of Suvarnabhumi was at Nakon Pathom is because of the archaeological finds unearthed in the area surrounding that town. Nowhere in any of the countries mentioned above, not even at Thaton in Myanmar, could one find such a large and varied number of ancient relics as were found at Nakon Pathom. By age and style these archaeological objects belong to the times of Emperor Asoka and the later Guptas. Even the Great Stupa (Phra Pathom Chedi) at Nakon Pathom itself basically is identical with the famous Sanchi Stupa in India, built by Asoka, especially if one were to remove the Shikhara or upper portion off. Many Thai archaeologists are of the opinion that the Shikhara was a later addition to the pagoda, a result, so to say, of the blending of the Thai aesthetic sense with the Indian architectural art. Moreover, the name Pathom Chedi (Pali:Pathama Cetiya) means "First Pagoda" which, in all probability, signifies that it was the first pagoda built in Suvarnabhumi. This would easily fit in with the record of the Mahavamsa that Theras Sona and Uttara went and established Buddhism in the territory of Suvarnabhumi at the injunction of Emperor Asoka. Taking cognizance of the fact that Asoka reigned from 269

to 237 B.C., we can reasonably conclude that Buddhism first spread to Thailand during the 3rd century B.C. It is interesting to note in the this connection that the history of the penetration of Indian culture to Southeast Asia also started more or less during the same period.

II. Mahayana or Northern Buddhism

With the growth of Mahayana Buddhism in India, especially during the reign of King Kanishka who ruled over Northern India during the second half of the first century A.D., this school of Buddhism also spread to the neighbouring countries, such as Sumatra, Java and Kambuja (Cambodia). It is probable that Mahayana Buddhism was introduced to Myanmar, Pegu (Lower Myanmar) and Dvaravati (now Nakon Pathom in Western Thailand) from Magadha (in Bihar, India) at the same time as it went to the Malay Archipelago. But probably it did not have any stronghold there at that time; hence no spectacular trace was left of it.

Starting from the beginning of the fifth century A.D. Mahayana Buddhist missionaries from Kashmir in Northern India began to go to Sumatra in succession. From Sumatra the faith spread to Java and Cambodia. By about 757 A.D. (Buddhist Era:1300) the Srivijaya king with his capital in Sumatra rose in power and his empire spread throughout the Malay peninsula and archipelago. Part of South Thailand (from Surasthani downwards) came under the rule of the Srivijaya king. Being Mahayanists, the rulers of Srivijaya gave much encouragement and support to the propagation of Mahayana Buddhism. In South Thailand today we have much evidence to substantiate that once Mahayana Buddhism was prevalent there. This evidence is in the form of stupas or chetiyas and images including votive tablets of the Buddhas and Bodhisattas (Phra Phim), which were found in large number, all of the same type as those discovered in Java and Sumatra. The chetiyas in Chaiya and Nakon Sri Thammarath (Nagara Sri Dharmaraja), both in South Thailand,

clearly indicate Mahayana influence.

From 1002 to 1182 A.D. kings belonging to the Suryavarman dynasty ruled supreme in Cambodia. Their empire extended over the whole of present-day Thailand. Being adherents of Mahayana Buddhism with a strong mixture of Brahminism, the Suryavarman rulers did much to propagate and establish the tenets of the Northern School. There is an interesting stone inscription, now preserved in the National Museum at Bangkok, which tells us that in about 1017 A.D. (B.E. 1550) there ruled in Lopburi, in central Thailand and once a capital city, a king who went from Nakon Sri Thammarath who traced his ancestry to Srivijaya rulers. The king had a son who later became the ruler of Kambuja (Cambodia) and who, more or less, kept Thailand under the suzerainty of Cambodia for a long time. During this period there was much amalgamation of the two countries' religions and cultures. The stone inscription under consideration probably refers to one of the Suryavarman kings who had blood relationship with the Srivijaya rulers.

From the inscription just referred to we also learn that at that period the form of Buddhism prevalent in Lopburi was that of Theravada, and that Mahayana Buddhism, already established in Cambodia, became popularized in Thailand only after Thailand had come under the sway of Cambodia. There are no indications, however, that the Mahayana School superseded the Theravada Buddhism was already on a firm basis in Thailand when the Mahayana School was introduced there. That there were monks of both schools, Theravada and Mahayana, in Lopburi during those days, is indicated in a stone inscription in the Cambodian language, found in a Brahmanic Temple within the vicinity of Lopburi city itself.

Much of the Brahmanic culture which survives in Thailand till today could be traced to its origin from Cambodia during this period. Many of the

in many ways. This was due to the fact that Theravada Buddhism

Cambodian kings themselves were zealous adherents of Brahminism and its ways of life. This period, therefore, can be termed Mahayana Period. Sanskrit, the sacred language of the Hindus, took its root deep in Thailand during these times.

III. Myanmar (Pagan) Buddhism

In 1057 A.D. King Anuruddha (Anawratha) became powerful in the whole of Myanmar, having his capital at Pagan (Central Myanmar). Anuruddha extended his kingdom right up to Thailand, especially the Northern and Central parts, covering areas now known as Chiengmai, Lopburi and Nakon Pathom. Being a Theravada Buddhist, Anuruddha ardently supported the cause of Theravada Buddhism which Myanmar, like Thailand, at first received directly from India through missionaries sent by Emperor Asoka. However, at the time under consideration, Buddhism in India was already in a state of decline, and as contact between Myanmar and India was then faint, Theravada Buddhism, as prevalent in Myanmar at that time, underwent some changes and assumed a form somewhat different from the original doctrine. This, at a later stage, became what is known in Thailand as Myanmar (Pagan) Buddhism. During the period of King Anuruddha's suzerainty over Thailand, Myanmar Buddhism exercised great influence over the country, especially in the North where, owing to proximity, the impact from Myanmar was more felt. It is significant that Buddhist relics found in North Thailand bear a striking Theravada influence, whereas those found in the South clearly show their Mahayana connections dating back from Srivijaya days. To a great extent this is due to the fact that, in their heyday of suzerainty over Thailand, Myanmar under Anuruddha was content with Upper Thailand only, while leaving the South practically to be ruled by their Khmer (Cambodian) vassals whose capital was at Lopburi.

From the beginning of the 2nd century B.C. the Thai people, whose original homeland was in the valleys between the Huang Ho and the Yangtze

Kiang in China, began to migrate southwards as a result of constant friction with the neighbouring tribes. In the course of their migration which lasted for several centuries, they became separated into two main groups. One group went and settled in the plains of the Salween River, Shan States, and other areas and spread on as far as Assam. This group of Thais is called Thai Yai (Big Thai). The other main group moved further South and finally settled in what is today termed Thailand. The latter group of Thais is called Thai Noi (Small Thai). The Thais in present-day Thailand are actually the descendants of these migrant Thais. Of course, in the course of their migration which, as said above, continued off and on for a long time, there had been a great deal of mixture of blood through intermarriage which was only natural. We should always bear in mind that there are several ethnic groups scattered through the length and breadth of Southeast Asia from times immemorial. But even today we can trace the language affinity of the Thais living in widely scattered areas such as Assam, Upper Myanmar, Southern China, Shan States, Laos, North Vietnam and Thailand.

After struggling hard for a long time the Thais were able to establish their independent state at Sukhothai (Sukhodaya) in North Thailand. This was probably about 1257 A.D. (B.E. 1800). It was during the period of their movement southwards that the Thais came into contact with the form of Buddhism as practised in Myanmar and propagated under the royal patronage of King Anuruddha. Some scholars are of the opinion that as Mahayana Buddhism had spread to China as early as the beginning of the Christian Era, the Thais, while still in their original home in China, must have already been acquainted with some general features of Buddhism. As the Thai migrants grew in strength their territory extended and finally they became the masters of the land in succession to Anuruddha, whose kingdom declined after his death. During the succeeding period, the Thais were able to exert themselves even more prominently in

their southward drive. Thus they came into close contact with the Khmers, the erstwhile power, and became acquainted with both Mahayana Buddhism and Brahmanism as adopted and practised in Kambuja (Cambodia). Much of the Brahmanic influence, such as religious and cultural rites, especially in royal courts, passed on from Cambodia to the Thais during this period, for Hinduism was already firmly established in Cambodia at that time. Even the Thai scripts, based on Cambodian scripts which, in turn, derived their origin from India, were invented by King Ram Kamhaeng of Sukhothai during the period under consideration.

Of the period under discussion it may be observed in passing that Northern Thailand, from Sukhothai District upwards, came much under the influence of Myanmar (Pagan) Buddhism, while in the central and southern parts of the country many Mahayana beliefs and practices, inherited from the days of the Suryavarmans and the Srivijayas, still persisted.

IV. Sri Lanka (Lankavamsa) Buddhism

This is the most important period in the history of the spread of Buddhism to Thailand for it witnessed the introduction to that country of that form of Buddhism which remains dominant there until today.

About 1153 A.D. (B.E. 1696) Parakramabahu the Great (1153-1186 A.D.) became king of Sri Lanka, known in ancient day as Lanka. A powerful monarch and a great supporter of Theravada Buddhism, Parakramabahu did much to spread and consolidate the Dhamma of the Lord in his island kingdom. He it was who caused (according to some scholars of Southern Buddhism) the Seventh Buddhist Council to be held under the chairmanship of Kassapa Thera, of Dimbulagala in order to revise and strengthen the Doctrine and the Discipline (Dhamma and Vinaya). As a result of the efforts of King Parakramabahu the Great, Buddhism was much consolidated in Ceylon and the news spread to neigh-bouring lands.

Buddhist monks from various countries, such as Myanmar, Pegu (Lower Myanmar), Kambuja, Lanna (North Thailand) and Lanchang (Laos) flocked to Sri Lanka in order to acquaint themselves with the pure form of the Dhamma. Thailand also sent her Bhikkhus to Sri Lanka and thereby obtained the Upasampada Vidhi (Ordination Rite) from Sri Lanka, which later became known in Thailand as Lankavamsa. This was about 1257 A.D. (B.E. 1800). Apparently the early batches of Bhikkhus, who returned from Sri Lanka after studies, often accompanied by Sri Lanka monks, established themselves first in Nakorn Sri Thammarath (South Thailand), for many of the Buddhist relics bearing definitely Sri Lanka influence, such as Stupas and Buddha images, were found there. Some of these relics are still in existence today. News of the meritorious activities of these monks soon spread to Sukhothai, then the capital of Thailand, and King Ram Kamhaeng who was ruling at the time, invited those monks to his capital and gave them his royal support in propagating the Doctrine. This fact is recorded in one of the King's rock inscriptions, dated about 1277 A.D. Since then Sri Lanka (Sinhala) Buddhism became very popular and was widely practised in Thailand. Some of the Thai kings, such as King Maha Dharmaraja Lithai of Sukhothai dynasty and King Borom Trai Lokanath of early Ayudhya Period, even entered the Holy Order or Bhikkhu Sangha according to the Ordination Rite of Lankavamsa Buddhism by inviting a patriach from Sri Lanka, Maha Sami Sangharaja Sumana by name, to be the presiding monk over his Upasampada (Ordination) ceremony. Many monasteries, stupas, Buddha images and even Buddha footprints, such as the well-known one at Sraburi in Central Thailand, were built in accordance with the usage popular in Sri Lanka. The study of Pali, the language of Theravada or Southern Buddhism also made great progress, and in all matters dealing with the Dhamma the impact of Sri Lanka was perceptibly felt. However, there had been no antagonism between the different forms of Buddhism already in existence in Thailand and the Lankavamsa which had been introduced later from Sri Lanka. On the contrary they seemed to

have amalgamated peacefully, and all had adjusted themselves to one another's benefit. This is evident in all religious rites and ceremonies of Thailand. Indeed, somewhat characteristic of the Buddhists, there had been a spirit of forbearance in all matters. For instance, even today Brahmanic rites thrive side by side with Buddhistic ceremonies in Thailand and Cambodia, especially in the royal courts.

History repeats itself. Years after, when in Sri Lanka under King Kirtisri (1747-1781 A.D.) the Upasampada Ordination was lost due to a decline of Buddhism and upheavals in the country, Thailand (during the reign of King Boromkot, 1733-1758 A.D.) was able to repay the debt by sending a batch of Buddhist monks, under the leadership of Upali and Ariyamuni Theras, who in the course of time established in Sri Lanka what is known as the "Siyamopali Vamsa" or "Siyam Nikaya", or Siamese Sect, which still is a major sect in that country. Upali worked and died in Sri Lanka, the country he loved no less than his own.

Today, for all purposes, Thailand can be termed a Theravada Buddhist country. There are, of course, a few Mahayana monks and monasteries but they are mostly confined to foreign communities, chiefly the Chinese, and Vietnamese. All, however, live at peace and co-operate with one another.

Karuna Kusalasaya : *An alumnus of Vishva Bharati University founded by Rabindranath Tagore at Santiniketan, Bengal, India, and a student of Indian culture in Southeast Asia*

भारतीयज्यौतिष॥ गोरखप्रसाद Cor

नेमिचन्द्रजैन Amrala

फलित मार्तण्ड

मुकुन्दवल्लभ शर्मा

लघुपाराशरी

रामचन्द्र झा विद्याल माधव

Summary of the paper

Ramayana Themes in Modern Sanskrit Literature

--------Dr. Mrs. Usha Satyavrat

The Ramayana has served as a perennial source for themes to creative writers in all languages in India including Sanskrit. In spite of the multiplicity of the other themes available, they felt compulsively drawn to it for themes from its vast canvas and complex matrix which they want to recreate according to their light. They have also composed works on the Ramayana characters around whom is woven the Ramayana theme.

Rama story finds expression in modern literature in varied lieterary forms : poetry and drama.

The life story of Sitawhose importance in the unfoldment of the Ramayana narrative is highlighted by Valmiki himself in describing his work as her/ life-account : sitayas caritam, finds description in three Sanskrit Mahakavyas, the ten-canto Sitacaritam of Rewa Prasad Dwivedi, the nineteen-canto Janakijivanam of Abhiraja Rajendra Mishraand the ten-canto Vaidehicaritam of Ram Chandra Mishra. In all these the authors have used their innovative skill in giving a new turn to the story. In the Sitacaritam the author so arranges the theme as to make Sita offer herself for exile to save the reputation of her husband which had come under attack from the Ayodhya citizens for her having lived in the house of Ravana. It is in exile in the vicinity of the Ganga that she gives birth to twins under the care of the forest dwellers and hands them over to Valmiki following his offer and repairs to his hermitage. It is there the fight ensues when they grow up between Laksmana's son Candraketu first and Rama himself later when they drive away the horse let loose for the horse sacrifice. Disregarding the entreaties of Candraketu to return to Ayodhya Sita takes to Yogasamadhi to bring an end to her life with no interest left in it and is buried in the earth by the sages, that being the entombment in it as per the version of the author. The Janakijivanam drop s the episode of Sita's exile. The washerman's charge according to it examined in an open assembly with Vasistha upholding the divine character of Rama and Sita making the washerman realize his guilt and beg for forgiveness. The Vaidehicaritam describes the birth of Sita from the ground which was ploughed by King Janaka for the performance of the sacrifice to placate god Varuna to shower forth rain on his parched land which had been struck with terrific famine. Describing the childhood of Sita in graphic detail, the work follows by and large the subsequent events in Valmiki's narrative.

Of the other modern Sanskrit works having connection with the Ramayana mention may be made of the seventeen-canto Urmiliya-mahakavyam of Narayana Shukla which depicts Urmila as the real daughter of Janaka with Sita being discovered by him from a jar, an incident strikingly similar to that in the Ramakien, the Thai Ramayana who engages herself in a spirited dialogue with her husband Laksmana and approves wholeheartedly in line with her mother-in-law Sumitra his accompanying his brother Rama to the forest; Sridasa-rathicaricaritam of Jaggu Shingararya which is an account in briefest outline of the life story of Rama; the Sitavicaralahari, a Kavya in Lahari style in 192 verses which is a translation in Sanskrit by N. Gopala Pillai of the Malayalam work the Cintavistayaya Sita of N. Kumaran Asan comprising as it does a penetrating study of the psyche of Sita as she stands outside her hut , all by herself, with her sons having left along with Valmiki for Ayodhya in connection with the horse sacrifice of Rama, with all sorts of ideas coming crowding in her mind; the Sitaravanasamvadajhari of Ram Shastri and Sita Ram Shastri which is a dialogue found also in brief in the Valmiki Ramayana, between Ravana and Sita, the former proposing to her and the latter administering him a stern rebuff; the Sriramavilapam of Krishna Prasad Ghimirewhich describes in its eighty-nine verses the poignant grief of Rama in separation from his beloved wife; the five-canto Khandakavya the Ramavijayam of S.B. Raghunathacharya which delineates Rama's victory over Parasurama who challenges him on hs way back from Mithila after breaking the Siva's bow; the Ramarajyam of Purna Prasad Brahmana which has a separate theme for each of its cantos, the visit to Rama of the sages to felicitate him on his good governance (Canto1), the royal edict to be publicized to explain to the questioning masses as to why Rama has sent Sita in exile(Canto II), the deputing by Rama of Satrughna to vanquish the demon Lavana on a representation made to him by people (Canto III), the anointment of Satrughna as the ruler of Mathura and his plans to improve the lot of the people (Canto IV), and the instructions of Rama to rulers assembled in Saketa to engage themselves in the welfare of the subjects in their respective terrotories; the ten-act play the Setubandham of Balabhadra Prasad Shastri which summarizes the entire story of the Ramayana from the point of Rama's fight wirh demons in the Dandaka forest to save the hermits from their depradations to to that of building the causeway on the ocean for launching an attack on Lanka and the Radio play the Sitatyagah of K.T. Pandurangi recounting the story in line with the Ramayana of Valmiki on account of public calumny.

the five-
canto Kavya
the/

An important work and the first of its kind on any version of the Rama story outside of India is the twenty-fivecanto Sanskrit Mahakavya the Sriramakirtimahakavyam of Satya Vrat Shastri which deals with the the Thai Ramakien, the Rama story of Thailand which with its plethora of episodes and sub-episodes peculiar to it is very different from any of the Rama stories of India and abroad.

A full corpus of works connected with the Ramayana has grown in modern Sanskrit literature in recent years which needs careful notice for proper appreciation. The present paper is an attempt in that direction.

....

in modern Sanskrit literature in recent years

for proper appreciation. The present paper is an at

that direction.

****

Summary of the paper

Rāmāyaṇa Themes in Modern Sanskrit Literature

--------Dr. Mrs. Usha Satyavrat

The Rāmāyaṇa has served as a perennial source of for themes to creative writers in all languages in India including Sanskrit. In spite of the multiplicity of the other themes available, they felt compulsively drawn to it for themes from its vast canvas and complex matrix which they want to recreate according to their light. They have also composed works on the Rāmāyaṇa characters around whom is woven the Rāmāyaṇa theme.

Rāma story finds expression in modern literature in varied lieterary forms : poetry and drama.

The life story of Sītā whose importance in the unfoldment of the Rāmāyaṇa narrative is highlighted by Vālmīki himself in describing his work as the life-account of : Sītāyāś caritam, finds description in three Sanskrit Mahakavyas, the ten-canto Sītācaritam of Rewa Prasad Dwivedi, the nineteen-canto Jānakījīvanam of Abhiraja Rajendra Mishra and the ten-canto Vaidehīcaritam of Ram Chandra Mishra. In all these the authors have used their innovative skill in giving a new turn to the story. In the Sītācaritam the author so arranges the theme as to make Sītā offer herself for exile to save the reputation of her husband which had come under attack from the Ayodhyā citizens for her having lived in the house of Rāvaṇa. It is in exile in the vicinity of the Gaṅgā that she gives birth to twins under the care of the forest dwellers and hands them over to Vālmīki following his offer and repairs to his hermitage. It is there that the fight ensues when they grow up between Lakṣmaṇa's son Candraketu first and Rāma himself later when they drive away the horse let loose for the horse sacrifice. Disregarding the entreaties of Candraketu to return to Ayodhyā Sītā takes to Yogasamādhi to bring an end to her life with no interest left in it and is buried in the earth by the sages, that being the entombment in it as per the version of the author. The Jānakījīvanam drops the episode of Sītā's exile. The washerman's charge according to it examined in an open assembly with Vasiṣṭha upholding the divine character of Rāma and Sītā making the washerman realize his guilt and beg for forgiveness. The Vaidehīcaritam describes the birth of Sītā from the ground which was ploughed by King Janaka for the performance of the sacrifice to placate god Varuna to shower forth rain on his parched land that had been struck with terrific famine. Describing the childhood of Sītā in graphic detail, the work follows by and large the subsequent events in Valmiki's narrative.

Summary of the paper

Rāmāyaṇa Themes in Modern Sanskrit Literature

--------Dr. Mrs. Usha Satyavrat

The Rāmāyaṇa has served as a perennial source of for themes to creative writers in all languages in India including Sanskrit. In spite of the multiplicity of the other themes available, they felt compulsively drawn to it for themes from its vast canvas and complex matrix which they wanted to recreate according to their light. They have also composed works on the Rāmāyana characters around whom is woven the Rāmāyaṇa theme.

Rāma story finds expression in modern literature in varied lieterary forms : poetry and drama.

The life story of Sitā whose importance in the unfoldment of the Rāmāyaṇa narrative is highlighted by Vālmiki himself in describing his work as her life-account : Sitāyāś caritam, finds description in three Sanskrit Mahakavyas, the ten-canto Sitācaritam of Rewa Prasad Dwivedi, the nineteen-canto Jānakijivanam of Abhiraja Rajendra Mishra and the ten-canto Vaidehicaritam of Ram Chandra Mishra. In all these the authors have used their innovative skill in giving a new turn to the story. In the Sitācaritam the author so arranges the theme as to make Sitā offer herself for exile to save the reputation of her husband which had come under attack from the Ayodhyā citizens for her having lived in the house of Rāvaṇa. It is in exile in the vicinity of the Gaṅgā that she gives birth to twins under the care of the forest dwellers and hands them over to Vālmiki following his offer and repairs to his hermitage. It is there that the fight ensues when they grow up between Lakṣmaṇa's son Candraketu first and Rāma himself later when they drive away the horse let loose for the horse sacrifice. Disregarding the entreaties of Candraketu to return to Ayodhyā Sitā takes to Yogasamādhi to bring an end to her life with no interest left in it and is buried in the earth by the sages, that being the entombment in it as per the version of the author. The Jānakijivanam drops the episode of Sitā's exile. The washerman's charge according to it examined in an open assembly with Vasiṣṭha upholding the divine character of Rāma and Sitā making the washerman realize his guilt and beg for forgiveness. The Vaidehicaritam describes the birth of Sitā from the ground which was ploughed by King Janaka for the performance of the sacrifice to placate god Varuṇa to shower forth rain on his parched land which had been struck with terrific famine. Describing the childhood of Sitā in graphic detail, the work follows by and large the subsequent events in Vālmiki's narrative.

Of the other modern Sanskrit works having connection with the Rāmāyaṇa mention may be made of the seventeen-canto Ūrmilīya-mahākāvyam of Narayana Shukla which depicts Ūrmilā as the real daughter of Janaka with Sītā being discovered by him from a jar, (an incident strikingly similar to that in the Ramakien, the Thai Rāmāyaṇa) who engages herself in a spirited dialogue with her husband Lakṣmaṇa and approves wholeheartedly in line with her mother-in-law Sumitrā his accompanying his brother Rāma to the forest; Śrīdāśarathicaritam of Jaggu Shingararya which is an account in briefest outline of the life story of Rāma; the Sītāvicāralaharī, a Kāvya in Lahari style in 192 verses which is a translation in Sanskrit by N. Gopala Pillai of the Malayalam work the Cintavistayaya Sītā of N. Kumaran Asan comprising as it does a penetrating study of the psyche of Sītā as she stands outside her hut, all by herself, with her sons having left along with Vālmīki for Ayodhyā in connection with the horse sacrifice of Rāma, ~~with all sorts of ideas coming crowding in her mind~~; the Sītārāvaṇasaṁvādajharī of Ram Shastri and Sita Ram Shastri which is a dialogue found also in brief in the Vālmīki Rāmāyaṇa, between Rāvaṇa and Sītā, the former proposing to her and the latter administering him a stern rebuff; the Śrīrāmavilāpam of Krishna Prasad Ghimire which describes in its eighty-nine verses the poignant grief of Rāma in separation from his beloved wife; the five-canto Khaṇḍakāvya the Rāmavijayam of S.B. Raghunathacharya which delineates Rāma's victory over Paraśurāma who challenges him on his way back from Mithilā after breaking the Siva's bow; the (~~the~~ five-canto Kāvya the) Rāmarājyam of Purna Prasad Brahmana which has a separate theme for each of its cantos, the visit to Rāma of the sages to felicitate him on his good governance (Canto1), the royal edict to be publicized to explain to the questioning masses as to why Rāma had sent Sītā in exile (Canto II), the deputing by Rāma of Śatrughna to vanquish the demon Lavaṇa on a representation ~~made~~ to him by people (Canto III), the anointment of Śatrughna as the ruler of Mathurā and his plans to improve the lot of the people (Canto IV), and the instructions of Rāma to rulers assembled in Sāketa to engage themselves in the welfare of the subjects in their respective territories; the ten-act play the Setubandham of Balabhadra Prasad Shastri which summarizes the entire story of the Rāmāyaṇa from the point of Rāma's fight with demons in the Daṇḍaka forest to save the hermits from their depradations to ~~to~~ that of building the causeway on the ocean for launching an attack on Laṅkā and the Radio play the Sītātyāgaḥ of K.T. Pandurangi recounting the story in line with the Rāmāyaṇa of Vālmīki on account of public calumny.

An important work and the first of its kind on any version of the Rāma story outside of India is the twenty-five canto Sanskrit Mahākāvya the Śrīrāmakīrtimahākāvyam of Satya Vrat Shastri which deals with the ~~the~~ Thai Ramakien, the Rāma story of Thailand which with its plethora of episodes and sub-episodes peculiar to it is very different from any of the Rama stories of India and abroad.

A full corpus of works ~~hx~~ connected with the Rāmāyaṇa has grown in modern Sanskrit literature in recent years which needs careful notice for proper appreciation. The present paper is an attempt in that direction.

....

Karunā as a Creative Principle in Buddhism

- Usha Satyavrat

Religion is a matter of experience, it cannot be entirely theoretical. Although every religion has a ceremonial aspect, yet religion in its true sense is actually a direct awareness of the world of values. The rites and ceremonies are often nothing but indirect methods to prove the importance of these basic values. The culture of a country is reflected in its religion and that of India is no exception. Each civilization has its own pivot, i.e. ancient Greece was devoted to art and ancient Rome was committed to politics. If we compare these civilizations with that of India we find that the civilization having their feet on secularism have faded into oblivion while Indian civilization stood undaunted weathering many a fierce storm of changed political and religious atmosphere, because here foundations are the eternal values of philosophy and moral code, and not the shifting sands of pseudo secularism. There came a succession of spiritual leaders who are the true bearers of culture, which is a synthesis of sweet compassion and truth. Sweetness is what expresses itself as universal love and truth is what is called spiritual enlightenment. Their call is not meant for any particular seat or school but for the whole of humanity. Their message and teachings are not for a particular time or place, but for the entire world and eternity.

Buddha and Buddhism are the perfection of love and compassion. In fact the nine virtues of Lord Buddha are, "itipi so bhagavā archam sammasambaddho vijjacāranasampanno sugato lokavidu anuttaro purisadammasārathi sattha devamanussānaṁ buddho bhagavāti" i.e. the exalted one, the accomplished destroyer of defilments, a Buddha perfected by himself, complete in clear knowledge and compassionate conduct, supremely good in presence and in destiny, the knower of world, incomparable master of men to be tamed, the teacher of celestials and men, the awakener, and the Lord by skilful means apportioning Dhammas.

Karunā as a Creative Principle in Buddhism

- Usha Satyavrat

Religion is a matter of experience, it cannot be entirely theoretical. Although every religion has a ceremonial aspect yet religion in its true sense is actually a direct awareness of the world of values. The rites and ceremonies are often nothing but indirect methods to prove the importance of these basic values. The culture of a country is reflected in its religion and that of India is no exception. Each civilization has its own pivot, i.e. ancient Greece was devoted to art and ancient Rome was committed to politics. If we compare these civilizations with that of India we find that the civilization having their feet on secularism have faded into oblivion while Indian civilization stood undaunted weathering many a fierce storm of changed political and religious atmosphere, because here foundations are the eternal values of philosophy and moral code, and not the shifting sands of pseudo secularism. There came a succession of spiritual leaders who are the true bearers of culture, which is a synthesis of sweet compassion and truth. Sweetness is what expresses itself as universal love and truth is what is called spiritual enlightenment. Their call is not meant for any particular seat or school but for the whole of humanity. Their message and teachings are not for a particular time or place, but for the entire world and eternity.

Buddha and Buddhism are the perfection of love and compassion. In fact the nine virtues of Lord Buddha are "itipi so bhagavā archam sammasambaddho vijjacāranasampanno sugato lokavidu anuttaro purisadammasārathi sattha devamanussānaṁ buddho bhagavāti" i.e. the exalted one, the accomplished destroyer of defilments, a Buddha perfected by himself, complete in clear knowledge and compassionate conduct, supremely good in presence and in destiny, the knower of world, incomparable master of men to be tamed, the teacher of celestials and men, the awakener, and the Lord by skilful means apportioning Dhammas.

There is another method of summing up the cirtues of Buddha. This is to classify them with the three categories, that is to say, the virtues of wisdom, of purity and of compassion. The nine epithets above may be included under these three great virtues as follows:

Wisdom and purity	"Accomplished destroyer of defilements"
Wisdom	"A Buddha perfected by himself (sammassambuddha) the knower of the world's (lokavidu)"
Wisdom and compassion	"Complete in clear knowledge and compassionate conduct (vijjacaranasampanno) the awakened and awakener (Buddho) the Lord by skilful means apportioning Dhamma"
Compassion	"Supremely good in presence and in destiny (sugato) incomparable master of men to be tamed (anuttaro purisadammasārathi) the teacher of celestials and men (sattha devamanussānam)

Buddha believes that the perfection of loving-compassion and thought is the key to enter into the world of emancipation. He once says to Sumedha to fulfil the perfection of loving compassion. He ordains "O wise Sumedha - be of the same frame of mind towards those who are well and ill disposed towards you. As water extends the coolness equally alike to both the wicked and the virtuous; you too remain with the same frame of mind, with thoughts of love towards all creatures and become a Buddha. Reflecting thus he firmly resolved on the perfection of loving-compassion. The following anecdote reveals the essential points in the perfection of the loving-compassion.

At one time the exalted one was staying at Sāvatthi, in Prince Jetas Grove in the park of Anathapindika. Then the exalted one spoke thus to the Bhikkhus – "When the heart's deliverance of loving-compassion is made use of , developed, made much of, used as one's vehicle, used as one's foundation, established, consolidated and properly managed then eleven advantages can be expected. These are : One goes to sleep happily,

one wakes up happily, one sees no evil dreams, one is dear to men, one is dear to non-
men, the Gods protect one, neither fire nor poison not weapons can harm one, one's mind
easily concentrated, the colour of one's face is radiant, one dies unconfused, and one
attains the Brahma–world even if one penetrates to nothing higher.

When the hearts deliverance of loving compassion is made use of, developed,
made much of used as one's vehicle, used as one's foundation, established, consolidated
and properly managed these eleven advantages can be expected.

Praising the development of loving-compassion which holds these eleven
advantages, a Bhikkhu ought to show compassion to all creatures whether by means of
specific (practice) or generally he should be a friend to the friendly, even friend to the
unfriendly, and a friend to the indifferent. Thus to all without distinction whether by
some special practice or general principles, he should develop loving compassion, he
should develop compassion (with others' sorrow), gladness with others' happiness and
equanimity and thus should work be done by means of the four divine abidings. By
doing so he will reach the world of Brahma even though he does not gain path and fruit.
Wise men of old, by cultivating loving compassion for seven years, have dwelt in
Brahma's world for seven aeons of involution and evolution.

In the past, in a former aeon, the Bodhisatta was born in a Brahman's family.
When he grew up, he forsook sensuality and embraced the holy life and attained to the
four divine abidings. His name was Aroka and he became a teacher and lived in the
Himālaya region with a large body of followers. Admonishing his band of sages, he said,
one who has gone forth must develop loving kindness, compassion (with others' sorrow),
gladness with others' happiness and he should develop equanimity : for this thought of
loving compassion, he repeated these verses.

The heart that boundless pity feels for all things that have birth in heaven above,
in realms below, and on this middle earth, full of pity infinite, of infinite charity. In Such
a heart nought narrow or confined can ever be.

Thus did the Bodhisatta discourse to his pupils on the practice of loving-compassion and its blessings. And without a moment's interruption to his concentration (at the death of his body) he was born into Brahma's world and for seven aeons of involution he did not return to the world.

Buddha's possession of clear knowledge shows the greatness of wisdom, and his possession of conduct the greatness of compassion. It was through wisdom that he reached the kingdom of Dhamma and he fully understood other's suffering and that he bore it. It was through compassion that he undertook to counteract it. It was through understanding that he was brought face to face with Nibbāna and through compassion he attained it. It was through wisdom that he himself crossed over and through compassion that he brought others across. It was ~~through~~ wisdom that perfected that enlightened one's task.

It was through compassion that he faced the round of rebirths as a Bodhisatta, and through wisdom that he took ~~on~~ delight in it. By means of compassion he practised non-cruelty to others and he protected others to protect himself. That he did not torment others was largely due to his compassion. So of the four types of persons beginning with the one who practices his own welfare, He perfected the fourth and best type. Likewise it was through compassion that he became the world's helper, he ~~had humanity (as a Bodhisatta);~~ helped all beings as a father. In fact Buddha's compassion was devoid of sentimental affection or sorrow. The following event may be pointed out in this connection.

A certain Bhikkhu was once sick with dysantry and he lay fouled in his own urine and excrement. As Buddha was going the round of the lodgings with his disciple Ānanda as his attendant came to that Bhikkhu's dwelling. When he saw him lying where he was, he went up to him and said : "What is your sickness, Bhikkhu?" It is dysantry, Blessed one" "But Bhikkhu, have you no attendant?" "No Blessed One", "Why other Bhikkhus do not look after you, Bhikkhu" "I am no to the Bhikkhus, Lord; that is why they do not

look after me." Ānanda brought some water. They poured out the water and washed the Bhikkhu, raised him up and put him on the bed.

With this as the occasion and this as the reason Buddha summoned the Bhikkhus and asked them : "Bhikkhus, is there a Bhikkhu sick in a certain dwelling?" "there is Blessed One". "What is that Bhikkhu's illness?" "He has dysantry, Lord" "Had he anyone to look after one who is sick. If he has a preceptor his preceptor should as long as he lives look after him until his recovery. His teacher, if he has one, should do likewise. Or his pupil or one who has the same preceptor or one who has the teacher. If he has none of these, the community should look after him. Not to do so is an offence of wrong doing, for compassion must be voluntary and eternal.

When a sick man has five qualities, he is hard to look after : he does what is unsuitable, he does not know the measure of what is suitable, he does not take medicine, he does not disclose his illness to his sickness who seeks his welfare, or tell him that it is better when it is so, or worse when it is so, he is of a type unable to endure arisen bodily feelings that are painful, harsh, racking, piercing, disagreeable, unwelcome and menacing to live. When a sick man has the five opposite qualities he is easy to look after.

The following Dhamma talk is also very important it show the importance and role of compassion in Buddhism.

A certain youth who lived at Sāvatthi heard that teacher preach the Dhamma, yielded his heart to the Sanona, went forth to homelessness, and after full admission to the Sangha became known as the Ther Tissa. As time on, an eruption broke out on his body. At first appeared postules no bigger than mustard seeds but as the disease progressed they assumed successively the size of kidney, beans, chick-peas, jujube stones, emblyio myrobalans and then beael fruit. Finally they burst open and his whole body became covered with open sores. In this way he came to be called Thera Pūtigatta (rotten-bodies) Tissa. After a time his bones began to disintegrate and no one was willing to take care of him. His under and upper robes which were stained with dried blood,

looked like fibrous pancakes. His fellow residents, unable to care for him, cast him out, and he lay down on the ground without a protector.

Now the Buddhas never fail to survey the world twice a day. At dawn they survey the world looking from the fragant cell and taking cognizance of all that is without. Now at this time the Thera Pūtigatta Tissa appeared within the net of Buddha's knowledge. Buddha took compassion on him and new that Bhikkhu Tissa was ripe for Arhantship, thought to himself "That Bhikkhu has been abandoned by his associates; at the present time He has no other refuge than me." Accordingly he went to the hall where fire was kept. He washed the boiler, placed it on the brazier, waited in the fire room for the water to boil, and when he knew it was hot, went and took hold of the end of the bed where Bhikkhu was lying. He caused a measure to be brought and sprinkled hot water, and lay it in the sunshine to dry. Then he went, and taking his stand near Tissa, moistened his body with hot water and rubbed and bathed him and thereafter changed his robes. With his heart full of compassion for he took his stand at his pillow and said to him "Bhikkhu, consciousness will depart from you, your body will become useless." At the conclusion of his teaching Thera Pūtigatta Tissa attained Arahantship and passed to final Nibbāna. Buddha himself performed the funeral rites over the body and taking the relics, caused a shrine to be erected. Thus it has been declared that the dedication of his life for the sake of mankind (and other beings) reveals the perfection of giving and loving-compassion (metaparamī). In fact the three worlds – of Brahma, the Asuras and men are consumed by the sufferings of disease and old age, they are devoured by the fire of death and deprived of all guidance. The life of a human being is like a flash of lightning in the sky. Or as a torrent rushed down a mountain so life flows on with irresistible rapidity. Beings in the abodes of man and gods are on the way to three evils (birth, old age and death) by the fact of their existence and because of craving and unknowing. Every creature, the fairest, the most beloved, disappears for ever like a leaf or fruit fallen into a stream, it is whirled away and lost for ever to our eyes. So practice of loving compassion in the heart must be developed to overcome these sufferings.

The transient pleasures, the robbers of our happiness and our wealth and which float empty like illusions through the world, infatuate men's minds even when they are only hoped for, still more when they take up their abode in the heart. The victims of pleasure do not attain to happiness even in the heaven of the gods, still less in the world of mortals; he who craves is never satisfied with pleasures. The Purāṇas also mention that when it had rained a golden shower from the heavens, and when he had conquered the continents and the four oceans and even had obtained half of Indra's throne, kind Māndhatā was still unsatisfied with objects of the world. ~~When they hear of the miseries of those who are intent on, devoted of wordly pursuits, such as agriculture and the rest and the self control of think who are careless of pleasure it well useful self-controlled to fling it away.~~ The very conditions which mark pleasure also bring in turn pain. Heavy garments and fragrant aloe-wood are pleasant in the cold but an annoyance in the heat; ~~and~~ the moon-beam and sandal woods are pleasant in the heat, a pain in the cold, since the well known pairs of opposites, such as gain and loss and the rest, are connected insperably with everything in this world; Therefore no man is invariably happy on the earth, nor invariably wretched. Buddha taking into consideration the category of men for which there are no necessarily entailed results, and being aware of those evil and false views which had arisen among the Brahmins and laymen of Magadha aware of the entreaty of Great Brahma, aware of his own vow ~~made aeons and incalculable age~~ conceived a great compassion for the people. Buddha ultimately addressed great Brahma with a verse:

> Opened wide are the doors of deathlessness
> Compassion, love and compassionate love
> Those who hear let them show forth their faith
> For Dhamma is sublime with love and compassion

Dhammas of love and compassion leads to passionlessness, not to passion; They lead to bondlessness, not to bondage; they lead to non-accumulation, not to accumulation; They lead to wanting little, not to wanting much; They lead to contentment, not to

discontentment; They lead to solitude, not to sociability; They lead to making an effort not to laziness; They lead to ease in maintenance, not to difficulty in maintenance.

Through the stories of Devadatta, the prince and Nalagiri the elephant the power and excellence of compassion and kindness have been fully exhibited. The philosophical conception of compassionate love has also been analysed. Venerable Yasoja at the beginning of the Rains addressed the Bhikkhus in the following way, "your reverences, we have been dismissed by the Lord Buddha for our own good and profit, out of compassion for us, because he felt compassion for us. Come now, your reverences, let us dwell in such a way that Lord Buddha may be well pleased with our way of dwelling. And finally it is Lord Buddha himself who thus addressed his followers, "O, Bhikkhus, the secure, safe path leading to joy has been opened by me, the treacherous path blocked off, the decay disturbed the lure let loose. Bhikkhus, whatever may be done out of compassion by a teacher seeking the welfare of his disciples, that has been done by me out of compassion for you. So be compassionate and full of love.

- Usha Satyavrat

कैकेयी : एक विश्लेषणात्मक अध्ययन

– देवेन यशवन्त*

वाल्मीकि रामायण के नारी पात्रों में सीता के चारों ओर कहानी घूमती है, बाकी पात्रों की भूमिकाओं में यदि किसी का रामायण की कथावस्तु पर प्रभाव है तो कैकेयी का। कैकेयी के पात्र को रामायण से पृथक् करने पर कथावस्तु का रूप ही बदलना पड़ेगा। अन्य नारी पात्र कौशल्या, सुमित्रा, मन्थरा, तारा, रूमा, मन्दोदरी आदि का कथावस्तु पर प्रभाव नहीं के बराबर है।

वाल्मीकि ने कैकेयी को जहाँ सुविशेषणों से विभूषित किया वहीं उसके लिए कुविशेषणों की भी झड़ी लगा रखी है। पहले मैं उसके लिये प्रयुक्त कुविशेषणों की चर्चा करना चाहूंगा। अयोध्याकाण्ड के 12वें सर्ग के 7वें श्लोक में दशरथ द्वारा कैकेयी की भर्त्सना करते हुए कई निन्दात्मक विशेषणों का प्रयोग किया गया है। अपने पुत्र के लिये राज्य तथा राम के लिये वनवास माँगने पर दशरथ ने कैकेयी को दयाहीन, दुष्टाचारिणी तथा कुल का विनाश करने वाली कहा – ''नृशंसे दुष्टचारित्रे कुलस्यास्य विनाशिनी'' ।[1]

इसी सर्ग के 9वें श्लोक में तीखे विषवाली नागिन कहा – 'अविज्ञानान्नृपसुता व्याला तीक्ष्णविषा यथा' ।[2] तथा श्लोक सं. 14–15 में पापिनी कहा गया है– 'तदलं त्यज्यतामेष निश्चयः पापनिश्चये'[3]।

इसी सर्ग के 60वें श्लोक में उसे दुराचारिणी कहा गया है –'नृशंसे पापसंकल्पे क्षुद्रे दुष्कृतकारिणी' ।[4]

पुत्र के लिये राज्य माँगने पर वैधव्य तक में जाने को प्रस्तुत कैकेयी के विषय में वाल्मीकि ने इसी सर्ग के 75वें श्लोक में दशरथ से कहलवाया – 'सा नूनं विधवा राज्यं सपुत्रा कारयिष्यसि' [5] तथा 80वें श्लोक में पापिनी तथा गलें में फाँसी वाली रस्सी कहा–

''चिरं खलु मया पापे त्वं पापेनाभिरक्षिता।
अज्ञानदुपसम्पन्ना रज्जुरूद्बन्धनी यथा।।'' [6]

इसी प्रकार 100वें श्लोक में कैकेयी को शठतापूर्ण व्यवहार करने वाली कहा–'धिगस्तु योषितो नाम शठाः स्वार्थपरायणाः' [7] तथा 105वें श्लोक में उसे विनाश चाहने वाली शत्रु कहा गया है– 'विनाशकामामहितामित्रा मावासयं मृत्युमिवात्मनस्त्वाम्' ।[8]

इसी क्रम में 18वें सर्ग के 31 वें श्लोक में वाल्मीकि ने उसे अनार्या कहा– 'तमार्जवसमायुक्तमनार्या सत्यवादिनम्' [9] तथा अयोध्याकाण्ड के ही 37वें सर्ग के 22वें श्लोक में केकयराज के कुल की जीती जागती कलंकिनी कहा– कलंकिनी

'अतिप्रवृत्ते दुर्मेधे कैकेयि कुलपांसनि'' ।[10]

कैकेयी की निन्दा करते हुये 12वें सर्ग के 109वें श्लोक में उसे केकयराज के कुल को कलंकित करने वाली कहा– 'ममाहितं केकयराज पांसने' ।[11] इसी सर्ग के 107वें श्लोक में कैकेयी को क्रूरतापूर्वक व्यवहार करने वाली कहा– ''नृशंसवृत्ते व्यसन प्रहारिणि'' ।[12]

प्रस्तुत अयोध्याकाण्ड के ही 35वें सर्ग के 23वें श्लोक में कैकेयी को ही नहीं वरन् उसकी माता को भी सुमन्त्र ने कलह करने वाली तथा पतिहन्ता तक कहा– ''माता ते पितरं देवि पुनः केकयमब्रवीत्।
शंस मे जीव वा मा वा न मां त्वं प्रहसिष्यसि।।'' [13]

विचारणीय यह है कि क्या कैकेयी इन सब कुविशेषणों की सही अधिकारिणी थी। इस प्रश्न के उत्तर के लिए कैकेयी के चरित्र पर दृष्टि डालना आवश्यक है। उसका दशरथ व अयोध्या के महलों में क्या स्थान है – जानना जरूरी है। दशरथ की पहली दो पटरानियों – कौशल्या एवं सुमित्रा का वर्णन है। कौशल्या का सम्बन्ध कौशल देश से जोड़ने के अतिरिक्त वाल्मीकि ने उसके बारे में कुछ नहीं लिखा। दूसरी पटरानी सुमित्रा है। वह किस देश की थी तथा किस राज्य से सम्बन्धित थी कुछ पता नहीं चलता। कैकेयी के अतिरिक्त अन्य रानियों का भी वर्णन है अयोधाकाण्ड के 34वें सर्ग
अयोध्याकाण्ड

के 13वें श्लोक में दशरथ की 750 स्त्रियाँ बतलाई गईं हैं – 'अर्धसप्तशतास्तत्र प्रमदास्ताम्रलोचनाः' [14] अर्थात् कुछ–कुछ लाल नेत्रों वाली साढ़े सात सौ युवती स्त्रियाँ महारानी कौशल्या को सब ओर से घेरकर धीरे–धीरे उस भवन में आईं। अयोध्याकाण्ड के ही 39वें सर्ग के 36वें श्लोक में 350 पत्नियों का वर्णन है– ''एतावदभिनीतार्थमुक्त्वा स जननीं वचः।

त्रय शतशतार्धा हि ददर्शावेक्ष्य मातरः।।'' [15]

12वें सर्ग के 27वें श्लोक में यह संख्या हजारों में है– दशरथ ने कहा कि–

''बहूनां स्त्रीसहस्त्राणां बहूनां चोपजीविनाम्'' ।[16] मेरे यहाँ सहस्र स्त्रियाँ हैं और बहुत से उपजीव भृत्यजन हैं।

अयोध्याकाण्ड के 74वें सर्ग के 8वें श्लोक में भरत कहते हैं कि – ''कौशल्या च सुमित्रा च याश्चान्या मम मातरम्'' ।[17] इससे दशरथ की तीन से अधिक रानियों का पता चलता है।

कौशल्या को वाल्मीकि ने पूजा पाठ करते हुए तथा आँसू बहाते हुए ही दर्शाया है। वह महल में तथा दशरथ के जीवन पर कोई प्रभाव नहीं छोड़ती। वह चतुर भी नहीं है – इसका प्रमाण अयोध्याकाण्ड के 21वें सर्ग के 19वें श्लोक में दिखता है जब लक्ष्मण राम के अभिषेक के रद्द होने से कुपित हो दशरथ तक की हत्या करने की घोषणा करता है उस समय वह कोई मार्ग खोजने की अपेक्षा लक्ष्मण की योजना को सहमति देती है। लक्ष्मण ने कहा –''हनिष्ये पितरं वृद्धं कैकेय्यासक्तमानसम्'' ।[18]

कौसल्या ने कहा – ''यदत्रान्तरं तत्व कुरूष्व यदि रोचते'' ।[19]

इससे कौसल्या के चरित्र का आभास होता है।

अब कैकेयी का चरित्र चित्रण है–

1. तीनों महारानियों में सबसे छोटी;
2. सुन्दर व नवयुवती, काम कला से पति को वश में करने में प्रवीण;
3. कुशल सारथी;
4. चतुर;

5. धैर्य्यवान;

6. समयानुसार नीति निर्धारित कर कार्यान्वित करने वाली;

7. दृढ़ निश्चयी, भावनाओं की धारा में न बहने वाली;

8. आलोचनाओं से विचलित न होने वाली;

9. विशेष अनुबन्ध सहित दशरथ के साथ विवाहित होने वाली।

सर्व प्रथम अन्तिम बात विशेष अनुबन्ध पर। अयोध्याकाण्ड के 107वें सर्ग के तीसरे श्लोक में राम भरत से कहते हैं कि पिताजी का जब तुम्हारी माताजी के साथ विवाह हुआ था, तभी उन्होंने तुम्हारे नानाजी से कैकेयी के पुत्र को राज्य देने की शर्त मान ली थी।

''पुरा भ्रातः पिता नः स मातरं ते समुद्वहन्।

मातामहे समाश्रौषीद् राज्यशुल्कमनुत्तमम्।।''[20]

इससे केकैयी के पुत्र का ही सिंहासन पर अधिकार स्पष्ट हो गया। केकैयी राज्यशुल्का थी यह भी स्पष्ट हो गया। दशरथ राम को भरत की अनुपस्थिति में राज्य दे रहे थे। वाल्मीकि रामायण में वर्णित इस घटना क्रम पर दृष्टि डालना अनुपयुक्त नहीं होगा। अयोध्या काण्ड के पहले सर्ग के 46 व 47वें श्लोक को देखें कि दशरथ ने राम के राज्यभिषेक की तैयारी की आज्ञा देने के उपरान्त भिन्न–भिन्न नगरों के प्रधान पुरुषों एवं जनपदों के प्रधानों को बुलावाकर, उनके ठहरने का उचित प्रबन्ध कराकर, स्वयं भी अलंकृत हो उनसे मिले। केवल कैकयराज तथा राजा जनक को नहीं बुलाया।

''नानानगरवास्तव्यान् पृथकजानपदानपि

समानिनाय मेदिन्यां प्रधानान् पृथ्वीपतिः''

''तान् वेशमनानाभरणैर्थथाहं प्रतिपूजितान्

ददर्शालंकृतो राजा प्रजा प्रतिरिच प्रजाः''

''न तु केकयराजानं जनकं वा नराधिपः''[21]

अयोध्याकाण्ड के चतुर्थ सर्ग के 25वें श्लोक में दशरथ स्वयं राम से

कहते हैं कि जब तक भरत इस नगर से बाहर अपने मामा के यहाँ निवास करते हैं तब तक ही तुम्हारा अभिषेक हो जाना मुझे उचित प्रतीत होता है।

''विप्रोषितश्च भरतो यावदेव पुरादितः।

तावदेवाभिषेकस्ते प्राप्तकालो मतो मम''।।[22]

मन्थरा से राम को युवराज पद पर अभिषित करने की तैयारी का समाचार पा एवं अपने पुत्र का सिंहासन पर अधिकार छिनते देख कैकेयी प्रयत्नशील हो जाती है और अब वह सभी आवश्यक कदम उठाती है। वह सुन्दर थी, युवती थी, सबसे छोटी सौत थी। काम कला से पति को वश में करने की उसने ठानी। पति पर उसका पूरा नियन्त्रण पहले से ही था। विवाह के समय की शर्त के साक्षी उसके पिता दूर थे। उसने सूझबूझ के साथ कार्य करना प्रारम्भ किया।

उसकी सुन्दरता का प्रमाण देखें – वाल्मीकि रामायण के अयोध्याकाण्ड के 12वें सर्ग के 20वें श्लोक में दशरथ उसे विशाल लोचने कहकर सम्बोधित करते हैं[23] – 24वें श्लोक में सुन्दर नेत्रों वाली कहते हैं।[24] 13वें सर्ग के 21वें श्लोक में उसे सुन्दर कटि प्रदेश वाली कहते हैं।[25] 23वें श्लोक में पृथुल नितम्बिनी (गुरु श्रोणि) कहते हैं।[26] राम तक ने अयोध्याकाण्ड के 16वें सर्ग के 16वें श्लोक में कैकेयी को कजरारे नेत्रों वाली कहा है।[27] तात्पर्य यह कि वह अत्यधिक सुन्दरी थी। दशरथ उस पर किस सीमा तक आसक्त थे इसका अनुमान इससे लगता है कि जहाँ कौसल्या व सुमित्रा के महलों की सजावट का वर्णन नहीं के बराबर है वहीं कैकेयी के महल में सभी प्रकार की सजावट का वर्णन है। अयोध्याकाण्ड के 10वें सर्ग के 12–15वें श्लोक में कैकेयी के महल की सुन्दरता का वर्णन है। हाथी दाँत, चाँदी और सोने की बनी हुई वेदियों से युक्त उस भवन में नित्य फलने–फूलने वाले वृक्ष और बहुत सी बावड़ियाँ थी। उसके महल में हाथी–दाँत, चाँदी एवं सोने के बने हुए सिंहासन रखे गये थे। बहुमूल्य आभूषणों से सम्पन्न कैकेयी का यह भवन स्वर्ग के समान

शोभा पा रहा था।

''दान्तराजतसौवर्णवेदिकाभिः समायुतम्।

नित्यपुष्पफलैर्वृक्षैर्वापीभिरुपशोभितम्।।''

तथा

''दान्त राजतसौवर्णैः संवृत्तं परमासनै।।[28]

इतना ही नहीं कैकेयी के लिये एक पृथक से कोप भवन भी बनवाकर रखा था। लगता है कैकेयी नखरे दिखाती हुई रूठकर कोप भवन में प्रायः जाती रहती थी। दशरथ की कितनी चहेती थी और दशरथ उस पर किस सीमा तक आसक्त थे कि राम के युवराज पद पर अभिषेक करने का समाचार देने के लिये वे कौसल्या के महल में न जाकर रात व्यतीत करने कैकेयी के महल जाते हैं। कैकेयी के रूठने पर कामासक्त दशरथ उससे कहते हैं कि तुम रोओ मत, आज तुम्हारी इच्छानुसार किस अवध का वध किया जाय अथवा किस प्राणदण्ड पाने योग्य अपराधी को मुक्त किया जाए, किस दरिद्र को धनवान तथा किस धनवान को कंगाल बना दिया जाये। प्रमाण स्वरूप अयोध्याकाण्ड के 10वें सर्ग के 31 व 32वें श्लोकों का उद्धरण है –

''अवध्यो वध्यतां को वा वध्यः को वा विमुच्यताम्।

दरिद्रः को भवेदाढ्यो द्रव्यवान् वाप्यकिंचनः।।'' [29]

कैकेयी पुरूष को किस सीमा तक अपने अधिकार में ले सकती थी इसका पता अयोध्याकाण्ड के 10वें सर्ग के 35वें श्लोक से पता चलता है। जब दशरथ कैकेयी को मनाने के लिये बिना सोचे विचारे कहते हैं –

''करिष्यामि तव प्रीतिं सुकृतेनापि ते शपे'' [30]

दशरथ से अपने वचन पर अडिग रहने की प्रतिज्ञा कराने के उपरान्त कैकेयी ने राम से भी अपना उद्देश्य बताये बिना कार्य करने की प्रतिज्ञा करा ली। अयोध्याकाण्ड के 18वें सर्ग के 30वें श्लोक में राम से कैकेयी से कहलवा लिया कि ''करिष्ये प्रतिजाने च रामो द्विर्नाभिभाषते।'' [31]

अब कैकेयी के कुशल सारथी तथा युद्ध भूमि में अविचलित रह कार्य करने की क्षमता को देखें। अयोध्याकाण्ड के 9वें सर्ग के 16वें श्लोक में मन्थरा कैकेयी को याद कराती है कि कैसे युद्ध भूमि में मूर्च्छित दशरथ को सारथी की भूमिका निभाते हुये वह सुरक्षित स्थान पर ले गयी थी।

"अपवाह्य त्वया देवि संग्रामान्नष्टचेतनः
तत्रापि विक्षतः शस्त्रैः पतिस्ते रक्षितस्त्वया।।" [32]

पउमचरिउ के रचयिता विमल सूरि ने भी सारथी की भूमिका में कैकेयी द्वारा दशरथ की रक्षा करने का वर्णन किया है।

इससे कैकेयी के चरित्र की दो बातों का पता चलता है कि वह युद्ध भूमि की विभीषिका से विचलित न हो विपरीत परिस्थितियों में भी अपना मानसिक संतुलन खोये बिना कार्य करने में सक्षम थी।

सभी जानते हैं कि युद्ध भूमि में मानसिक संतुलन को नियन्त्रण में रखना कितना कठिन होता है, अपने मानसिक संतुलन को नियन्त्रण में रखते हुए परिस्थितियों के अनुसार नीति का निर्धारण तथा कार्यान्वन भी करना पड़ता है और उसकी यह प्रतिभा इस समय निखर कर सामने आई।

सभी सुख साधनों से सम्पन्न, मामूली सौतों के कलह के अतिरिक्त कैकेयी का और कोई विशेष उल्लेख नहीं मिलता। उसके पुत्र भरत का विवाह राम के विवाह के साथ ही हुआ। विवाहोपरान्त अयोध्या लौटने पर भरत को उसके मामा के यहाँ दशरथ भेज देते हैं। कौसल्या तथा सुमित्रा की पुत्र वधुएं सीता तथा उर्मिला अपने–अपने पतियों के साथ 12 वर्ष तक वैवाहिक जीवन भोग रही हैं। वाल्मीकि रामायण के बालकाण्ड के 77वें सर्ग के 25वें श्लोक में राम ने सीता के साथ अनेक ऋतुओं तक विहार किया था।[33] वाल्मीकि रामायण के ही अरण्यकाण्ड के 47वें सर्ग के चौथे श्लोक में सीता रावण से कहती है–

"उषित्वा द्वादश समा इक्ष्वाकूणां निवेशने।
भुंजाना मानुषान् भोगान् सर्वकामसमृद्धिनी।।[34]

सीता वैवाहिक जीवन का आनन्द उठा रही है और उसकी पुत्र वधू
माण्डवी वियोगिनी का जीवन व्यतीत कर रही है। यह बात जानते हुए भी वह
मुँह नहीं खोलती। धैर्य्यपूर्वक सहन कर रही है कि राज्यसिंहासन उसके पुत्र
का है और इस नाते उसके अच्छे दिन आने वाले हैं। इससे उसकी धैर्यता का
प्रमाण मिलता है। विवाह की शर्त उसके पिता ने मनवाई थी उससे उसकी
अपनी प्रतिभा का पता नहीं चलता था – अब उसने अपनी प्रतिभा से कार्य
करना प्रारम्भ किया। वह अपनी कार्य प्रणाली का निर्धारण स्वयं कर रही है।
वह चतुर थी कामासक्त दशरथ को उसने अपने वश में किया। अयोध्याकाण्ड
के 11वें सर्ग के पहले श्लोक में वाल्मीकि ने लिखा कि कामदेव के बाणों से
पीड़ित दशरथ कैकेयी का ही अनुसरण कर रहे थे। "तं मन्मथशरैर्विद्धं
कामवेगवशानुगम्" [35] इसी सर्ग के 17वें श्लोक में लिखा है कि कैकेयी ने
दशरथ की प्रशंसा कर अपने वश में कर लिया "ततः परमुवाचेदं वरदं
काममोहितम्" [36] कामासक्त दशरथ से अपने वचन पर अडिग रहने की प्रतिज्ञा
कराने के उपरान्त कैकेयी ने अपना उद्देश्य बताये बिना राम से भी कार्य कराने
की प्रतिज्ञा करा ली। 18वें सर्ग के 30वें श्लोक में कैकेयी ने राम से कहलवाया
"करिष्ये प्रतिज्ञाने च रामो द्विर्नाभिभाषते" [37] दशरथ राम को चुपके से सिंहासन
पर बैठाने की कुमंत्रणा को खुलता देख राम से वन जाने को नहीं कह पा रहे।
उस समय वह दारूणता का भाव ला कैकेयी 18वें सर्ग के 32वें श्लोक में
कहती है–

"पुरा देवासुरे युद्धे पित्रा ते मम राघव
रक्षितेन वरौ दत्तौ सशल्येन महारणे"।[38]

अब वाल्मीकि रामायण के अयोध्याकाण्ड के 10वें सर्ग के 40वें श्लोक
पर दृष्टि डालें–

''तथोक्ता सा समाश्वस्ता वक्तु कामा तदप्रियम्

परिपीडयितुं भूयो भर्तारमुपचक्रमे'' ।[39]

अर्थात् अब उसने दशरथ को पीडा देने की तैयारी की। सबसे पहले कामासक्त दशरथ से कैकेयी अपने वचन पर अडिग रहने की प्रतिज्ञा कराती है।

अयोध्याकाण्ड के 11वें सर्ग के 10वें श्लोक में दशरथ से उसके सत्कर्मों की शपथ उठवाती है – ''करिष्यामि तव प्रीतिं सकृतेनादि ते शपे'' ।[40]

फिर इसी सर्ग के 13वें श्लोक में इन्द्र आदि तैंतीस देवताओं को साक्षी बनाती है कि आपकी इस बात को इन्द्र आदि तैंतीस देवता भी सुनलें –

''तच्छ्रटण्वँन्तु त्रयस्त्रिंशद् देवाः सेन्द्रपुरोगमाः[41]

यही नहीं फिर चन्द्र, सूर्य, आकाश, ग्रह, रात, दिन, दिशा जगत, पृथ्वी, गन्धर्व, राक्षस, रात में विचरने वाले प्राणी, घरों में रहने वाले गृह देवता तथा इनके अतिरिक्त जितने भी प्राणी हों वह सब दशरथ की बात के साक्षी बनें। फिर दुबारा सभी देवताओं को साक्षी बनाकर वह अपनी सोची समझी बात कहती है कि आपने जो मुझे दो वर दिये थे उनमें से पहले से भरत का राज्याभिषेक तथा दूसरे से राम के लिये 14 वर्षों का दण्डकारण्य वास। 11वें सर्ग का 26वां श्लोक स्पष्ट है कि –

''नव पंच च वर्षाणि दण्डाकारण्यमाश्रितः

चीराजिनधरो धीरो रामो भवतु तापसः

भरतो भजतामद्य यौवराज्यमकण्टकम्'' ।।[42]

प्रश्न स्वाभाविक रूप से उठता है कि यह राम के लिये तापस वेष में दण्डकारण्य में वास था या 14 वर्ष के लिये दशरथ की राम को गद्दी पर बैठाने की कुमंत्रणा में सम्मिलित होने का राम को निष्कासन का दण्ड। अयोध्याकाण्ड के 12वें सर्ग के 49वें श्लोक में कैकेयी कहती है कि राम को देश से निकाल देने के अतिरिक्त किसी भी बात से संतुष्ट नहीं होगी।

"भरतेनात्मना चाहं शपे ते मनुजाधिप।
यथा नान्येन तुष्येयमृते रामविवासनात्।।" [43]

ऐसा कैकेयी ने क्यों किया। कारण स्पष्ट है कि दशरथ ने भिन्न–भिन्न
नगरों में रहने वाले प्रधान पुरुषों एवं अन्य जनपद के राजाओं को अयोध्या में
बुलवाकर उनके साथ राम को सिंहासन पर बैठाने की मंत्रणा की पर कैकेयी
राज को नहीं बुलाया। कारण स्पष्ट था कि कैकयराज के साथ भरत व शत्रुघ्न
भी आ जाते।

अयोध्याकाण्ड के 12वें सर्ग के 24वें श्लोक में दशरथ कहते हैं 'तव
शुश्रूषमाणस्थ किमर्थं विप्रवासनम्' [44] अर्थात् राम को देशनिकाला दे देने की
इच्छा तुझे किसलिये हो रही है। 12वें सर्ग के ही 66वें श्लोक में दशरथ कहते
हैं कि मैं अन्य राजाओं को कैसे कहूँगा कि कैकेयी के दबाव में मैंने अपने बेटे
को घर से निकाल दिया 'कैकेय्या क्लिश्यमानेन पुत्रः प्रव्राजितो मया।' [45]
भारतीय संस्कृति में पिता का अन्तिम संस्कार सबसे बड़ा पुत्र ही करता है।
राम को अयोध्या से वन में गये हुए केवल दो ही दिन हुए थे कि सुमन्त्र को
वापस लौटा दिया जाता है। सुमन्त्र के लौटने वाले दिन की रात्रि में ही दशरथ
का स्वर्गवास हो जाता है। राम दो दिन की दूरी पर हैं पर भरत जो 8–9 दिन
की दूरी पर हैं, बुलाये जाते हैं। भरत को बुलाने गये दूत भी 8–9 दिन में पहुँचे
होंगे – अर्थात् 16–18 दिन। 14वें सर्ग के 16वें श्लोक में भरत को जलांजलि
भी न देने का निर्देश दशरथ मरने से पूर्व दे चुके थे। 'सपुत्रया त्वया नैव
कर्त्तव्या सलिलक्रिया'।[46] इसी सर्ग के 14वें श्लोक में दशरथ कैकेयी व उसके
पुत्र का भी त्याग कर चुके थे। दशरथ ने कैकेयी को 'पापिनि' कहते हुये कहा
था कि अग्नि के समीप वैदिक मन्त्र का पाठ करते हुए जो मैंने तुम्हारा हाथ
पकड़ा था उसे मैं छोड़ रहा हूँ। साथ ही तेरे और अपने द्वारा उत्पन्न हुए तेरे
पुत्र का भी त्याग करता हूँ।

''यस्ते मन्त्रकृतः पाणिरग्नौ पापे मया धृतः।

संत्यजामि स्वजं चैव तव पुत्रं सह त्वया''।।[47]

कैकेयी इतने पर भी न मान कर राम के अयोध्या से निष्कासन पर अड़ी
रही। यह सीधे–सीधे अर्थों में राम का अयोध्या से निष्कासन था।

अब कैकेयी समयानुसार नीति निर्धारण की क्षमता का प्रमाण देखें।
दशरथ राम के साथ अपनी रत्न सम्पूर्ण चतुरंगिणी सेना भेजना चाहते हैं।
अयोध्याकाण्ड के 36वें सर्ग के श्लोक 2 से 7 तक में राम के साथ ''रत्नसुसम्पूर्णा,
चतुर्विधबला चमूः।'' 48 भेजने को कहते हैं। तीसरे श्लोक में रूप से आजीविका
चलाने वाली तथा व्यापार करने वाले वैश्य राजकुमारों को भेजने की बात
दशरथ कहते हैं। ''रूपाजीवाश्च वादिन्यो वणिजश्च महाधनाः'' 49 चौथे श्लोक
में राम के पास रहकर जीवन निर्वाह करने वाले तथा मल्ल भी
धन देकर भेजे जायें –

''ये चैनमुपजीवन्ति रमते यैश्च वीर्यतः।

तेषां बहुविधं दत्वा तानप्यत्र नियोजय''।।[50]

5वें श्लोक में मुख्य मुख्य शस्त्र तथा जंगलों के भीतरी रहस्यों को जानने
वाले भेजे जायें।

''आयुधानि च मुख्यानि नागराः शकटानि च।

अनुगच्छन्तु काकुत्स्थं व्याधाश्चारण्यकोविदाः''।।[51]

फिर कहा ''धान्यकोशश्च यः कश्चिद् धनकोशश्च मामकः'' 52 एक
निष्कासित व्यक्ति के लिये यह सब सामान देना कैकेयी को सहन नहीं था।
इससे तो वह सबल हो भरत पर आक्रमण कर सकता था। अतः उसने 36वें
सर्ग के 12वें श्लोक में कहा

''राज्यं गतधनं साधो पीतमण्डां सुरामिव।

निरास्वाद्यतमं शून्यं भरतो नाभिपत्स्यते''।।[53]

यह सीधे–सीधे शब्दों में राम का अयोध्या से निष्कासन था। दूसरा प्रश्न

भी स्वाभाविक रूप से उठता है कि कैकेयी ने राम के लिये दण्डकारण्य में ही निष्कासन क्यों मांगा और वह भी तापस वेश में। वह जानती थी धन, सुविधाओं, सहयोगियों एवं योद्धाओं से युक्त होने पर राम भरत पर आक्रमण कर सकते हैं और यदि इन सब से रहित रहेंगे तो भरत का राज्य निष्कण्टक हो जायेगा। दूसरी बात दण्डकारण्य अयोध्या का राज्य न हो राक्षसों का राज्य था जिसका सम्राट् रावण था। प्रमाण स्वरूप अरण्यकाण्ड के 17वें सर्ग का 13वां श्लोक पढ़ने योग्य है जिसमें सूर्पणखा राम, लक्ष्मण से पूछती है – राक्षसों के देश में कैसे चले आये "आगतस्त्वंमिमं देशं कथं राक्षससेवितम्"[54] यह रावण का राज्य था। सूर्पणखा रावण के दो सेनापतियों खर व दूषण व 14 हजार की राक्षसों की सेना के साथ वहाँ रहती थी।

कैकेयी ने सोच विचार, राम के लिये दण्डकारण्य में 14 वर्ष का निष्कासन मांगा। उसने विचारा होगा कि राम शत्रु देश में अकेला घुट–घुट मर जायेगा अथवा राक्षसों द्वारा मारा जायेगा। भरत का राज्य निष्कण्टक हो जायेगा।

इस सबसे कैकेयी की कार्य प्रणाली को निर्धारण करने व कार्यान्वित करने की क्षमता का प्रमाण मिलता है।

कैकेयी दृढ़निश्चयी है। वह भावनाओं की आंधी में नहीं बहती। दशरथ गिड़गिड़ाते है, उसके पैरों पर पड़ते है। 12वें सर्ग के 36वें श्लोक में कहते हैं "अंजलि कुर्मि कैकेयि पादौ चापि स्पृशामि ते"[55] अपनी मृत्यु तक का भय बताते हैं भरत को अपने क्रियाकर्म तक से वंचित करते हैं। कैकेयी व उसके पुत्र का त्याग कर देते हैं। 14वें सर्ग के 16वें श्लोक में कैकेयी व उसके पुत्र का त्याग तथा मृत्यु पश्चात् जलांजलि तक से मनाही है परन्तु वह नहीं पिघलती। भावनाओं की आंधी में भी वह नहीं बहती। कुविषेषणों का प्रयोग भी उस पर कोई प्रभाव नहीं डालता। सुमन्त्र जो केवल मन्त्री है, उसे उसकी माता तक की गाली देते हैं। वयोवृद्ध मन्त्री सिद्धार्थ भी भर्त्सना करते हैं। वसिष्ठ ने

भी 37वें सर्ग के 22वें श्लोक में कैकेयराज के कुल की जीती जागती कलकिंग्री
कहा ''अतिप्रवृत्ते दुर्मेधे कैकयि कुलपांसनि'' ।[56] वह विचलित नहीं हुई। केवल
दशरथ को 12वें सर्ग के 46वें श्लोक में कहा कि धर्म हो अथवा अधर्म, झूठ हो
या सच, जिस बात के लिये प्रतिज्ञा की है उसमें परिवर्तन नहीं हो सकता –

''भवत्वधर्मो धर्मो वा सत्यं वा यदि वानृतम्।

यत्त्वया संश्रुतं मह्यं तस्य नास्ति व्यतिक्रमः।।''[57]

फिर दशरथ के पूर्वजों की स्मृति कराती है कि किस प्रकार उन्होंने भी
अपनी कही हुई बात की रक्षा के लिये अपने प्राणों तक की भी चिन्ता न की।
12वें सर्ग के 43वें श्लोक में दशरथ के पूर्वज राजा शिबि की याद कराती है
कि किस प्रकार कबूतर की जान बचाने के लिये अपनी शरीर का मांस काट
कर दिया था तथा राजा अलर्क ने एक अन्धे ब्राह्मण को अपने दोनों नेत्रों का
दान कर दिया था।

''शैब्यः श्येनकपोतीये स्वमांसं पक्षिणे ददौ।

अलर्कश्चक्षुषी दत्त्वा जगाम गतिमुत्तमाम्।।''[58]

साथ ही 12वें सर्ग के 47वे श्लोक में स्पष्ट कह दिया कि यदि राम का
राज्याभिषेक हुआ तो वह विष पीकर मर जाएगी। ''अहं हि विषमद्यैव पीत्वा बहु
तवाग्रतः'' ।[59] 49वें श्लोक में फिर कहती है कि राम के निष्कासन के अतिरिक्त
किसी भी बात से सन्तुष्ट नहीं होंगी।

''भरतेनात्मना चाहं शपे ते मनुजाधिप।

यथा नान्येन तुष्येवमृते रामविवासनात्।।''[60]

वह जानती थी कि दशरथ 60 हजार वर्ष के बूढ़े हो चुके हैं। वाल्मीकि
रामायण के बालकाण्ड के 20वें सर्ग के 10वें श्लोक में दशरथ विश्वामित्र से
कहते हैं ''षष्टिर्वर्ष सहस्राणि जातस्य मम कौशिक'' तथा अयोध्याकाण्ड के
दूसरे सर्ग के 8वें श्लोक में दशरथ राम से कहते हैं ''प्राप्य वर्ष सहस्राणि
बहून्यायूंषि जीवतः'' ।[61] अयोध्याकाण्ड के ही द्वितीय सर्ग के 21वें श्लोक में

प्रधान नागरिक दशरथ को कहते हैं ''अनेकवर्षसाहस्रों वृद्धस्त्वमसि पार्थिव'' ।[62]
राम के अयोध्या से निष्कासित होने पर वह दशरथ पर प्रभाव डाल भरत को
राजा घोषित करवा लेगी और यदि दशरथ स्वर्ग सिधार गये तो भरत स्वतः ही
राजा बन जायेगा।

समयानुसार नीति निर्धारित करने वाली कैकेयी ने जब यह पाया कि
लक्ष्मण व सीता भी साथ जा रहे हैं तो वह कुछ नहीं बोलती बल्कि स्वयं ही
वन के योग्य वस्त्र उन्हें देती है। दशरथ कहते हैं कि मेरी प्रतिज्ञा तो केवल
राम के लिये है न कि लक्ष्मण व सीता के लिये, वह कोई उत्तर नहीं देती।
खजाना, सेना, हथियार व योद्धाओं और धान्य भेजने की बात पर ही बोलती
है। वह भरत के लिये निष्कटक राज्य चाहती थी।

अब कैकेयी के कुशल शासक की योग्यता का प्रमाण भी देखें। कुशल
शासक के गुणों में उसका प्रमाद रहित होना, इन्द्रियों को वश में रखने वाला
होना, सबकी सुनने वाला होना, मन की बात हाव–भाव से भी किसी पर प्रकट
न करने वाला होना, अपनी नीति स्वयं निर्धारण करने की योग्यता वाला, विषम
परिस्थितियों में भी धैर्य्य न खोने वाला न होना आदि प्रमुख गुण होते हैं।

कैकेयी ने मन्थरा की बात सुनी और तुरन्त ही अपने मन में सोच दशरथ
से कैसे काम निकाला जाय अपनी नीति स्वयं ही निर्धारित की और कार्य
किया। वाल्मीकि ने भी 14वें सर्ग के 61वें श्लोक में उसे मन्त्रणा का ज्ञान रखने
वाली बताया। ''तदा सुमन्त्रं मन्त्रज्ञा कैकेयी प्रत्युवाच ह'' ।[63]

आगे वाल्मीकि ने लिखा है कि कैकेयी टस से मस न हुई और न
उसके चेहरे का रंग बदला ''न चास्था मुख वर्णस्य लक्ष्यते विक्रिया तदा'' ।[64]
उसने आलस्य भी नहीं किया। कामासक्त दशरथ ने प्रणय निवेदन भी किया
होगा परन्तु उसने इन्द्रियों को वश में रखा। मन्थरा से भी दोबारा परामर्श तक
नहीं किया। आलोचनाओं की भी परवाह नहीं की। वह शासक बनने योग्य थी।
प्रश्न उठता है कि क्या उस समय नारी गद्दी पर बैठ सकती थी। प्रमाण

स्वरूप अयोध्या काण्ड के 37वें सर्ग के 23वें श्लोक को देखें जहाँ वशिष्ठ राम की अनुपस्थिति में सीता को गद्दी पर बैठाने की बात करते हैं ''अनुष्ठास्यति रामस्य सीता प्रकृतमासनम्'' ।[65]

यह सही है कि किसी भी रामायण में यद्यपि कैकेयी को गद्दी पर बैठाने की बात नहीं लिखी है पर दशरथ के स्वर्ग सिधारने के पश्चात् राज्य कार्य किसने संभाला यह भी कहीं नहीं मिलता है। स्पष्ट है कि जिसमें गुण होगा वही संभालेगा।

कैकेयी सुन्दरी थी, सबसे छोटी थी, युद्धकला, रथसंचालन कला में प्रवीण थी, नीतिवान थी, धैर्यवान थी, दृढ़निश्चयी थी। अपने अधिकार को पाने में सक्षम थी। दशरथ, सुमन्त्र, वशिष्ठ, सिद्धार्थ, राम व अन्य सभासदों को राम को सिंहासन पर बैठाने के कुचक्र को उसने अकेले ही ध्वस्त कर दिया। सभी दिग्गज उसकी प्रतिभा के सामने बौने दिखते हैं।

कैकेयी ने क्या गलत किया। यदि अपने अधिकार को छिनता देख उसे पाने का प्रयत्न करना पाप है तो वह पापिनी है, अपने अधिकार के लिये लड़ना कुल को कलंकित करना है तो वास्तव में वह कुलकलंकिनी है। यही नहीं वह उन सब कुविशेषणों की भी अधिकारी होगी जो वाल्मीकि व अन्य रामायण कथाकारों ने उसे दिये हैं। वाल्मीकि व अन्य कथाकारों ने उसे इस सीमा तक कलंकित किया है कि आज तक कोई भी माता अपनी पुत्री का नाम कैकेयी नहीं रखती।

मेरे विचार में समय आ गया है कि कैकेयी सहित सभी रामायण पात्रों का सही मूल्यांकन करें।

ए–2, ग्रेटर कैलाश एन्कलेव–1, ग्रेटर कैलाश–1, नई दिल्ली–110048

सन्दर्भ

1. नृशंसे दुष्टचारित्रे कुलस्यास्य विनाशिनी।
   किं कृतं तव रामेण पापे पापं मयापि वा।।7।।
   – श्लोक 7, सर्ग 12, अयोध्याकाण्ड;

2. त्वं मयाऽऽत्मविनाशाय भवनं स्वं निवेशिता।
   अविज्ञानान्नृपसुता व्याला तीक्ष्णविषा यथा।।9।।
   –श्लोक 9, सर्ग 12, अयोध्याकाण्ड;

3. तदलं त्यज्यतामेष निश्चयः पापनिश्चये।।14।।
   अपि ते चरणौ मूर्धा स्पृशाम्येष प्रसीद मे।
   किमर्थे चिन्तितं पापे त्वया परमदारुणम्।।15।।
   –श्लोक 14–15, सर्ग 12, अ. का.;

4. यदि भर्तुः कार्यं लोकस्य भरतस्य च।
   नृशंसे पापसंकल्पे क्षुद्रे दुष्कृतकारिणी।।
   –श्लोक 60, सर्ग 12, अ. का.;

5. नहि राममहं दृष्ट्वा प्रवसन्तं महावने।।74।।
   चिरं जीवितुमाशंसे रुदन्तीं चापि मैथिलीम्।
   सा नूनं विधवा राज्यं सपुत्रा कारयिष्यसि।।75।।
   –श्लोक 74–75, सर्ग 12 , अ. का.;

6. चिरं खलु मया पापे त्वं पापेनाभिरक्षिता।
   अज्ञानदुपसम्पन्ना रज्जुरुद्बन्धनी यथा।।
   –श्लोक 80, सर्ग 12, अ. का.;

7. धिगस्तु योषितो नाम शठाः स्वार्थपरायणाः।
   न ब्रवीमि स्त्रियः सर्वा भरतस्यैव मातरम्।।100।।
   –श्लोक 100, सर्ग 12, अ. का.;

8. विनाशकामामहितामित्रा मावासयं मृत्युमिवात्मनस्त्वाम्।
   चिरं बतांकेन धृतासि सर्पी महाविषा तेन हतोऽस्मि मोहात्।।105।।
   –श्लोक 105, सर्ग 12, अ. का.;

9. तमार्जवसमायुक्तमनार्या सत्यवादिनम्।
   उवाच रामं कैकेयी वचनं भृशदारुणम्।।31।
   –श्लोक 31, सर्ग 18, अ. का.;

10. अतिप्रवृत्ते दुर्मेधे कैकेयि कुलपांसनि।
    वंचयित्वा तु राजानं न प्रमाणेऽवतिष्ठसि।।22।।
    –श्लोक 22, सर्ग 37, अ. का.;

11. ममाहितं केकयराज पांसने।
—श्लोक 109, सर्ग 12, अ. का.;

12. नृशंसवृत्ते व्यसनप्रहारिणि, प्रसह्य वाक्यं यदिहाद्य भाषसे।
न नाम ते तेन मुखात् पतन्त्यधो, विशीर्यमाणा दशनाः सहस्रधा।।107।।
—श्लोक 107, सर्ग 12, अ. का.;

13. माता ते पितरं देवि पुनः केकयमब्रवीत।
शंस मे जीव वा मा वा न मां त्वं प्रहसिष्यसि।।23।।
—श्लोक 23, सर्ग 35, अ. का.;

14. अर्धसप्तशतास्तत्र प्रमदास्ताम्रलोचनाः।
कौसल्यां परिवार्याथ शनैर्जग्मुर्धृतव्रताः।।13।।
—श्लोक 13, सर्ग 34, अ. का.;

15. एतावदभिनीतार्थमुक्त्वा सं जननीं वचः।
त्रय शतशतार्धा हि ददर्शावेक्ष्य मातरः।।36।।
—श्लोक 36, सर्ग 39, अ. का.;

16. बहूनां स्त्रीसहस्त्राणां बहूनां चोपजीविनाम्।
परिवादोऽपवादो वा राघवे नोपपद्यते।।
—श्लोक 27, सर्ग 12, अ. का.;

17. कौशल्या च सुमित्रा च याश्चान्या मम मातरः।
दुःखेन महताविष्टास्त्वां प्राप्य कुलदूषिणीम्।।8।।
—श्लोक 8, सर्ग 74, अ. का.;

18. हनिष्ये पितरं वृद्धं कैकेय्यासक्तमानसम्।
कृपणं च स्थितं बाल्ये वृद्धभावेन गर्हितम्।।19।।
—श्लोक 19, सर्ग 21, अ. का.;

19. भ्रातुस्ते वदतः पुत्र लक्ष्मणस्य श्रुतं त्वया।
यदत्रान्तरं तत्त्वं कुरूष्व यदि रोचते।।21।
—श्लोक 21, सर्ग 21, अ. का.;

20. पुरा भ्रातः पिता नः स मातरं ने समुद्वहन्।
मातामहे समाश्रौषीद् राज्यशुल्कमनुत्तमम्।।
—श्लोक 3, सर्ग 107, अ. का.;

21. नानानगरवास्तव्यान् पृथग्जानपदानपि।
समानिनाय मेदिन्यां प्रधानान् पृथ्वीपतिः।।46।।
तान वेश्मनानाभरणैर्थथार्हं प्रतिपूजितान्।
ददर्शालंकृतो राजा प्रजापतिरिव प्रजाः।।47।।

न तु केकयराजानं जनकं वा नराधिपः।
त्वरया चानयामास पश्चात्तौ श्रोष्यत प्रियम्।।48।।
—श्लोक 46—47—48, सर्ग 1, अ. का.;

22. विप्रोषितश्च भरतो यावदेव पुरादितः।
तावदेवाभिषेकस्ते प्राप्तकालो मतो मम।।25।।
—श्लोक 25, सर्ग 4, अ. का.;

23. नहि किंचिदयुक्तं वा विप्रियं वा पुरा मम।
अकरोस्त्वं विशालाक्षि तेन न श्रद्दधामि ते।।20।।
—श्लोक 20, सर्ग 12, अ. का.;

24. रोचयस्यभिरामस्य रामस्य शुभलोचने।
तव शुश्रूषमाणस्य किमर्थं विप्रवासनम्।।24।।
—श्लोक 24, सर्ग 12, अ. का.;

25. शून्ये न खलु सुश्रोणि मयेदं समुदाहृतम्।।
कुरु साधुप्रसादं मे बाले सहृदया ह्यसि।।21।।
—श्लोक 21, सर्ग 13, अ. का.;

26. मम रामस्य लोकस्य गुरूणां भरतस्य च।
प्रियमेतद् गुरुश्रोणि कुरु चारुमुखेक्षणे।।23।।
—श्लोक 23, सर्ग 13, अ. का.;

27. लक्षयित्वा ह्यभिप्रायं प्रियकामा सुदक्षिणा।
संचोदयति राजानं मदर्थमसितेक्षणा।।16।।
—श्लोक 16, सर्ग 16, अ. का.;

28. दान्तराजतसौवर्णवेदिकाभिः समायुतम्।
नित्यपुष्पफलैर्वृक्षैर्वापीभिरुपशोभितम्।।14।।
दान्त राजतसौवर्णैः संवृत्तं परमासनैः।
विविधैरन्नपानैश्च भक्ष्यैश्च विविधैरपि।।15।।
उपपन्नं महार्हैश्च भूषणैस्त्रिदिवोपमम्।
—श्लोक 14—15, सर्ग 10, अ. का.;

29. अवध्यो वध्यतां को वा वध्यः को वा विमुच्यताम्।
दरिद्रः को भवेदाढ्यो द्रव्यवान् वाप्यकिंचनः।।
—श्लोक 33, सर्ग 10, अ. का.;

30. करिष्यामि तव प्रीतिं सुकृतेनापि ते शपे।
—श्लोक 35, सर्ग 10, अ. का.;

31. तद् ब्रूहि वचनं देवि राज्ञो यदभिकांक्षितम्।
करिष्ये प्रतिजाने च रामो द्विर्नाभिभाषते।
—श्लोक 30, सर्ग 18, अ. का.;

32. अपवाह्य त्वया देवि संग्रामान्नष्टचेतनः
तत्रापि विक्षतः शस्त्रैः पतिस्ते रक्षितस्त्वया।।16।।
—श्लोक 16, सर्ग 9, अ. का.;

33. रामश्च सीतया सार्धं विजहार बहूनृतून्।
—श्लोक 25, सर्ग 77, बालकाण्ड;

34. उषित्वा द्वादश समा इक्ष्वाकुणां निवेशने।
भुंजाना मानुषान् भोगान् सर्वकामसमृद्धनी।।4।।
—श्लोक 4, सर्ग 47, अरण्यकाण्ड;

35. तं मन्मथशरैर्विद्धं कामवेगवशानुगम्।
उवाच पृथिवीपालं कैकेयी दारुणं वचः।।1।।
—श्लोक 1, सर्ग 11, अ. का.;

36. इति देवी महेष्वासं परिगृह्याभिशस्य च।
ततः परमुवाचेदं वरदं काममोहितम्।।17।।
—श्लोक 17, सर्ग 11, अ. का.;

37. तद् ब्रूहि वचनं देवि राज्ञो यदभिकांक्षितम्।
करिष्ये प्रतिज्ञाने च रामो द्विर्नाभिभाषते।।30।।
—श्लोक 30, सर्ग 18, अ. का.;

38. पुरा देवासुरे युद्धे पित्रा ते मम राघव।
रक्षितेन वरौ दत्तौ सशल्येन महारणे।।32।।
—श्लोक 32, सर्ग 18, अ. का.;

39. तथोक्ता सा समाश्वस्ता वक्तुकामा तदप्रियम्
परिपीडयितुं भूयो भर्तारमुपचक्रमे।।
—श्लोक 40, सर्ग 10, अ. का.;

40. बलमात्मनि पश्यन्ती न विशंकितुमर्हसि।
करिष्यामि तव प्रीतिं सकृतेनादि ते शपे।।10।।
—श्लोक 10, सर्ग 11, अ. का.;

41. यथा क्रमेण शपसे वरं मम ददासि च।
तच्छ्टण्वन्तु त्रयस्त्रिंशद् देवाः सेन्द्रपुरोगमा।।13।।
—श्लोक 13, सर्ग 11, अ. का.;

42. नव पंच च वर्षाणि दण्डाकारण्यमाश्रितः।।26।।
चीराजिनधरो धीरो रामो भवतु तापसः
भरतो भजतामद्य यौवराज्यमकण्टकम्।।27।।
—श्लोक 26–27, सर्ग 11, अ. का.;

43. भरतेनात्मना चाहं शपे तो मनुजाधिप।
यथा नान्येन तुष्येयमृते रामविवासनात्।।49।।
—श्लोक 49, सर्ग 12, अ. का.; — Check ...

44. रोचयस्यभिरामस्य रामस्य शुभलोचने।
तव शुश्रुषमाणस्य किमर्थं विप्रवासनम्।।24।।
—श्लोक 24, सर्ग 12, अ. का.;

45. कैकेय्या क्लिश्यमानेन पुत्रः प्रव्राजितो मया।
—श्लोक 66, सर्ग 12, अ. का.;

46. सपुत्रया त्वया नैव कर्त्तव्या सलिलक्रिया।।
—श्लोक 16, सर्ग 14, अ. का.;

47. यस्ते मन्त्रकृतः पाणिरग्नौ पापे मया धृतः।
संत्यजामि स्वजं चैव तव पुत्रं सह त्वया।।14।।
—श्लोक 14, सर्ग 14, अ. का.;

48. सूत रत्नसुसम्पूर्णा, चतुर्विधवला चमूः।
राघवस्यानुयात्रार्थं क्षिप्रं प्रतिविधीयताम्।।2।।
—श्लोक 2, सर्ग 36, अ. का.;

49. रूपाजीवाश्च वादिन्यो वणिजश्च महाधनाः।
शोभयन्तु कुमारस्य वाहिनीः सुप्रसारिता।।3।।
—श्लोक 3, सर्ग 36, अ. का.;

50. ये चैनमुपजीवन्ति रमते यैश्च वीर्यतः।
तेषां बहुविधं दत्वा तानप्यत्र नियोजय।।4।।
—श्लोक 4, सर्ग 36, अ. का.;

51. आयुधानि च मुख्यानि नागराः शकटानि च।
अनुगच्छन्तु काकुत्स्थं व्याधाश्चारण्यकोविदाः।।5।।
—श्लोक 5, सर्ग 36, अ. का.;

52. धान्यकोशश्च यः कश्चिद् धनकोशश्च मामकः।
तौ राममनुगच्छेतां वसन्तं निर्जने वने।।7।।
—श्लोक 7, सर्ग 36, अ. का.;

53. राज्यं गतधनं साधो पीतमण्डां सुरामिव।
निरास्वाद्यतमं शून्यं भरतो नाभिपत्स्यते।।
—श्लोक 12, सर्ग 36, अ. का.;

54. आगतस्त्वंमिमं देशं कथं राक्षससेवितम्।[54]

55. अंजलि कुर्मि कैकेयि पादौ चापि स्पृशामि ते।
शरणं भव रामस्य माधर्मो मामिहि स्पृशेत्।।36।।
—श्लोक 36, सर्ग 12, अ. का.;

56. अतिप्रवृत्ते दुर्मेधे कैकयि कुलपांसनि।
—श्लोक 22, सर्ग 37, अ. का.;

57. भवत्वधर्मो धर्मो वा सत्यं वा यदि वानृतम्।
यत्त्वया संश्रुतं मह्यं तस्य नास्ति व्यतिक्रमः।।46।।
—श्लोक 46, सर्ग 12, अ. का.;

58. शैब्यः श्येनकपोतीये स्वमांसं पक्षिणे ददौ।
अलर्कश्चक्षुषी दत्त्वा जगाम गतिमुत्तमाम्।।43।।
—श्लोक 43, सर्ग 12, अ. का.;

59. अहं हि विषमद्यैव पीत्वा बहु तवाग्रतः।
पश्यतस्ते मरिष्यामि रामो यद्यभिषिच्यते।।47।।
—श्लोक 47, सर्ग 12, अ. का.;

60. भरतेनात्मना चाहं शपे ते मनुजाधिप।
यथा नान्येन तुष्येवमृते रामविवासनात्।।49।।
—श्लोक 49, सर्ग 12, अ. का.;

61. प्राप्य वर्षसहस्राणि बहून्यायूंषि जीवतः।
जीर्णस्यास्य शरीरस्य विश्रान्तिमभिरोचये।।8।।
—श्लोक 8, सर्ग 2, अ. का.;

62. अनेकवर्षसाहस्रों वृद्धस्त्वमसि पार्थिव।
स रामं युवराजमभिषिंचस्व पार्थिवम्।।21।।
—श्लोक 21, सर्ग 2, अ. का.;

63. यदा वक्तुं स्वयं दैन्यान्न शशाक महीपतिः।
तदा सुमन्त्रं मन्त्रज्ञा कैकेयी प्रत्युवाच ह।।61।।
—श्लोक 61, सर्ग 14, अ. का.;

64. न चास्था मुख वर्णस्य लक्ष्यते विक्रिया तदा।

65. न गन्तव्यं वनं देव्या सीतया शीलवर्जिते।
अनुष्ठास्यति रामस्य सीता प्रकृतमासनम्।23।।
—श्लोक 23, सर्ग 37, अ. का.;

॥ शैवाणेशाय नमः ॥

docteur philippe vouin

secteur psychiatrie-adultes lozère-est

48120 saint alban sur limagnole

कार्तिकवदिदशम्याम्,
रविवासरे, वै० २०५७

प्रेष्ठ गुरुदेव !

पिप्पलपत्रोपर्यालिखितं सुरुचिरं श्रीगणेशचित्रं कार्तिकवदितृतीयायां समधिगतम्, यद्विषये - वरिष्ठ मित्र ! - हृदयस्था मे कृतज्ञता प्रकटितव्या भवति मुहुर्मुहुः । सदा पत्राणि ते क्रियावन्ति व्रणौषधानीव मनसि फलं साधयन्ति, तेषाञ्च महत्यध्यापनात्मिका शक्तिर्नानाविधेषु विषयेषु (पारिवारिकेष्वाध्यात्मिकेषु च प्राधान्यतः) सर्वदा विराजते । (अनुशोचामि केवलम्, यत्त्वया शब्दीमन्दिराऽप्यनुक्तताली तन्त्रीवाद्योपरि विशेषतः किञ्चिदाशीर्वादात्मकं नेदानीमपि लिखितमभूत् - इति सरलोक्तिरियं क्षम्यताम् (अपि भवद्भिस्तस्य मत्प्रेषितं वर्णचित्रं कदाचिन्न समधिगम्यते स्म ?) । एवंवादिनो मत्तो बालिश्यं नास्ति । विचार्यतां कृपया, वाद्यमिदमिह संवादकभूतो ममास्ति, ततस्तस्योपस्थिति-र्महत्त्वपूर्णा लक्ष्यते । अन्यतत् सरस्वतीभवनरूपेण विभासते ।

यतस्त्वन्निर्दिष्टानुसारेण फ्रांस्देशीयमध्ययनं भारतेऽङ्गीक्रियते, ततः श्रीमद्वाचस्पतेः फ्रांस्देशीयविद्यालयप्रवेशनसम्भवं प्रति प्रक्ष्यामि । अस्मिन्नेव ग्रामे विद्यालय एकस्तिष्ठति, यो ब्रह्मवादिनीभिः सेर्-मरि-लुईस्-सुहृद्भिः संचाल्यते । किन्तु, मन्ये, पूर्वं फ्रांस्भाषाज्ञानमत्यावश्यकं भवति, मा तत्रत्यमध्ययनं फलविवर्जितं परीक्षाप्रवेशश्च प्रतिषिद्धो भविष्यतः । औपम्येन, ये वैदेशिकाः छात्राः फ्रांस्देशीयविश्वविद्यालयेष्वधीविषवो भवन्ति, तेषामेव फ्रांस्भाषाविषये काचित्प्रावेशिकी पूर्वपरीक्षानिवार्या साम्प्रतं प्रचाल्यते । इयं दिष्ट्या वाचस्पत्यर्थमिदानीं नास्ति । अपि तु तेनाध्ययनप्रमाणपत्रं प्राप्तुं शक्येत, यदि स्वीयं फ्रांस्भाषाज्ञानमपर्याप्तमभिज्ञायेत ? । अन्यत्, स तदा प्रौढभूतो यवीयोभिः कुमारैः सहाऽधीत्य कदाचित् कष्टमनुभवेद् ग्लानिं विहाय । प्रमाणं त्वम् । यदीच्छसि, तर्हि फ्रांस्भाषामूलानि वाचस्पतिमध्यापयितुं पूर्व-

docteur philippe vouin
secteur psychiatrie-adultes lozère-est
48120 saint alban sur limagnole

॥ रौद्राणेशाय नमः ॥

कार्तिकवदिदशम्याम्,
रविवासरे, वै० २०५७

प्रेष्ठ गुरुदेव !

पिप्पलपत्रोपर्यालिखितं सुरुचिरं श्रीगणेशचित्रं कार्तिकवदितृतीयायां समधिगतम्, यद्विषये – वरिष्ठ मित्र ! – हृदयस्था मे कृतज्ञता प्रकटितव्या भवति मुहुर्मुहुः। सदा पत्राणि ते क्रियावन्ति बलप्रणौषधानीव मनसि फलं साधयन्ति, तेषाञ्च महत्यध्यापनात्मिका शक्तिर्नानाविधेषु विषयेषु (पारिवारिकेष्वाध्यात्मिकेषु च प्राधान्यतः) सर्वदा विराजते। (अनुशोचामि केवलम्, यत्त्वया शारदीमन्दिरान्यनूक्ततालीतन्त्रीवाद्योपरि विशेषतः किञ्चिदाशीर्वादात्मकं नेदानीमपि लिखितमभूत् – इति सरलोक्तिरियं क्षम्यताम् (अपि भवद्भिस्तस्य मत्प्रेषितं वर्णचित्रं कदाचिन्न समधिगम्यते स्म ?)। एवंवादिनो मत्तो बालिश्यं नास्ति। विचार्यतां कृपया, वाद्यमिदमिह संवादकभूतो ममास्ति, ततस्तस्योपस्थितिर्महत्त्वपूर्णा लक्ष्यते। अन्यत्तत् सरस्वतीभवनरूपेण विभासते।

यतस्त्वन्निर्दिष्टानुसारेण फ्रॉंस्देशीयमध्ययनं भारतेऽङ्गीक्रियते, ततः श्रीमद्वाचस्पतेः फ्रॉंस्देशीयविद्यालयप्रवेशनसम्भवं प्रति प्रक्ष्यामि। अस्मिन्नेव ग्रामे विद्यालय एकस्तिष्ठति, यो ब्रह्मवादिनीभिः सेर्-मरि-लूईस्-सुहृद्भिः संचाल्यते। किन्तु, मन्ये, पूर्वं फ्रॉंस्भाषाज्ञानमत्यावश्यकं भवति, मा तत्रत्यमध्ययनं फलविवर्जितं परीक्षाप्रवेशश्च प्रतिषिद्धो भविष्यतः। औपम्येन, ये वैदेशिकाः छात्राः फ्रॉंस्देशीयविश्वविद्यालयेष्वधीविषवो भवन्ति, तेषामेव फ्रॉंस्भाषाविषये काचित्प्रावेशिकी पूर्वपरीक्षानिवार्या साम्प्रतं प्रचाल्यते। इयं दिष्ट्या वाचस्पत्यर्थमिदानीं नास्ति। अपि तु तेनाध्ययनप्रमाणपत्रं प्राप्तुं शक्येत, यदि स्वीयं फ्रॉंस्भाषाज्ञानमपर्याप्तमभिज्ञायेत ?। अन्यत्, स तदा प्रौकभूतो यवीयोभिः कुमारैः सहाऽधीत्य कदाचित् कष्टमनुभवेद् ग्लानिं विहाय। प्रमाणं त्वम्। यदीच्छसि, तर्हि फ्रॉंस्भाषामूलानि वाचस्पतिमध्यापयितुं पूर्व-

सौविध्यं प्रदर्शयिष्यते,

महं प्रार्थये । यदि तेन तदध्ययनावसरे सौविध्यं प्रदर्शयिष्यते,
तदा पूर्वं कामश्रोतृरूपेण (free-learner) – पश्चाच्च सम्भवतस्तदीया-
भिरुच्यनुसारेण समग्रच्छात्ररूपेण – तस्य प्रवेशनार्थं विद्यालयसत्रा-
लिकां प्रार्थयिष्ये । विद्यालयीयसत्रारम्भः शरदृतौ (= ओक्टोबेरमासे)
सम्पद्यते । यदि स प्रियो भागिनेयः सूनुश्चाऽत्रैवाऽस्मदीयगृहेऽस्मांस्त्रा-
वरं यापयेत्, तदेदं सुष्ठु नाम भवेत् तज्ज्ञानक्रमानभिज्ञातुं तदर्थीयं
चोत्तरकालीनं निश्चयं कर्तुम्, ईश्वरसाहाय्येन सह ।

श्रीमतीरेखायै संक्रान्तधनस्याऽप्राप्तिं विदित्वा चिन्ता मत्पार्श्वे संजायते।
मय्येतत्संक्रमणार्थं नियोजिता सचिवी मे पूर्णतो विश्वासार्हा भवति,
(इदानीमेव साऽवकाशा-
मन्ये (तया प्रागेवेदं प्रमाणीक्रियते स्म) । कार्तिकशुदिपञ्चमीं यावत् ।
मुपभुञ्जानास्ते (सत्स्वपि भवति!) कार्तिकशुदिपञ्चमीं यावत् ।
तत्प्रत्यावर्तनसमनन्तरमेव, यदि त्वत्तो नवीनान्येतद्विषयकाणि
वृत्तानि नोपलप्स्यन्ते, तर्हि सा तदुपरि मया पृष्टा भविष्यति ।

अधस्तनपक्षिणो मुखद्वारात् सहस्रशो मङ्गलराशिं प्रेषयिता
भवदीयो हितैषी

[signature]

एतादृशाः पक्षिणो[**] महानस-
गवाक्षस्य शिलाफलकेऽधुना
कदा कदा दृश्यन्ते ।
तानेवाऽऽोटकैः पोषयामि ।

[**] engl. 'titmice'

भवदर्थमम्बास्मरणमपि प्रेषयामि । आम्, दशावतारपुस्तिकायाः
प्रतीक्षां सोत्कं करोमि, यद्विषयेऽपि कृतज्ञोऽस्मि, गुरुदेव ।
त्रिविष्टपदेशः कुत्रत्यो भवति ?

॥ श्रीः ॥

CENTRE HOSPITALIER SPECIALISE
48120 SAINT-ALBAN
(LOZERE)

Tél. 101
Docteur Philippe VOUIN
PSYCHIATRE
~~SECTEUR MENDE-LANGOGNE~~
Secteur : LOZÈRE EST

॥ ढुण्ढिराजाय नमः ॥

SAINT-ALBAN LE: चैत्रशुदि द्वादश्यां गुरुवासरे
सं० २०३४

' (आमृत्भाषा ... मूलभाषा '

मयातितिक्षुणा भवदुत्तरं दग्ग्रस्तम् । (अहो, भोः! आश्चर्यम्! स्तूयतां दैवम्! भवत आसन्ना ऽऽगमनमिति धिया हर्षपुलकितं मे, मत्साहायकप्रतिग्रहश्च मैत्र्या अधिकप्रमाणमिव दृश्यते । (अन्तिमभवत्संदेहनिराकरणार्थं भवता विचारणीयं तदेव, यदहमनपत्यदारस्ततो निर्भरो निवसामि, अन्यच्च भवतिफरङ्गदेशगमनं गीर्वाणिवाण्यध्यापनस्यैव सरलसम्बन्धितावद्विराजते — न हि लौकिकस्वार्थस्य। अप्यन्यच्चान्ततोऽवश्यामिज्ञातव्यं भवति, यच्छ्रीबलदेवमुपाध्यायं प्रति प्रथममत्प्रेषितपत्रद्वारकमैत्रं नौ 'उद्घाटक-घटनम्' इव (= key-event) मज्जीवनस्य लक्ष्यते ? ।

गेहे कार्यालयपट्टे सद्यो भवत्संयोजितचित्रं श्रीढुण्ढिराजप्रतिमात्राणे सन्निहितं मया । इतोऽपि स सर्वान् भवतस्त्रातञ्नास्ते, कुर्वाणश्चाहं संस्कृतसम्बन्धितार्थं भवत्कुटुम्बदर्शनेन समकाले प्रीणान् आसे। (अविलम्बेन (मद्देशे 'lambin' इत्यपभ्रांशीयविशेषणं विलम्बिन्युपमेयम्!) भवत्पञ्जीकरणमेवाकारि[❀] (शुल्कमविस्मृत्य!) । भवतेऽधुना पातालदेशीयमुद्राणां सहस्रद्वयम् ($ 2000 ≃ १५००० रू०) दातुमिच्छामि (गमनमूल्यमनुला, यथा भवानवधारयिष्यति, परिसनगरे जीवनं सुव्ययमस्ति) । (अथ कतिपयश्चिद्वारेभ्यो मरयेव धनागारीयचेटिका- (= सङ्ख्या) न्विते सत्यपि, मया भवल्लिखितमग्रिमपत्रसंलग्नं च मिथ्याऽऽवाहपत्रं (= कृत्रिमबीजकम्, fictitious invoice), मम नाम्नि संस्थापितम् (सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालयतः किंचिद्, यथा मन्निर्दिष्टनामनिबन्धमूल्यरूपेण), धनसङ्क्रमणायापेक्ष्यते । अन्यथात्र भवद्वसत्यन्तराले तद्धनं पातालदेशीयाऽऽत्मकं भवन्तं सम्पादयिष्यामि केवलम्। द्वाभ्यां प्रकारयोः श्रेयान् यथाशयं क्रियताम्, तदा भवदादेशानुसारेण वर्तयिष्यामि ।

भवदनूदितां 'मूर्खराट्' इति कथां सानुरागं पठितवान् । (अधुनोपोद्घातमेवाधीयान आसे, यत्रैतानि भवद्धस्तलिखितसुरुचिरवाक्यानि वर्तन्ते : -

✓

भौमवासर ... [illegible] ... मलेखोऽपि पृष्ठ
[❀] एव, भवत्पत्रसमादि[illegible]
आसीत् ।

'... संस्कृतानां 'मृतभाषा' इति व्याहरति लोकः। अस्यापवादस्य परिमार्जनाय प्रयासनिकुरुम्बेयं प्रयुक्तिर्मदीया। एवमेवान्ये भूयिष्ठाः प्रयासा अपेक्ष्यन्ते' - अतो मयोपरिनिर्दिष्टाऽऽदर्शवाक्यमद्य।

मयेह सलज्जं भयं प्रकाशयितव्यम्, यद्... भवत्साक्षिकं पुनस्तावन्मूको मूर्खश्च (मूर्खराडेव!) आत्मीयदेशे लक्ष्ये, यावद्धाराणस्यामेवाभूवम्! । अवरतो भवतोऽतिथिभूतस्य मदपेक्षया क्षमा पुनरपि नात्यन्तं श्रामयिष्यते, इत्याशंसमानोऽस्मि। अन्यच्च, सारतरवस्तु विराजते स एव भवताऽगच्छता संसेव्यमानस्तेज - स्व्यर्थः। उत्कृष्टानां तत्र सीदिष्यतां मनीषिणाम् (दिष्ट्या, सम्मेलनं परस्परदेशीयमस्ति!) केचिच्च भवतः पूर्वमेव ज्ञाता भविष्यन्ति, न संशयः।

अत्र कष्टं न स्थिरयन्ते भरतवर्षस्य मानसधनानि, भवदीयं च गमनमितरापेक्षयाधोगमनमिव भवतानुभवनीयमित्यत्र नाशक्यतास्ति। भवांस्तु मुदढो वीरः, यो यूरपदेशीयपिशाचेभ्यो भेतुं न शक्नोति!। वरं हि कश्चन विवादो भवता ततो निष्कर्षणीयः, सोऽयम् यो कलियुगविजयदर्शनान्निष्कृष्यते।

एवाङ्कद्वयममरकोषं चाद्यापि समुपलब्धवान्न, ततस्तद्विषये तूष्णीम्भावो मे। एतांस्तु 'दलपादेन' (यथोक्तमिह) प्रतीक्षमाणोऽस्मि, भवतो नितान्तं कृतज्ञतां निवेदयन्नेव।

अपि पुनर्भवता कतीनाञ्चिच्छब्दानामर्था निर्देशनीयाः, कृपया -

- वज्रजनायत्तम्
- सौविधयम्
- रोटिका (= अशनीयम् ??)
- एकपत्रम्
- श्रीदत्तजयन्ती

इति पृच्छयावसितमद्यतनं सुदीर्घवचनं भवदीयस्य हिताकाङ्क्षिणो मित्रस्य, वानदूकस्य शिष्यस्य च,

Philippe

अनु० १) 'मिथ्यावाहपत्रं' शौल्किकजनप्रार्थितसाधनपत्रमात्रमस्ति (प्रमाणपत्रं वा)। एतद्वस्तुतः कस्मैचित्कूटार्थाय न वर्तते (no forgery) अत्र विध्यनुसारीकारोपचारमात्रं (= 'simple formality of regularizing') विवक्षितं हि।

२) भवन्निबन्धनीयनिबन्धहेतु, उत्तरं दातुं कालन्यूनताऽतो भवान् न शक्नुयाच्चेत्, तर्हि कतरेण प्रकारेण धनं देयमिति सूच्यतामेव कृपया। अत्राऽऽवाहपत्रं प्रमाणरूपेण संलग्नम्।

... अद्य मे व्यावहारिकभाषाया अध्यायः शोभनः!

" Hyoscyamus " = Henbane इत्योषधेः किं संस्कृतेन नामास्ति ??
Bolmuayos Bilsenkraut

वाग्विलासः

२०३३ वैक्रमाब्दे, श्रीविनायकस्योत्सवे,

भगवन् सखे च,

गिरिकं ग्रामं मे परावृत्य भवदीयं श्रावणशुक्लपक्षकालिकं पत्रं मया लब्धम्[1]। भवतो बुद्धिमतः साधुभावान्वितांश्चोपदेशान् पश्चात् पठित्वा, अहो मे चेतोविकारः!। मानुशोचयदधुना मदीयस्य वाराणसेयवासस्य स्वल्पकालत्वम्। तत्स्वल्पस्थित्युपदेशात् तादृग्गमननिवारणमिति मूढस्य चरितमभविष्यदिति किन्त्वङ्गीक्रियताम्!। भवतः पत्न्यपत्यं च गृहं च कार्यालयश्चात ऊर्ध्वं मे ज्ञाताः, भूयिष्ठं च यथा भवत्सानन्दहितैषिचतुरचार्वीक्षणं सदा मामनुगमिष्यति, तथा भवतोच्चरितं प्रस्थानमङ्गलं मत्कर्णे पुनः स्वनते। कष्टं संस्कृतभाषामयसंभाषने मदासमर्थ्यैनैव भवतां सर्वेषामाशाभग्नेत्यत्र न संशयः। अनुगृहीतोऽपि सौम्येन मन्दबुद्धिरिव खलु स्माऽऽभामि युवयोश्च प्रशंसार्हक्षान्तविषयेऽपि नितान्तं कृतज्ञतां निवेदयामि। मामुद्दिश्य मया पूर्वं भवतेऽल्पं हि विज्ञापितम्। अधुना दंपत्योरावयोर्भेदमवगम्य नातिप्रचकितौ भवन्ताविति ममाऽऽशंसा (केन प्रकारेण विवाहविधिर्भारतवर्षीयानां पूजित इति विदितं मे)। आवद एतस्या ऊर्ध्वं विकृतं मे जीवितम्, यथैकवर्षस्यानन्तरं मया संस्कृतभाषाध्ययनं प्रारम्भि (पुराणज्योतिषानुरागो मे चिरादुत्पन्नो मातामयुपदेशात:)। उपदेशविषय एव यन्मे स्वल्पेन वाराणस्यां गृहीतव्यं ज्ञानम्, तस्य सिद्धिं भवांश्चितयामास। समागमो नौ (यद्यल्पकालिकः) चित्रकृतं मद्दृष्ट्यासीत्, ज्ञानप्राप्तिश्च मम दीर्घकालिक उद्योगस्तिष्ठति, कालप्रसरं त्वरयितुकामौ मा भूव। भवतोऽज्ञातम् (?- इति भवद्वैदग्ध्याद्धकुमर्थतो न शक्नोमि) बहु माध्यापयति भवान्, यद्यपि भवज्ज्ञानविस्तारापेक्षया बह्वेतत्स्वल्पतरं लक्ष्यते (यथा... विसर्गोच्चारणम्!)। आवयोः पत्रसंवादाविच्छेदमेवाधुना प्रसादवन् 'निर्बन्धेन याचे' (आत्मनेपदे!)[3]। तदपि मे विदितमद्य, यत् काशिपुरीं पुनरागमिष्यन् भवतोऽतिथिरहं भविष्यामि, प्रातिभाव्येन चैतेन मधुनेव मदीयं मनो मदितम्। यदि मे म्लेच्छस्यापि भवान् आत्मीयजन्मपत्रिकां प्रेषयेत् तर्ह्येतन्मैत्र्यविश्वासलक्ष्यं भवतश्चेतो मे प्रीणयेत्तमाम्। कर्माहं श्वः कुर्वे पुनरतोनिमित्तं प्रतीक्षितुं नेच्छामि यथाचिरं मद्वार्तां भवानधिगच्छेत्। भद्रं वाम्। भवदीयो दृढसौहृदः सादरश्च

[signature]

[1] अपि चित्रं मे त्वया समध्यगमीत्येतेन प्रश्नेन मम प्रागेव विदितम्, यद्भवताले खि। सपत्नीकस्यैव भवतश्चित्रवरं मां दृष्ट्वा प्रीणीतेतरां स्म भवान्, इत्याशंसे। यदि तथापि भवता द्वितीयस्य पुनः प्राप्तिरभीष्टा, तर्ह्येतत्सरलं ब्रवीतु भवान्।

[2] मल्लिखितप्रश्नविषये संक्षिप्तीकृत्य 'किं दृगुपलब्ध्यपेक्षयाधुनिकानि बीजानि स्फुटग्रहसाधनमध्ये स्थाप्यान्याहो स्विदागमाऽऽदरेण पूर्वाऽऽचार्यसूचितमूलाङ्केषु न किञ्चिद्धिकर्तव्यम्?' - इति यः प्रश्नो भवति, तमिममात्मनि पृच्छन्ते, मन्ये, पत्राङ्कर्तारः।

चैत्रकृष्णाष्टम्यां शनिवासरे वै० २०३४

ॐ

॥ श्रीलम्बोदराय नमः ॥

सुपेष्ठ गुरुदेव !

त्वदीयेन फाल्गुनशुक्लत्रयोदशीतिथिकपत्रेणाहमतीव चकितोऽभूवम्, किं पुनर्यतो रेखाप्रेषितेन पूर्वं ह्यस्तनदिने च समधिगतेन दूरलेखेन प्रतीयते स्म, यद्भवद्भिर्मदीयमेकोनविंशदिनाङ्कितं पत्रं (चित्रैः सह) न प्राप्यते स्म, नापि स्यात् पेरिसनगरे मात्रा सह लिखितश्चित्रलेखः ('post-card')।

इदं तु नातिचिरं भवद्भिः प्राप्स्यत इत्याशंसे। मम प्रवासाभ्यन्तरमद्यापि च पत्रवाहनं फ्रन्स्-देशे बहु संक्षिप्तमभूत्। यथा कष्टं मया वाराणसीतः प्रेषितायाः पत्न्याऽऽसन्नत्रिंशतः पत्रं केवलं (शेषां त्रीण्येव मात्रा) अत्र समधिगतानि, यथानिर्दिष्टं मे।

अन्यच्च सत्यम्, सन्तअलबाँग्राम आगमनात्पश्चात् प्रथमसप्ताहे संस्कृतमयपत्रस्य रचनातिदुष्करा भवत्, कालविरहान् मदीयतात्कालिकचित्तभावहेतोश्च। भवतां चिन्तां गृह्णामि तत्प्रति शोचिमि च खलु, भवन्तस्त्वनेके सार्कं समुद्रे तिमिरिव स्वीयस्वाभाविकतत्त्वे जीवन्तः, देवपूजां देवमन्दिरदर्शनं च कर्तुं छात्रैर्मित्रैश्च सह धर्मस्य फलितस्य चौषधिकाव्यादिविद्यानां च चर्चां[1] यथाकामं कर्तुं च शक्नुथ भोः!। अत्र प्रत्युत त्वदुपहृतग्रन्थान् विना मित्राणि, यैः सहैवैतादृशं सम्भाषणं सम्भवेत्, कुत्र भवन्ति ?।

अन्यच्च त्वया फ्रन्स्-देशे त्वदीयप्रवासे दृष्टमभूत्, ततः कार्यं मम मा गणय। त्वदुपस्थित्यवसरे ममापराह्णा मुच्यन्ते स्म। प्रायस्तु पञ्चवादने (अपराह्णे) केवलं गृहं प्रत्यागच्छामि। तदा मया रात्रिभोजनसाधनमपेक्ष्यते (दासी माध्याह्निकभोजनमेव प्रस्तौति), संस्कृतभाषासमुद्रेऽभीष्टनिमज्जनात् पूर्वमपि चान्यानि कर्तव्यानि भवन्ति बहुशोऽत्रत्यानां बाधनत्वात् तस्मिन् सौहित्यभाक्पुरुषे, यो भारतवर्षे एकमासमवकाशमुपभुङ्क्ते स्मेति। मया योक्तव्यमपि, यदेकलतानुभवो मेऽध्ययनं रचनां च मन्दीकरोति, स्खलनपरिहरणार्थं शब्दकोशेषु बहूनां शब्दानां परीक्षणमपेक्ष्यते च (इदं भारते गृहीतव्यं न वा, इति न जानामि)। पूर्वमेव वाराणस्यां त्वया वैयाकरणवरेण्येन सह सम्भाष्याहं महाक्लेशमनुभवामि स्म, यदा यदा मत्स्खलितानि प्रबुध्यामि स्म, यतो गीर्वाणवाणीव्यवहारो मन्येऽशुद्धत्वं न क्षमते - इति प्रकाशं वदामि।

रेखा भागिनेयाश्च, ये कदाचित् फ्रन्स्-देशे न गताः, भारतीयाऽऽचारेभ्योऽत्रत्यानां जीवनं मनोवृत्तिं ('mentality') चानुमितुं शक्नुवन्ति न। यथा भवद्देशे सर्वे हितैषिणोऽहिंस्राश्च सत्यवादिनश्च मदपेक्षया लक्ष्यन्ते स्म, तथात्रत्याः प्रत्यहं कलहप्रियाः (कर्कशा अपि कदाचित्) असरलाश्च प्रतीयन्ते (अन्ते, यथा मया पूर्वं लिखितम्, हिन्दुं न जानन्तीति तेषामज्ञानचिह्नं भवति!)। कृपया गुरुदेव त्वदीयभविष्यपत्रेष्वनुशोकं मे मा वर्धय, वरं क्षान्तिं शान्तिं चाध्यापय। मया सांवत्सरं (पुनर्गमनं यावदित्यर्थः) धृतिकवचमपेक्ष्यते, भवतः प्रोत्साहनशब्दाः प्रीतिचिह्नानि चापेक्ष्यन्ते खलु। परस्परस्नेहो नः, प्रेमा वा, प्रीत्युत्पादकः

[1] कदाचिद् रेखापेक्षया महात्मनस्यापि (यथा रामकृष्णेन प्रेक्षसतीर्थेन सह)

केवलं भूयात् । पूर्वं भवतां समाश्वासयानां ज्ञातव्यम् , यच्छारीरस्वास्थ्यं मे श्रेष्ठं भवति । वराकमातुलस्य मनसस्तु किं वर्तिष्यते , यद्यत्र (स) निष्क्रमाव: पूर्वमेवाऽत्यल्पविश्वासान्वितश्च शृणुते , यच्छ्रीमती रेखा भगिनी तत्र भारतेऽश्रु मुञ्चति , मधुगोलकान्यपि न भक्षते (यदा तया तद्द्विगुणं भोक्तव्यं भवेन् न्यायत: - यद्युपहासकमत्रानुज्ञातं भवति !), यद् भागिनेया विषण्णं मुखं दर्शयन्ति , यद् गुरुदेवोऽपि तन्मत्वा, यद्वयं विस्मृतवन्त: कर्तुं न पारिवन्तो वा, पीडितो भवति ? (अत्र सर्वत्र तमाखुविपणेष्वल्पमूल्येन ज्वलनयन्त्राणि लभ्यन्ते ! तावन्नानाविधग्रन्थ-द्रव्याद्युपहारान् मे दत्त्वा (बाह्वपेक्षया मे दुर्भराश्च !), कथं त्वं वक्तुमर्हसि , यद्यथा-संकल्पितमुपहारसमर्पणं मे न कृतम् (एतेषां सर्वेषां ग्रन्थानां पठनेनानेके वर्षा अपेक्षिष्यन्ते न संशय:, इत्यगणयित्वा) ?

सर्वं यदत्रालेखि , तद् भवद्दृष्ट्याद्याऽरभ्य मदीयप्रवासस्मरणात् सत्यतरं स्वीयाधुनातनत्वाद्भवेदितीच्छा मे । वाचस्पतिना द्वितीयं नीलवर्णं घटीयन्त्रं ध्रियेतेत्यपि च। सर्वं यन्मे रमणीयं मनोरञ्जकं च भवेत्तदन्वेषिणां भवतां सर्वेषां मत्कृते प्रातिक्षणकं पूर्णाधिकार्यत्वं ('disposability') मत्प्रवासस्य बलिष्ठं स्मरणमवतिष्ठते, यस्मै कृतज्ञतां मे सदापर्याप्तं भवतो निवेदयिष्यामि ।

(अद्यतनपत्रस्य समाप्ते: प्राक् कश्चिदुपदेश: श्वेतप्रदरचिकित्सायै लिखितव्य: (रेखा जानाति)

1) PULSATILLA 3° X ale
2) HYDRASTIS 3° X ale

} द्वयोरपि बिन्दुत्रयं किञ्चिज्जले गृहीतव्यं प्रत्यहमुत्थाय त्रीन्मासान्

'Homoeopathical' चिकित्सास्ति । यदि भारते दुष्प्राप्या भवेत् , तदा ब्रवीतु मे कृपया । ततोऽहमिमां प्रेषयेयम् ।

मन्ये भवन्त इदानीं प्रसन्ना: । भवतां हिताकाङ्क्षी भवदीयो मातुल:

Philippe

When Rama's wailing reached her ears Sita was filled with dire dejection.
For Sita's safety Lakshman drew a magic circle of protection.
Ravan appeared in weird disguise and stole sweet Sita from the hut:
Eagle Jattayu challenged him by whom one wing of his was cut.

जब श्री राम की सुनी दुहाई, सुन सीता माता अकुलाई।
हठ कर, जब देवर को देखा, तब लक्ष्मण ने खींची रेखा।
रावण ने छल-नीति दिखाई, पंचवटी से सिया चुराई।।
गिद्धराज ने जब ललकारा, पंख काट भागा हत्यारा।।

भाद्रवदिदशम्यां चन्द्रे, वै० २०३५

प्राणप्रिय गुरुदेव !

श्रावणीहुस्तनदिनेऽत्र रक्षासूत्रं समधिगतम्। भगिन्या मातुश्चाभावे मदीयस्य मनश्चिकित्सागारीयविभागस्य पर्यवेक्षिका (त्वया पूर्वमेवात्र दृष्टा), यतो ब्रह्मवादिनी (अत्र फ्रान्स्-देशे ब्रह्मवादिन्यो भगिनीति सम्बोधनेनैव समाहूयन्ते), तत्सूत्रं दक्षिणमणिबन्धे मे दृढं बद्धवती। इदं भाद्रशुदि-षष्ठीं यावद् धरिष्यामि, यथा वाराणस्यामेव सतीर्थ्येन रामकृष्णेन निर्दिष्ट-मभूत्। तदुपरिलिखितं त्वद्विरचितं च शोभनाऽऽशीर्वादरूपं समर्पणं बहु रोचते मे। ततस्तव भगिन्याश्च धन्यवादान् वितरामि मुहुर्मुहुः।

तत्समानकाले (= श्रावण्यामेव) परिसनगरे मातृद्वारा सेलीन्-सख्या मणि-बन्धः समानसूत्रेणालङ्क्रियते स्म ! ततः (पत्रान्तेऽपि च) सा सुप्रसन्ना त्वत्कृते चाधिकतमं कृतज्ञाभूत्, यथोत्तरपत्रे तया लिखितं नूनं भवेत्।

'कपोलकल्पितः', 'कटिबद्धं शासनं' चेति शब्दयोः कोऽर्थः ? मया गाण्डीवं नाम संस्कृतसाप्ताहिकं प्रीतिपूर्वमभ्यस्तं भवति। यदि तव निकटे तस्य जीर्णशाराः (? old copies) वर्तन्ते, तर्हि तत्प्रक्षेपात् कतिपये मदन्तिकं प्रहीयन्तां वरम्, कृपया। संस्कृताभ्यसनार्थं साप्ताहिकमेतद्धरिष्ठं दृश्यते। कष्टं मयाद्यात्र विरमणीयम्। भवतां सर्वेषां भव्यवार्ताः प्रतीक्षमाणो हिताकाङ्क्षी च भवदीयः

Philippe

मया मातुः प्रथमं चित्रमेतद्रेखाकृते प्रहीयते, यद्यपि मात्र एव न रोचत (स्वशोभाचिन्तया स्त्रियो दुष्प्रसाद्याः खलु !)। तया बृंहणार्थं द्वितीयं ग्राहयिष्यति।

॥ श्रीः ॥

सैन्त्-अल्बाँस्-ग्रामे,
श्रावणवदि द्वादश्याम्, सोमवारे,
ई० २०३५

सुप्रेष्ठ गुरुदेव !

अद्य निर्दिष्टदिवसद्वयपश्चात्क्रमेण सहातिशोभनलेखनपत्रमिदमेवावाप्तम्। भो मित्र ! तवैतावता दानशीलेन मत्कृते लज्जेतराम् नूनम्। अहो त्वियति सुचारुपत्रे त्वदर्थीयस्य देवनागर्यक्षरविन्यासस्य हृदयसंप्रीतिजननप्रभावः ! ।

गततरणिवासरे मातरि सेलीन्सख्यां चानुजे मे च साक्षिभूतेषु, मया श्रीगणेशः सरस्वती च पूज्येते स्म। पूजोत्तरं यथासमर्थितं रेखाया मम च सौभ्रात्रं मया सेलीन्सख्यै निवेद्यते स्म। अतः सावीदानीं कुलबन्धं नौ जानाति, यज्ज्ञात्वैव मनागपि विस्मापिता नाभूत्, किं पुनर्यतस्तया पुनर्जन्मसिद्धान्तोऽङ्गीक्रियते।

अद्यैव मयि त्वत्प्रेषितानां पत्राणां शुद्धोत्तरार्थीयमेकं प्रणाले प्रथमपृष्ठोपरि चतुर्थ्यो मासेभ्यः प्राक् त्वल्लिखिताः पङ्क्तयो मदीयदृष्टिपथमुपगताः। इमाः पठित्वा, अहो महाहृदयकम्पो मे ! । ततस्तन्त्रीसन्देशशब्दमप्याविष्करोमि। रेखाया व्याकुलचित्तत्वमिदानीमपहृतं भवति, स्वभ्रातुष्पत्रप्राप्त्यास्याः प्रसन्नताजनीत्याशंसे - यद्यपि तत्र (भ्रातुष्पत्रे) भवदीयगृहविरहार्तिः स्थाने स्थाने प्रकाश्यते स्म।

(श्वस्तनेऽह्नि लिखितः शेषः) कष्टम्, मातुर्बृहच्चित्रमत्र परिसनगरेऽपि न वर्तते। यच्चित्रं रेखायै भूयिष्ठेन रोचते, तस्यैव बृंहणं नैष्कर्म्यं खलु, यतस्तदुपरि सा माता संमुखं गृहीताऽतिस्थूलकपोलगल्लुवती दृश्यतेति नौ मतिः। तया तदर्थं परिसनगरे[1] पश्चाच्चित्रग्राहकालये गन्तव्यमेव।

केषाञ्चिदुच्चारणानां काठिन्यमतिक्रम्य (मन्ये, एतानि पश्चात् समग्रग्रन्थानुशीलनद्वारा स्पष्टीकर्तुं शक्यानि), त्वद्विरचितप्रास्ताविकस्यानुशीलनेन मनः सन्तोषो मे नितान्तमजनि।

बैठे तरू की डाल पर, नटखट नटवरलाल,
छलिया छैला हैं मगन, डोल रही है डाल,
राधा के मन में बसे, नटवर नन्दकिशोर,-
मन की बातें पढ रहे, नयनों से गोपाल.

Krishna is so playful, jolly and sweet,
Even the green twigs glance at him and greet.
Radha is thrilled, to see him so gay
And he watches her, not knowing what to say.

1. प्रत्यावृत्य

(अद्यतन्याः समाप्तेः प्राक्, पञ्चाङ्गीयवचनसम्बन्धिप्रश्नद्वयं ते ददामि ।

१) यायिजययोगः स्थायिजययोगश्चेति किमस्ति ? (मया ज्योतिष-ग्रन्थेषु तद्वर्णनं न लभ्यते)

२) मध्याह्नोदयव्यापिनीत्यादिषु शब्देषु व्यापिनीत्युत्तरपदस्यात्र कोऽर्थः ? ततः (समासेभ्यः) किं विवक्षितमस्ति ? अपि °व्यापिनी तिथिरिति शेषोऽस्ति ?

सेलीन् कनिष्ठभ्राता च पूर्वमेव प्रस्थाय, आवाम् (अहं माता च) भवतां सर्वेषामारोग्यं चेतःप्रसन्नतां च भृशमाकाङ्क्षावः । ऐस्रायै माताऽऽशीर्वादं ददाति । शिष्यो भक्तश्च ते मङ्गलैषी,

Philippe

CENTRE HOSPITALIER SPECIALISE
SAINT-ALBAN
(LOZERE)

Tél. 101

SAINT-ALBAN, le :

श्रेयांसो भारतीयज्योतिःशास्त्रकर्तारो दृग्गणितैक्यं प्रति निर्बन्धेन
याचन्ते । एतद्विषये पाश्चात्त्याधुनिकविज्ञानेनात्यन्तसूक्ष्मता प्राप्येति
कृत्वापि पौराणिकविधीनां त्याजनमेव भवितव्यम् ? या न्यूनाधि-
काऽऽसन्नतैतैरेव लभ्यते, सा प्रतिदिनं व्यवहाराय पर्याप्ता खलु
भवति । अथवा परमर्थमागृह्णीयुरस्पष्टं च दर्शयेयुरिति कल्पनीयम् ।
अपि ननु न्यूनविषयानुभवदृढीकरणं नेति सारम्, वरं हि सर्वाति-
शायीन्द्रियातीतसत्त्वस्य विकलमप्याग्रहणम् ।

तथा हि चन्द्रानयने सांप्रदायिको विधिरसमाप्त इव लक्ष्यते ।
मञ्जुलश्रीपतिभास्करचन्द्रशेखराचार्यनिर्दिष्टबीजसंकलनेनैवाङ्कानां
रूपान्तरं कृत्वापि[1] गर्भीयचन्द्रबिम्बस्य सत्यस्थानं निश्चीयते । अथ
चन्द्रस्थानं गगनेऽयत्नेनाऽऽलोकनीयं दृढीकर्त्तव्यं च । तेन लम्बना-
वनतिसंस्कारौ समीक्ष्य दृग्गणितलब्धतुलनं सुकरमभवत् । अपि
तस्मात् साभिप्रायं पूर्वाचार्यैर्यथोपदिष्टा (दृगपेक्षया विकला इत्यर्थः) वि-
धयोऽर्पिताः ? किंस्विदेतैरिन्द्रियप्रामाण्यं मायान्यदृश्यत[2] किंचिच्च
सत्यतरं विवक्षितमभावि (यथान्योन्यान्विततातत्त्वेनास्माकेन्द्रियन्यून-
तया च मण्डलमिहाण्डाकारमभाति ग्रहगतिरपि च चेतोनुभत्यपेक्षयैव
जायत इति श्रूयते) ? – तदर्थे भारतीयज्योतिषाऽऽसक्तभावो विप्रति-
पन्नश्च यूरपदेशीयच्छात्रः पृच्छति भवन्तम् ।

१ युक्तमविधिमनाप्त्वा प्रायेण भास्कराचार्यो मम इति महावसा-
दाऽऽस्पदं ममाभूत् । 'यद् बीजं केनचिदुक्तं तच्चेत्स्वा-
२ आत्मकीयदृक्प्रामाण्यापेक्षायाम् 'नृदृष्टचवि-
साध्यं तर्हि त्याज्यमुपेक्ष्यम्' इति मुनीश्वरोक्तं विचिन्तनीयम् । अतः किं दृग्गणितैक्याऽऽवश्यकतया ? ।
षयत्वम्' च [illegible]

॥ श्रीगणेशायनमः ॥

Vishnu was born as Dasharath's son who brought those demons to their knees.
Who, of sage Vishwamitra, were proud and notorious enemies.
Rama, whose touch was magical, a touch that was his very own,
Freed Gautam's wife, Ahilya, from long imprisonment in stone.

त्रेता में दशरथ-घर आये, कौशल्या-नन्दन कहलाये।
मुनि के सारे कष्ट मिटाये, अत्याचारी मार गिराये।।
पत्थर बनी अहिल्या तारी, मुक्त हो गई गौतम-नारी।
हरी पाप की सब अँधियारी, दमकी पुण्यों की उजियारी।।

अपि काश्यामिदानीं
क्षीरचम्पकप्रसूनानि दृश्यन्ते ?

कार्तिकवदि षष्ठ्याम् , रविवासरे
वै. २०३५

प्रेष्ठ गुरुदेव भाम च !

गतगुरुवासरे तव विजयदशमीतिथिकं पत्रं दशाहराकूर्चोण्डुकविषयकैर्व्याख्यानैः पुष्पेण च सह सम्यगवापि । अहो चेतसो मे भवतां सर्वेषामनिशं स्मरत आर्द्रीभावः ! । सेलीन्-सखीद्वारा मदीयस्य काशीगमनस्य पुनर्घटना प्रतीयत इत्यनुभवामि, तस्याश्चाऽऽश्चर्यप्राप्तिमनुमिनोमि । तया त्वदीयपत्रस्योपरि क्रोडपत्ररूपं लिखितमेव, यत् त्वं महागुरुरसि, येन सह कथङ्कारमावाभ्यां भारतवर्ष एव सेवनीय इति प्रश्नविषये तया सम्भाषितमभूत् । 'तस्य (=तव) स्पष्टीकरणानि स्फुटानि सरलानि च सदा भवन्ति, व्यवहारविषमत्वमनादृत्य' इत्यन्यलिलिखितम् । तस्या अनुलेखपठनेन दृढीक्रियतेऽपि, यच्छ्रीमत्या भगिन्या यत्किञ्चिद्वैषज्यं दुरङ्गीकृतं भवति ! । एतद्विषये प्रश्न एकोऽनुज्ञायताम् । अपि सा पुना रोगाक्रान्ताभवत् ? अपि स्वमूर्च्छणामसमग्रा हानिरभूत् ? स्वीयप्रदरस्य वा ? । कृपयाग्रिमपत्रे रेखास्वास्थ्यं विज्ञापय मां विस्तरतः । तया च किंविशिष्टं भैषज्यं संसेव्यं भवति ? ।

मया दूरभाषणयन्त्रेण माता विज्ञापिता, त्वदीया दौहित्रा त्वां प्रणमन्तीति । वचनमिदं श्रुत्वा प्रहर्षिततमा जायते स्म, यन्त्रान्तर्गता च तदीया वाक् क्षणं चकिताभवत् । तव पुनर्दर्शनं दुहितृदौहित्राणां चात्मीयानां भव्यपरिचयं च मत्वा सा प्रसादोत्फुल्लमनसा भवतीत्येतस्य भवदर्थीयवचनस्य संक्रमणे सा मां नियोजितवती ।

कष्टं संस्कृतेन लेखनं तत्प्रवृर्षित्वमनादृत्याऽऽयासकमपि भवति मे (फ्रन्स्-भाषातः), ~~[illegible]~~ तेन च कालोऽधिकमपेक्ष्यते । अद्य त्वष्टकाशादिवसेऽपि मया मदीयाऽऽरोग्यालयविभागाधिकृतानां परिचारकाणां परिचारिकाणां च वार्षिकमङ्कनं विधातव्यम् । ततो यन्मया श्लेष्माशयविषये कल्प्यते स्म, तदेव त्वत्परीक्षणं नेतव्यमित्यस्मिन् सेलीन्-सखीं नियोजयामि ।

भवत्पार्श्वे तस्या मङ्गलनिवासावसानमाशंसे । भो रेखे, तत्प्रस्थानवेलायां विमानस्थले मा रोदिषीः ! मातृपुरःसरः स भ्राताचिरमागमिष्यति ! । सर्वेषां हितैषी कृतज्ञश्च, Philippe-शं कुर्यात्पीताम्बरः !

|| श्रीगणेशाय नमः ||

प्रेमी और प्रेमिका झूलें सचमुच अनुपम सुख सरसाता ;
झूले प्रिया झुलावे प्रियतम तो आनन्द और बढ जाता ।
राधा की सुन्दरता उनके अंगों की कोमलता प्यारी ;
देख मुग्ध खोये उस छवि में लीन झुलाते हैं बनवारी ॥

SWING OF LOVE — When lovers swing together, it is delightful and romantic, but it is rather more romantic if one of them helps the other one in the game. Krishna helps Radha in swinging, her charm and tenderness are rather increased.

मङ्गले कार्त्तिकशुदि सप्तम्याम्,
वै० २०३५

प्रेष्ठ गुरुदेव !

तत्प्रत्यागमनविमाने वराकी सेलीन् अभ्यन्तरबाह्यवातावरणीयभारयोर्वैषम्योद्भवाभिघातात्कर्णशोथेनोभयत आक्रान्ताभूत् । ततः प्रभृति सा कतिपयदिवसान् ज्वरिताभूत्, अद्यापि च तया कर्णशूलमनुभूयते । किन्तु भोः, अहो प्रत्यागतायाः एव तस्या वागुत्साहो हृत्प्रीतिश्च श्रद्धोन्मादश्च ! । दूरभाषणयन्त्रेणैव सम्भाषणं नौ भवति स्म । कष्टश्वाऽऽगामिमासे केवलमत्रैव मया तद्दर्शनं लप्स्यते । तयाद्य पूर्वं तु तवाभ्यर्चनीयगुरुदेवस्य विषये, हृत्स्पृशन्त्याश्च श्रीमत्या रेखाया विषये, तत्प्रेमपात्रीभूतस्य च बालकत्रयस्य विषये भूयिष्ठं यथाशक्त्या नन्वभाणि ।

एवं पूर्वमेव जानामि, यदुपहारा मां प्रतीक्षन्तेतराम्, येष्वेव मदर्थं त्वत्क्रीतं ग्रन्थद्वयं वर्तते, चिकित्सां विशेषादेषमोऽधीयानोऽस्मीत्यवबुध्य । तद्यथैतद्विषये शार्ङ्गधर्याः पूर्वखण्डे शारीरविषयकपञ्चमाध्यायस्य पठनं प्रकाशनं नाम मेऽधुना यावद्रसधातुदोषविपाकाद्यार्थनजानानस्याभूत् । तत्त्वज्ञानैषिणः शिष्यस्य द्रव्यगुणविज्ञानेन चिकित्साभ्यासेन च ज्योतिषाध्ययनमावश्यकतया परिष्करणीयमित्यनुमिनोमि ।

सदा गाण्डीवपठनेन चेतो मे प्रीयतेतमाम् । चुटकुलाश्चापि सहासं संस्कृतभाषामध्यापयन्ति खलु (एतदपेक्षया चुटकुलाशब्दस्य व्युत्पत्तिः कास्ति ?)। त्वद्विरचितं 'जीवनाधारकवृत्तीनामेवाऽऽरक्षणं राष्ट्रहिताय' इति शीर्षकं पत्रं बहु मे रोचते स्म, यद्यपि ममापर्याप्तभाषार्थज्ञानात्तत्र किञ्चित्काठिन्यं स्थाने स्थानेऽवतिष्ठते ।

अन्यच्च किं पुनः श्रीगोपालशास्त्रिसंमतोऽनियन्त्रणमस्मि, यतश्चिरकालादयं जनो विस्मयत एव, यद् गाण्डीवे सन्धिः सर्वत्र न विधीयते । यथा, कुतः 'दास्येव स्याद्' इति स्थाने 'दासी एव स्याद्' इति वाक्याङ्गं तत्र लिख्यते ? । ये वैदेशिका अमरभाषां मद्वदधीयते, तेषां सर्वेषामेव सन्धिनियमपरिचयः सर्वप्रथमं कर्तव्यमस्ति । ननु भारतीयैरेव सन्धिविधानदृष्टान्तोऽस्मभ्यं दातव्यः ? त्वयाप्याऽऽत्मीयपत्रेषु सन्धिप्रयोगः सर्वत्र क्रियते । कैश्चिदन्यैर्विद्वद्भिः कुतो न ? ।

पश्य, इदानीमेव मया मातापुत्रयोरागमनस्य प्रस्थानस्य च सूक्ष्मास्तिथ्या-दयो विज्ञाप्यन्ते !

परिसनगरतो मङ्गलवासरे ३०.१.७९ ख्रीस्ताब्दीयदिनाङ्के
७.२० वेलायामपराह्णे (भारतीये काले)
'Air India' नामक.
समाजविमानोड्डयनम्

हस्तिनापुरप्राप्तिर्बुधवासरे ३१.१.७९ (=वसन्तपञ्चमीहस्तनदिने)
५.२० वादनवेलायां पूर्वाह्णे

हस्तिनापुरत उड्डयनम् ३१.१.७९, ९.२५ —— ——
काश्यागमनम् —— ०.५५ —— अपराह्णे

प्रस्थानदिनाङ्कः ३.३.७९, २.५–२.५० वा वादने पराह्णे
(काशीतः)

एवं सति महाशिवरात्रिरपि प्रवासाभ्यन्तरे पतिष्यति। इति गताब्दीयप्रवासाद्भेदः। यदि सा माता सरस्वतीमहोत्सवे वायुयानेन किञ्चित्क्लान्ता भवेत्, तदा स्वीय-दौहित्रकृताङ्गमर्दनेन तस्याः सुस्थितिः शीघ्रं पुनर्भवेदिति विनिश्चयो मे।

अत्राद्य समाप्तुकामः (मयैवंविधबहुव्रीहिरपि प्रयुज्यत इत्यवेक्षस्व) सेलीन्-सम्भावनायै भवदीयायै सर्वानपि कृतज्ञतां भृशं प्रकाशयामि। भवदीयो हितैषी मातुलः

Philippe

॥ श्रीमद्गणपतये नमः ॥

नभस्यबहुलपञ्चम्यां रविवासरे, वै० २०३६

docteur philippe vouin

secteur psychiatrie-adultes lozère-est

48120 saint alban sur limagnole

प्रेष्ठ गुरुदेव !

त्वदीयनभोमासशुक्लप्रतिपत्तारिकाङ्कितपत्रप्राप्त्यनन्तरमहमुपाकर्मदिवस एव पश्चत्-हायनवत् त्वद्विरचितश्लोकरक्षासूत्राभ्यामलङ्कृतं पत्रं लब्धवान् । कियानयं द्विगुणः प्रसादस्तदा मेऽभूदित्यनुमिनु भोः ! । दिष्ट्यात्रस्थयाऽम्बयैवैवमोपि परारित्-हायनवद्रक्षासूत्रं भाग्यवतः प्रियहरेर्वामेतरमणिबन्धे सम्बद्ध्यते स्म । अन्यत् षट्त्रिंशशरत एकचत्वारिंशशरं यावदभिविधौ गाण्डीवमत्र समधिगच्छति स्म, यत्र (एकोनचत्वारिंश एव) 'प्रागैतिहासिके काले संस्कृतं विश्वभाषा' इति शीर्षकं लेखप्रकाण्डं पठनीयमभवत् (तव चित्रेण भूषितं च) ।

कष्टं मयाषाढशुक्लाष्टम्यां लृट् तात्कालिकाभिप्राये प्रयुक्तमभूत् (यथा 'प्रवक्ष्यामि, द्रक्ष्यामि' इत्यादौ वचने), ततो मत्प्रेषितः प्रथमवर्णचित्रकूर्चस्त्वदीयपत्रपुटकभेद-द्वारा पतितो विनष्टश्च भवेदित्यत्र न कश्चित्संशयः (शास्त्रोत्पतिना पत्रपुटाङ्कविषये सुष्ठु विलोकितमनुमतं चाभूत्) । भवत्पार्श्वे चिरकालीनप्रतीक्षाहेतोर्विनाशमिममनु-शोचामि खलु, किन्तु मत्पार्श्वे विषादो वस्तुतो नाभूत्, यतस्तत्समाकर्ण्यैव वर्णचित्राणां द्वितीयं प्रकाशनमाज्ञापितवान्, यस्यैव फलं मयात्रत्ये स्थूलतर-दृढीकृतपुटके सन्निविष्टं भवदन्तिकं च प्रेषितं भवति ।

(अयि भो मित्र ! यथा यथा जरां यामि, तथा तथा श्रीमद्गजाननभक्तियुक्तो भवामि । सुहृद्वत्तेन सह कदाचिदपि मनसि भावनानिमग्नोऽस्मि । तस्य तत्सेव-नस्य चोपरि त्वया प्रत्येकभविष्यत्पत्रे किञ्चिदुपदिष्टं भवेदिति गुप्तमनोरथो मे । तमेवाऽऽहूय 'पण्डितानामाराम:' इत्याख्यस्य फ्रान्स्-संस्कृतकोशस्य रचनामा-रब्धवान् । तया तु ममैकाकिनो भगीरथप्रयत्ना अपेक्षिष्यन्ते बाढम् । बहुका-लोऽप्यपेक्षिष्यते नूनम् (अतिकृपालुसर्वशक्तिमद्विनायकस्य चापि साहाय्यं विघ्ननिवारणाय !), किंपुनर्यतो ज्योतिषद्रव्यगुणाद्यध्ययनस्य तदनुषङ्गि-त्यागो मत्पार्श्वे मा भविष्यति, ततः प्रतिदिनं मया कतिपयशब्दाः केवलं कोशेऽस्मिन्नुल्लेखिष्यन्ते हि ।

अम्बाप्यत्र लेखान्ते कांश्चिच्छब्दान् संयोक्तुकामास्ति । तस्यै लेखनीदानात्पूर्वं त्वां श्रीमतीं च रेखां भागिनेयात्र शुभाशीराशिभ्यो मङ्गलेभ्यश्च प्रणामेभ्यश्च

कृतज्ञतां प्रकाशयति पीताम्बरधृग्जनार्दनं च भवदर्थमभ्यर्थयते
त्वदीयो हिताकाङ्क्षी स्नेहलश्च

[illegible]

<u>क्रोडपत्रं</u>

'... इति <u>निश्चप्रचम्</u>' इति वचनस्य कोऽर्थः? (नागर्यां नामलेखनस्याभ्यासो मेऽपि नास्ति !!)

Dear Gurudeva.
I wrote you in Spain with my mother.
Now I am in Saint-Alban in Philipp's house for a fortnight.
Naturaly we talk often of you.
I also have much thanked Shri Ganesha for Dominique. Now he is again on his boat.
I hope you are all well-being, and send to you, to Rekhā and the children also my affectionate thought.

Very Yours Michette

ॐ

॥ श्रीमद्गौरीगुरवे नमः ॥

कार्तिकामावास्यां रविवासरे
वै० २०५६
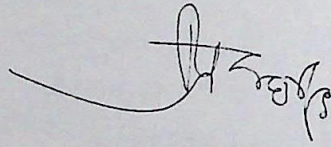
प्रेष्ठ गुरुशार्दूल !

तं पठित्वा, त्वदीयः प्रस्थितायाः वक्रायाः अनुस्मारयञ्छ्लोको
हृदयमर्म मे प्रसभमस्पर्शत्। परन्तु मया 'लीलां संवृत्ये'
ति तदन्तर्गतं वाक्यं सुष्ठु न गृहीतं धात्वर्थसंशयात्।
अपि त्वया सं√वृ उत सं√वृत् इति धातुरेवं प्रयुज्यते स्म ?
कृपया केनचिद्ध्रस्वेन व्याख्यानेन तदर्थः प्रकाशीक्रियताम्।
किं वा त्वयार्थद्वययुक्ताव्ययशब्दस्य प्रयोगो बुद्धिपूर्वकं कृतम्?
श्रीमत्याः पञ्चत्वकालादेवायं जनः प्रतिकाररूपेण वान-
स्पतिकविषयान् प्रति महोत्साहेनोत्थापितो भवति स्म।
संस्कृतस्याध्ययनक्षेत्रे मे विविधविषयसन्धारयन्त
आनुक्रमिकास्तरङ्गाः सहसैवं दर्शनीया भवन्तीति
त्वया पूर्वमेव निरूपितं भवेत्। समुद्रेऽस्मिन् किञ्चि-
ल्ललोप्तुं न शक्यते। यथा तूष्णीम्भूयानेकमासानन्तरं
ज्योतिःशास्त्राध्ययनं पुनः प्रकाशनीयं भवति, शब्दकोष-
रचना वा, वानस्पतिकनामविवरणपञ्जिकापि वा।
एवं सान्तरप्रकारेण ममैकैकविद्यागमो दृढो भविष्यति,
यदि तु तत्पाकुर्वे तत्फलदर्शनार्थं त्वरा नास्ति।
अन्यच्च, नन्वेवंप्रकारेण वाराणस्यामेव भवदालये
त्वयाऽध्यापनं क्रियते, यत्रैकस्मिन्दिवसे कदाचि-
द्व्याकरणस्योपरि संभाष्यते, कदाचिदुद्भिज्जद्रव्य-
गुणानामुपरि (भोजनार्थं च तत्साधनमविस्मृत्य !),
कदाचिदपि धर्मविषयाणामुपरीत्यादि ?।
इदानीमेव – भो मित्र ! – अपि नाम त्वयका
सह भारतीयेषु मार्गेष्वहं वानस्पतिकतरङ्गेण
चालितस्त्वां च सेवमानः, वृक्षाणां लतानां
चाभिज्ञानमभिधानं च कुर्वन्, भ्रमेयम् ?।
तत्कालमस्मिन्नसम्भाविनि सति, मत्पार्श्वे कस्यचि-
द्वानस्पतिकनामग्रन्थस्याऽऽलोचनात्मिका रचनापि
सुष्ठु प्रक्रान्ता, विविधग्रन्थानां समालोडनतः (येषा-
मेव त्वया विगतमाघमासे प्रदत्तं 'द्रव्यगुणविज्ञानम्'
अग्रेसरं नूनं वर्तते)। एतद्विषये ये मदाज्ञया कपिलवर्ण
नूतनचर्ममयचिक्कणशोभनबन्धनालङ्कृतेन श्रीमदमरकोषेण

पर्यायशब्दा निर्दिष्टा भवन्ति, ते समाधिकतममुपयोज्या अपि भवन्ति। अपि यौ ग्रन्थस्वदीयेन कुशीलकेन प्रातिवेशिकेन रात्रिमेकां समर्प्यते स्म, यस्मिन्न ग्रन्थ आवाभ्यां पठ्ते (ईसवीय) वर्षे संस्कृतविश्वविद्यालयस्याऽऽयुर्वैदिकविभागे 'श्रीरचम्पकः' इति शब्दनिर्देशः प्राप्यते स्म, तावेवेदानीमपि प्रकाशितौ भवतो न वेति न जाने। स्वीकारे सति, तयोः (अन्यस्य सदृशस्य नूतनग्रन्थस्य वा) प्राप्तिरतिमनोरोचका मे भवेत्, यतः सर्वेषां परस्परपूरकत्वं वर्तते, तद्ग्रन्थकृताञ्च कश्चिन्मतभेदो कदाचिद्विराजते, यथा ज्योतिष्मत्याः प्रियङ्गोश्च मुख्यार्थविवरणविषये।

अनुसन्धानेच्छेयं वनस्पतीन् प्रति महास्नेहादुद्भिन्ना भवति, तद्द्रव्याणां च मनोरञ्जनत्वात्। वसुधातले ते ज्योतींषीव प्रतिभान्ति। ज्योतिर्वत् तेऽपि बहुप्रभावान्विताः प्रतीयन्ते। यथा मदीयविवाहकाले फ्रान्सदेशदक्षिणभागे रथभ्रमणावसरे मया दुर्घटनाभयेऽपि रथः सहसा स्थापितोऽभूत्, मार्गप्रान्ते वनयमानीं दृष्ट्वा। पश्चादहं तस्या दुर्गन्धिलोमशपत्राणि मञ्जूषायां नौ सावधानं निक्षिप्तवान्। पत्न्यास्तदानीन्तनं विस्मयमनुमिनोषि, मन्ये!।

वक्रापक्रत्वनिवेदनेन — किन्तु मयान्यथा कथं कर्त्तव्यमभूत्? — विषण्णीकृतानां भगिन्या भागिनेयानां च सुहृदां च विनोदं कथेयं जनयिष्यतीत्याशंसे। समापनसमये च सुखानि सर्वेषामपि शुभदेवता वितरन्तु। भवत्स्नेही भ्राता - मातुलः - शिष्यः - स्यालश्च

५-११-७८ को उत्तरित

॥ श्रीगणेशाय नमः ॥

फाल्गुनशुक्लद्वादश्याम्, सोमवारे
वै० २०३७

docteur philippe vouin
secteur psychiatrie-adultes lozère-est
48120 saint alban sur limagnole
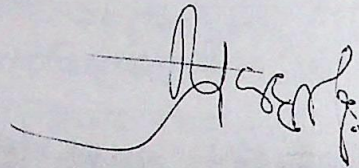
प्रेष्ठ गुरुदेव !

लिमूनगरतः (तत्र संगीतचिकित्सा [musicotherapy] - संगीतेन शब्दप्रयोगेन च मनोरोगिणां चिकित्सेति भावः - सम्भाषापरिषद् एकस्या विषयोऽभूत्, यस्मिन्नेव मयाऽन्तेवासिरूपेण भागो गृह्यते स्म) प्रत्यावृत्तेन मयेवाश्रूयते स्म, यत् तव श्रीमत्याश्च कथ्रीण्-ओब्रियोनाम्न्या वाराणस्यामेव मेलनं पुनस्तथा संवृत्तम्, यथा मत्साक्षिकं १९७६तमे ख्रीष्टाब्दे पूर्वमेवाऽभूत् (प्रथमसाक्षात्कारे नौ)। तया सह दर्शनं कतिचिदहोरात्राणि मम भविष्यति, यतः सप्ताहान्ते तदीयस्य देवरस्य गृहेऽहमागमिष्यामि, यत्रैव सा ह्रस्वं संक्रमणं करिष्यति। एवं सति कथ्रीण्मुखतो मेलनं वां मया विस्तरेणाऽऽकर्णयितुं शक्यते नूनम्, यदेव प्रमोदास्पदं मे भविष्यति।

अयं देवरः पिनाकीवादकोऽस्ति (violonist)। तद्विषये पूर्वमेव त्वदर्थं विगतभाद्रपददर्शान्ते लिखितमभूत्। द्वावुभौ नादलुब्धौ कदा कदा कक्षावादनं (chamber-music) सहैव वादयावः। कष्टं स इतो दूरवर्तिनि नगरे निवसति, ततो मेलनं नौ विरलमेव भवति। तद्गृहे सप्ताहं यावत् स्थास्यामि। मदीयप्रवासद्वयान्तराले समयो मे दीर्घलेखविरचनार्थमपर्याप्तं भवति। तत् क्षम्यतां कृपया। मत्पक्षतो विस्मरणचिह्नमौदासीन्यचिह्नं वाऽत्र मा नाम पश्य !। अन्यत्, सार्धसंवत्सरात्प्रभृति पण्डितारामकोशरचनया पुष्कलः कालोऽपेक्ष्यते मत्पार्श्वे, अन्येषाम् अवैयवसायिकानां व्यापाराणां हान्यै। रचनेयं सुखकारि कार्यं शब्दतो नास्ति, यतस्तत्साफल्यं प्रत्यक्षं न

प्रकाशते, शनैः शनैश्च केवलं निर्मीयते। किन्तु, भो मित्र! मत्पार्श्वे कश्चिदनुतापो न वर्तते, इति त्वं जानासि वै, अस्मिंश्च विषये संशयोलेशोऽपि ममाऽपराध्नुयात्। परन्तु, मया तत्समापनार्थमनेके छायना अप्यपेक्षिष्यन्ते खलु, यथा त्वं तत्स्थूललेख्यं दृष्ट्वाऽग्रिमकाशीगमनावसरे मे प्रत्यक्षीकरिष्यसि।

सर्वेषामपि हिताकाङ्क्षी त्वदीयः शिष्यः

॥ श्रीगणेशायनमः ॥
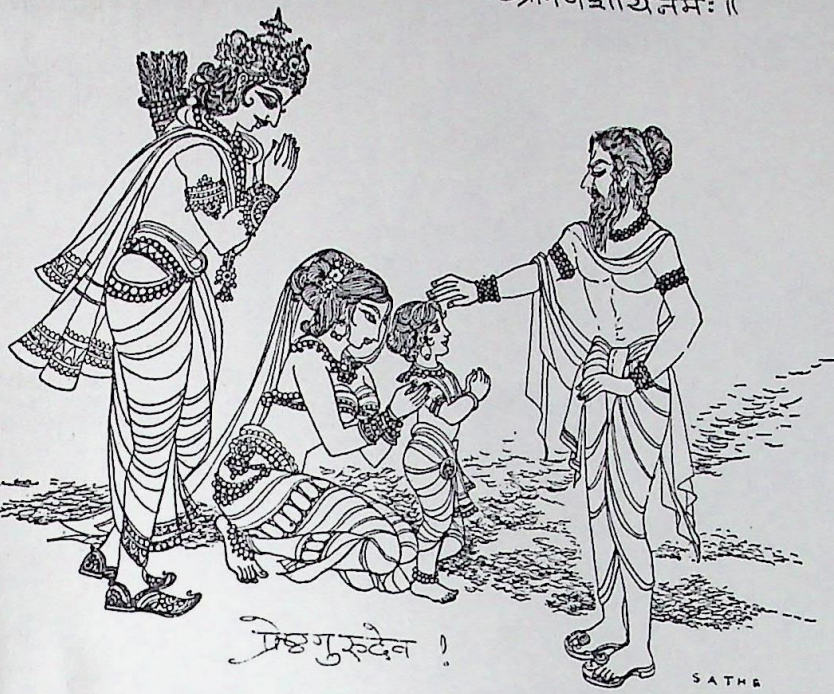
The sage Marichi blessed the two: "A heavenly future waits for you, Your life shall sail, a fairy tale, beneath a sky forever blue, Young Bhaarat's name shall bring high fame to Bhaarat, crowning her a queen". Possessing streams that bear the dreams of fruited trees and harvest green". Great Bhaarat born to Dushyant & Shakuntala.

ऋषि मरीचि दे रहे अभय, सौभाग्य, स्नेह, मंगल-आशा;
मिला दिया जिस भांति, करेंगे पूरी प्रभु हर अभिलाषा;
और भरत से यही राज्य, होगा भारत सुजला-सुफला-
नृप दुष्यन्त पिता हैं जिसके, मां है जिसकी शकुन्तला।

सैण्ट्-अल्बाँ

वर्षस्योपान्तिमदिवसे, वै० २०४५
भौमवासरे

प्रेष्ठगुरुदेव !

दिष्ट्या, तात्कालिकबौद्धिकतमोदशायां समाप्तायां मया संस्कृतमयीं रचनां कुर्वता महाप्रीतिः पुनरनुभूयते । एतदवसरे यन्मे साहाय्यकं भूयिष्ठेन विदधाति स्म, तदेवास्य संस्कृतसम्भाषणाख्यपुस्तकस्याध्ययनमभूत्, यत् प्रस्थानदिवसे श्रीवासुदेवद्विवेदगुरुवहाररूपेण दत्तवान् । तदा तदर्चनीय-हस्ताभ्यामस्य चित्रालोभिनः पुस्तककूर्चस्य ग्रहणमङ्गीकृत्य नानुमिनोमि स्म, यावत् स फ्राँस्-देशे प्रत्यावृत्य संस्कृताभ्याससमर्थतापुनर्लाभायानुकूलो मे भवेत् । इदं ज्ञात्वा श्रीवासुदेवद्विवेदी स्वशिष्याश्च प्रसीदेयुस्तमां मन्ये । तेषामत्र नूनं नितान्तं कृतज्ञतां निवेदयामि । अन्यच्चैतत्पुस्तकस्य पठने-नाहं भारतीयानामाचाराणामुपवर्णनेकनिर्देशान् सानन्दं दृढीकरोमि, यानेवान्तिमप्रवासे पूर्वमेव साक्षात्करोमि स्म (यथा पारिवारिक-मैत्र-गौरव-शैष्यादिसम्बन्धानां विषये) ।

अहं गतासुरेज्यवासरे भवदन्तिकं वर्णचित्राणामुत्तमानि द्विधाकृत्य (तद्भा-रहेतु) प्रेषितवान् । आशंसे, भवन्तस्तान्येतत्सप्ताहान्ते (अग्रिमसप्ताहाभ्य-न्तरे वा लप्स्यन्ते । अत्रैवैतानि दृष्ट्वा हृदये मे भृशाऽऽर्द्रीभावो जायते स्म । यथा भवद्भिर्द्रष्टव्यं भविष्यति, वक्रादि तत्र (चित्रसंग्रहे) मेलयते ! ।

अद्यापि मातुष्कृते शल्यकर्मदिवसो निश्चितो नास्ति ।

पत्रस्यैतस्य ह्रस्वतैव क्षमितव्या । यथाहं प्रारम्भिककष्टस्याङ्गीकरणेन मां प्रति भवतां चिन्तां ददामि स्म, तथाद्य मदीयलाभस्यांशं भवतो ग्राहयितुमिच्छामि स्म । सर्वेषामपि हितैषी भवदीयो नाक्षत्रनूतनहा-यनावसरे भवदर्थं कोटिशो मङ्गलवादी,

Philippe
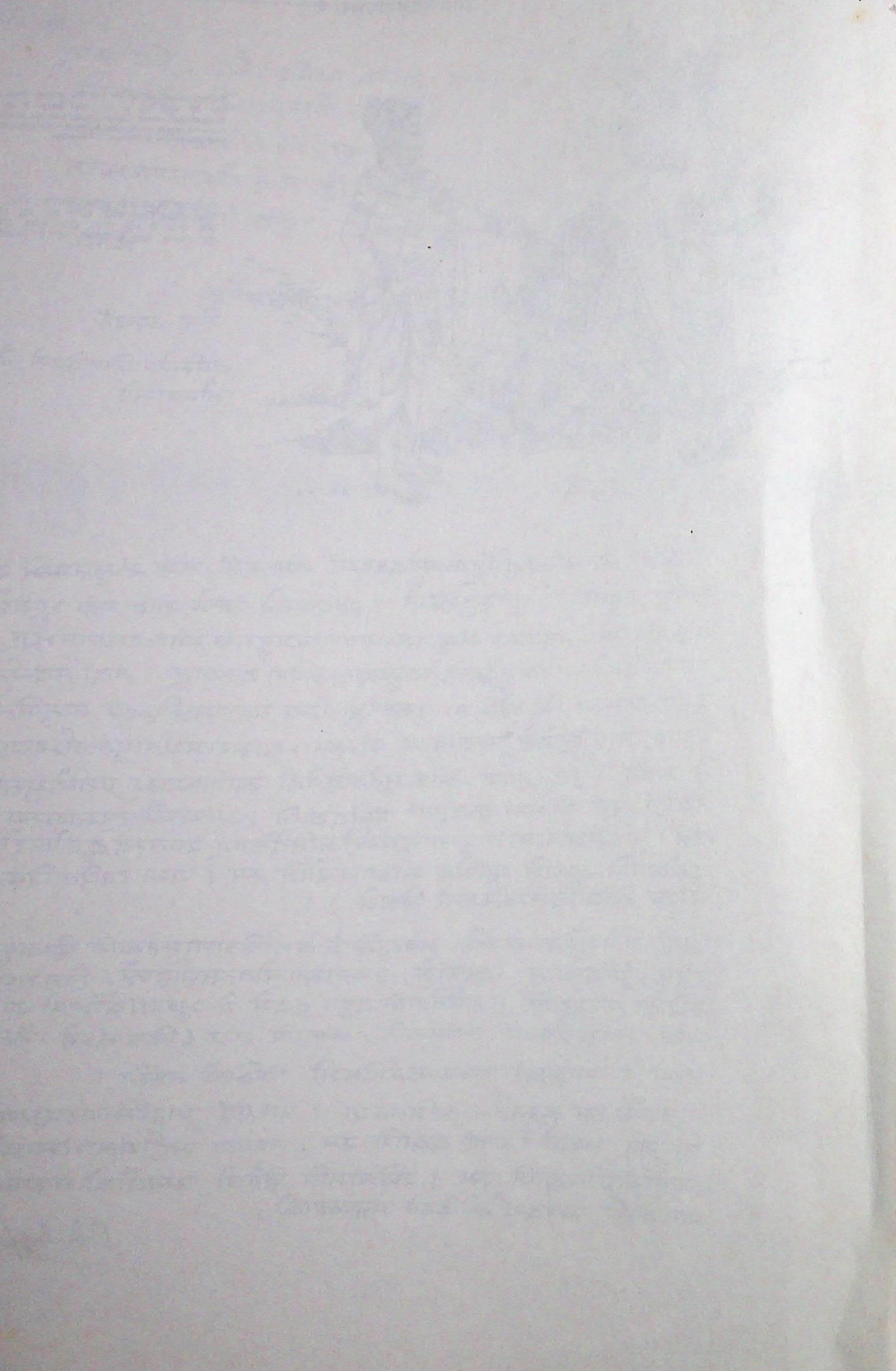
(1) पारयातील एद्य हॉन्यॉगुल उद्यैलो यक्षा - तुन्दर्त एलउज़ोत एश एद्य ऐस्तैन्दोरे एल इश इतल्त ज़ोर्द उरानॉक पॉरॉन्चा। एलमैन्त हात, हौद्य ऑ रैमते - तॉन्यान, सेप सीता सैन्त वीज़नैल लोम्बतोल हूश रायॉगिरी तैतेयन ब्युनतैतेशेत लैतलतचै।

(2) एद्य इश्तैन - ऑत्सु हैद्यैत ओरिज़ एसॉक,
हिमालॉयात, ऑ हैद्यैक ओश किरायत।
केत ओलियान कज़्त, कैलैत एश न्यूगॉत कज़्त
तोरान्यलिक एगनैक फैयैदैल्मी ओरमा।

(3) सैकफ्यु विरण लैहैलैत ज़ुहॉ तॉगॉश - अरम इल्लॉतु देलवी सेलबैन
फ्युलैमिलैसॉतु कुसॉ मैहज़ीजैगेशु तुगॉश शुर्शांगो शुरुयैबैन
हॉरी विगॉद ओ दयनअरु दॉलु किर्कलैतबैन,
शीरयन ऑज़ एलहॉद्यॉतोत, इमै तान्सोल ऑ वॉदअरअमु लाच्यकॉशैरंगबैन

Hungarian Verse Rendering of Sanskrit Poems

Satya Vrat Shastri

A beautiful country in the heart of Europe, Hungary has a long and glorious tradition of Indological studies. Quite a few of its scholars have enriched their literature with brilliant studies of old texts in Sanskrit as well as texts in other Indian languages. They also have enriched their literature with excellen t translations of some of the masterpieces of Sanskrit and other Indian Languages. Tran slations in Hungarian are now available of such works as the Vikramorvasiya, the Malavikāgnimitra, Abhijnanā-sākuntala, the Rtusamhara, the Meghaduta, the Raghuvamsa, the Kumārasambhava, the Dasakumaracarita, the Vetalapanca-vimsatika, the Pancatantra, the Hitopadesa, the Gitagondia, the selections from the Ramayana, the Mahabharata, the Kathasaritsagara an d so on. One of the peculiarities of these translations is that verse is rendered in them in verse and prose in prose. Not only that. Even in translation original Sanskrit metre is preserved. Sanskrit works have been translated in many languages of the world but, in no case along the above lines. They in translation have either free verse or some modern metres like ode, sonnet and so on. Hungary ~~here~~ with regard to this has accomplished something unique. The Mandakranta of the Meghaduta of Kalidasa continues to figure even in Hungarian. So also continues to figure in it typical Sanskrit rhythms like the Laya of the Astapadis of the Gitagovinda. It is a treat to go through Hungarian stanzas in Upajati, Vamsastha, Vasantatilaka Malini, Sardulavikridita and ~~so on.~~ other metres.

Contd...

It is not only the original metre that is preserved in Hungarian translation, the original idea too is rather faithfully carried in them. There are departures from it here and there but they are not wide enough to make the two, the original and the translation, look far apart from each other. These could well be a part of any normal translation particularly in the backdrop of the different geopolitical and social backgrounds of Hungary and India.

A word is due here in explanation for the super excellence achieved by Hungary in translation which owes itself to a lengthy procedure followed by it. The procedure is as follows: First a work is entrusted to an individual translator for translation. He prepares the draft which in the second stage is placed before a board of experts that takes it up for a minute word to word examination.

In the final stage it is looked into by a well-known authority in a particular literary form, a poet, a playwright, an essayist, a critic etc. who examines it purely from the point of the particular literary form. He may not know the language. He will ~~only~~ examine it from the point of view of the requirements of the literary form.

Enough upto now has been said about the quality of the translation. Let us not go on with this longer. The proof of the pudding lies in eating. Let us reproduce a few specimens of Hungarian translations, together with their Sanskrit originals, and let the learned friends ~~present here~~ judge for themselves as to how beautiful they have turned out to be.

It is not only the original metre that is preserved in Hungarian translation, the original idea too is rather faithfully carried in them. There are departures from it here and there but they are not wide enough to make the two, the original and the translation, look far apart from each other. These could well be a part of any normal translation particularly in the backdrop of the different geopolitical and social backgrounds of Hungary and India.

A word is due here in explanation for the super excellence achieved by Hungary in translation which owes itself to a lengthy procedure followed by it. The procedure is as follows: First a work is entrusted to an individual translator for translation. He prepares the draft which in the second stage is placed before a board of experts that takes it up for a minute word to word examination.

In the final stage it is looked into by a well-known authority in a particular literary form, a poet, a playwright, an essayist, a critic etc. who examines it purely from the point of the particular literary form. He may not know the language. He will ~~only~~ examine it from the point of view of the requirements of the literary form.

Enough upto now has been said about the quality of the translation. Let us not go on with this longer. The proof of the pudding lies in eating. Let us reproduce a few specimens of Hungarian translations, together with their Sanskrit originals, and let the learned friends ~~present here~~ judge for themselves as to how beautiful they have turned out to be.

Meghadūta (Verse 1)

kascit kāntāvirahagurunā svādhikārāt pramattah
sāpenāstangamitamahimā varsabhogyena bhartuh /
Yaksas cakre janakatanayāsnānapunyodakesu
snigdhacchāyātarusu vasatim ramagiryāsramesu //

Hungarian translation

Párjától egy hanyagul ugyelo jaksa-tundért eluzott
és egy esztendore el is itélt zord urának parancsa
Elment hát, hogy a remete-tanyán, szép Szitá szent vizénél
lombtól hus Rámagiri tetején buntetését letöltse.

English translation

A certain Yaksa having failed in his duty, and his master's curse, which was to be borne for a year and which appeared oppressive on account of the separation it entailed from his wife, having put an end to his powers, he made his home in the hermit-dwellings of Rāmagiri, where the shady trees were lovely and the water holy, because the daughter of Janaka, Sītā, had bathed there.

Kumārasambhava (Canto I, Verse 1)

asty uttarasyām diśi devatatma
Himālayo nāma nagādhirājah //
purvāparau toyanidhī vagahya
sthitah prthivyā iva mānadandah //

Hungarian translation

Egy isten-arcú hegyet oriz Észak,
Himálaját, a hegyek os királyát.
Két óceán kozt, Kelet és Nyugat kozt
toronylik égnek fejedelmi orma.

---

docteur philippe vouin

secteur psychiatrie-adultes lozère-est

48120 saint alban sur limagnole

॥ रौद्राणेशाय नमः ॥

कार्तिकवदिदशम्याम्,
रविवासरे, वै० २०३७

प्रेष्ठ गुरुदेव !

पिप्पलपत्रोपर्यालिखितं सुरुचिरं श्रीगणेशचित्रं कार्तिकवदितृतीयायां समधिगतम्, यद्विषये -वरिष्ठ मित्र ! - हृदयस्था मे कृतज्ञता प्रकटितव्या भवति मुहुर्मुहुः। सदा पत्राणि ते क्रियावन्ति बलप्रदौषधानीव मनसि फलं साधयन्ति, तेषाञ्च महत्यध्यापनात्मिका शक्तिर्नानाविधेषु विषयेषु (पारिवारिकेष्वाध्यात्मिकेषु च प्राधान्यतः) सर्वदा विराजते। (अनुशोचामि केवलम्, यत्त्वया शारदीमन्दिराङ्गनूत्नतालीतन्त्रीवाद्योपरि विशेषतः किञ्चिदाशीर्वादात्मकं नेदानीमपि लिखितमभूत् - इति सरलोक्तिरियं क्षम्यताम् (अपि भवद्भिस्तस्य मत्प्रेषितं वर्णचित्रं कदाचिन्न समधिगम्यते स्म ?)। एवंवादिनो मत्तो बालिश्यं नास्ति। विचार्यतां कृपया, वाद्यमिदमिह संवादकभूतो ममास्ति, ततस्तस्योपस्थितिर्महत्त्वपूर्णा लक्ष्यते। अन्यतत् सरस्वतीभवनरूपेण विभासते।

यतस्त्वन्निर्दिष्टानुसारेण फ्रांस्देशीयमध्ययनं भारतेऽङ्गीक्रियते, ततः श्रीमद्वाचस्पतेः फ्रांस्देशीयविद्यालयप्रवेशनसम्भवं प्रति पृच्छामि। अस्मिन्नेव ग्रामे विद्यालय एकस्तिष्ठति, यो ब्रह्मवादिनीभिः सेर्-मरि-लूईस्-सुहृद्भिः संचाल्यते। किन्तु, मन्ये, पूर्वं फ्रांस्भाषाज्ञानमत्यावश्यकं भवति, मा तत्रत्यमध्ययनं फलविवर्जितं परीक्षाप्रवेशश्च प्रतिषिद्धो भविष्यतः। औपम्येन, ये वैदेशिकाः छात्राः फ्रांस्देशीयविश्वविद्यालयेष्वधीषिषवो भवन्ति, तेषामेव फ्रांस्भाषाविषये काचित्प्रावेशिकी पूर्वपरीक्षानिवार्या साम्प्रतं प्रचाल्यते। इयं दिष्ट्या वाचस्पत्यर्थमिदानीं नास्ति। अपि तु तेनाध्ययनप्रमाणपत्रं प्राप्तुं शक्येत, यदि स्वीयं फ्रांस्भाषाज्ञानमपर्याप्तमभिज्ञायेत ? । अन्यत्, स तदा प्रौढभूतो यवीयोभिः कुमारैः सहाऽधीत्य कदाचित् कष्टमनुभवेद् ग्लानिं विहाय। प्रमाणं त्वम्। यदीच्छसि, तर्हि फ्रांस्भाषामूलानि वाचस्पतिमध्यापयितुं पूर्व-

Meghadūta (Verse 1)

kascit kāntāvirahaguruṇā svādhikārāt pramattah
sāpenāstangamitamahimā varsabhogyena bhartuh /
Yaksas cakre janakatanayāsnānapunyodakesu
snigdhacchāyātarusu vasatim ramagiryāsramesu //

Hungarian translation

Párjától egy hanyagul ugyelo jaksa-tundért eluzott
és egy esztendore el is itélt zord urának parancsa
Elment hát, hogy a remete-tanyán, szép Szitá szent vizénél
lombtól hus Rámagiri tetején buntetését letöltse.

English translation

A certain Yaksa having failed in his duty, and his master's curse, which was to be borne for a year and which appeared oppressive on account of the separation it entailed from his wife, having put an end to his powers, he made his home in the hermit-dwellings of Rāmagiri, where the shady trees were lovely and the water holy, because the daughter of Janaka, Sītā, had bathed there.

Kumārasambhava (Canto I, Verse 1)

asty uttarasyām diśi devatatma
Himālayo nāma nagādhirājah //
purvāparau toyanidhī vagahya
sthitah prthivyā iva mānadandah //

Hungarian translation

Egy isten-arcú hegyet oriz Észak,
Himálaját, a hegyek os királyát.
Két óceán kozt, Kelet és Nyugat kozt
toronylik égnek fejedelmi orma.

English translation

There is in the northern direction a divine king of mountains of the name of Himālaya which wading through the eastern and the western oceans stands like the measuring rod of the earth.

Gitagovinda

Astapadī 3 (Stanza 1)

lalitālavangalatāparisīlanakomalamalayasamīre
madhukaranikarakarambitakokilakūjitakunjakutīre /
viharati Harir iha sara sa vasante nrtyati
yuvatijanena samam sakhi virahijanasya durante //

Hungarian translation

Szekfuviráglehelet zuhatagos-oromillatu délovi szélben
fulemileszavu kusza méhzizegésu lugas susogó surujében
Hari vigad a gyonyoru dalu kikeletben
sírjon az elhagyatott, ime táncol a vadoromu lánykaseregben.

English translation

In the southern wind which has the fragrance of joy and which streams like the breath of a sweet-scented flower in the entangled thicket of a grove which is full of nightingale song and humming of bees.

Hari rejoices in the beautifully singing spring time.
The abandoned one should weep
He dances in the wildly rejoicing crowd of girls.

Astapadī 4 (Stanza 3)

pīnapayodharabhārabharena Harim parirabhaya sarāgm /
gopavadhūr anugāyati kācid udancitapancamarāgam //
Harir iha mugdhavadhūnikare vilāsini vilasati kelipare /

Hungarian translation

Ezt oleli: mint buja rengedezo teli furt borul a kebele rája,
mámorosan tovaleng vele, zengi a pancsama-utemet utána;
Hari maga vezeti a tánc-dobogást,
a lányokat, a tavaszi játszadozást.

English translation

This one embraces him, her breast drops on him
like a voluptuous trembling full grape bunch
He ecstatically glides away with him resounding
the Pancama rhythm
Hari himself leads the dance throbbing,
the girls and the spring time play.

Astapadī 11 (Stanza 3)

patati patatre vicalati patre sankitabhavadupayānam /
racayati sayanam sacakitanayanam pasyati tava panthānam //
dhīrasamīre yamunātīre vasati vane vanamāli /

Hungarian translation

Ha madár rebben, ha levél lebben: azt hiszi, kozeleg a lépted
Gyujt avar-ágyat, nézi a tájat: várhat-e végre ma téged?
Hus bereg alján, Jamuná partján, koszorúsan egyre terád vár.

English translation

When a girl suddenly flies up,
When the leaves flutter, he thinks her steps are nearing
She collects a leaf-bed, watches the countryside,
may she expect you today at least?
Under cool bushes, on the bank of the Yamunā
adorned with garland he always waits for you.

Astapadī 12 (Stanza 5)

tvaritam upaiti na katham abhisāram /
Harir iti vadati sakhīm anuvāram //
nātha Hare sīdati Rādhā vasagrhe /

Hungarian translation

A kegyesem eljon-e? Hari, Hari, hol vagy?
-kérdezi egyre s a búban elolvad.
Ó, Hari úr, Rádhá ott a lugasba simul.

English translation

Whether my beloved comes or not?
Hari, Hari, where are you?
She asks continuously and melts in sorrow
Ah Lord Hari!
Rādhā is hiding there in the garden.

Astapadi 4

pīnapayodharabhārabhareṇa Hariṁ parirabhaya sarāgam /
gopavadhūr anugāyati kācid udañcitapañcamarāgam //
Harir iha mugdhavadhūnikare vilāsini vilasati kelipare /

Hungarian translation

Ezt öleli: mint buja rengedező teli fürt borul a kebele rája,
mámorosan tovaleng vele, zengi a pancsama-ütemet utána;
Hari maga vezeti a tánc-dobogást,
a lányokat, a tavaszi játszadozást.

English translation →

Astapadī 11

patati patatre vicalati patre śaṅkitabhavadupayānam /
racayati śayanaṁ sacakitanayanaṁ paśyati tava panthānam //
dhīrasamīre yamunātīre vasati vane vanamāli /

Hungarian translation

Ha madár rebben, ha levél lebben: azt hiszi, közeleg a lépted.
Gyüjt avar-ágyat, nézi a tájat: várhat-e végre ma téged?
Hűs bereg alján, Jamuná partján, koszorúsan egyre terád vár

English translation →

Astapadī 12

tvaritam upaiti na katham abhisāram //
Harir iti vadati sakhīm anuvāram //
nātha Hare sīdati Rādhā vāsagṛhe /

Hungarian translation

A kegyesem eljön-e? Hari, Hari, hol vagy?
-kérdezi egyre s a búban elolvad.
Ó, Hari úr, Rádhá ott a lugasba simul.

English translation

Astapadi 4

pīnapayodharabhārabhareṇa Hariṃ parirabhya sarāgam /
gopavadhūr anugāyati kācid udañcitapañcamarāgam //
Harir iha mugdhavadhūnikare vilāsini vilasati kelipare /

Hungarian translation

Ezt öleli: mint buja rengedező teli fürt borul a kebele rája,
mámorosan tovaleng vele, zengi a pancsama-ütemet utána;
Hari maga vezeti a tánc-dobogást,
a lányokat, a tavaszi játszadozást.

English translation →

Astapadī 11

patati patatre vicalati patre śaṅkitabhavadupayānam /
racayati śayanaṃ sacakitanayanaṃ paśyati tava panthānam //
dhīrasamīre yamunātīre vasati vane vanamālī /

Hungarian translation

Ha madár rebben, ha levél lebben: azt hiszi, közeleg a lépted.
Gyüjt avar-ágyat, nézi a tájat: várhat-e végre ma téged?
Hűs bereg alján, Jamuná partján, koszorúsan egyre terád vár.

English translation →

Astapadī 12

tvaritam upaiti na katham abhisāram //
Harir iti vadati sakhīm anuvāram //
nātha Hare sīdati Rādhā vāsagṛhe /

Hungarian translation

A kegyesem eljön-e? Hari, Hari, hol vagy?
-kérdezi egyre s a búban elolvad.
Ó, Hari úr, Rádhá ott a lugasba simul.

English translation

Meghadūta

Kascit kāntāvirahagurunā svādhikārāt pramattaḥ
Śāpenāstaṅgamitamahimā varṣabhogyeṇa bhartuḥ /
Yakṣaś cakre janakatanayāsnānapuṇyodakeṣu
Snigdhacchāyātaruṣu vasatiṁ rāmagiryāśrameṣu //

Hungarian translation

Párjától egy hanyagul ügyelő jaksa-tündért elűzött
és egy esztendőre el is itélt zord urának parancsa.
Elment hát, hogy a remete-tanyán, szép Szítá szent vizénél
lombtól hűs Rámagiri tetején büntetését letöltse.

English translation

Kumārasambhava

asty uttarasyāṁ diśi devatātmā
Himālayo nāma nagādhirājaḥ /
pūrvāparau toyanidhī vagāhya
sthitaḥ pṛthivyā iva mānadaṇḍaḥ //

Hungarian translation

Egy isten-arcú hegyet őriz Észak,
Himálaját, a hegyek ős királyát.
Két óceán közt, Kelet és Nyugat közt / toronylik égnek fejedelmi
orma.

English translation

There is in the northern direction a divine king of mountains of the name of Himālaya which wading through the eastern and the western oceans stands like the measuring rod of the earth.

Astapadī3

lalitālavaṅgalatāparisīlanakomalamalayasamīre
madhukaranikarakarambitakokilakūjitakuñjakuṭīre /
viharati Harir iha sara sa vasante nṛtyati
yuvatijanena samaṁ sakhi virahijanasya durante //

Hungarian translation

Szekfűvirágleheletzuhatagos-örömillatu délövi szélben
fülemileszavu kusza méhzizegésü lugas susogó sürüjében
Hari vigad a gyönyörü dalu kikeletben,
sírjon az elhagyatott, ime táncol a vadörömü lánykaseregb

English translation

Meghadūta

Kascit kāntāvirahagurunā svādhikārāt pramattah
Śāpenāstangamitamahimā varsabhogyena bhartuh /
Yaksaś cakre janakatanayāsnānapunyodakesu
Snigdhacchāyātarusu vasatiṁ rāmagiryā śramesu //

Hungarian translation

Párjától egy hanyagul ügyelő jaksa-tündért elűzött
és egy esztendőre el is itélt zord urának parancsa.
Elment hát, hogy a remete-tanyán, szép Szítá szent vizénél
lombtól hűs Rámagiri tetején büntetését letöltse.

English translation

Kumārasambhava

asty uttarasyāṁ diśi devatātmā
Himālayo nāma nagādhirājah /
pūrvāparau toyanidhī vagāhya
sthitah prthivyā iva mānadandah //

Hungarian translation

Egy isten-arcú hegyet őriz Észak,
Himálaját, a hegyek ős királyát.
Két óceán közt, Kelet és Nyugat közt / toronylik égnek fejedelmi orma.

English translation

There is in the northern direction a divine king of mountains of the name of Himālaya which wading through the eastern and the western oceans stands like the measuring rod of the earth.

Astapadī 3

lalita lavaṅgalatā parisīlanakomalamalayasamīre
madhukaranikarakarambita kokila kūjitakuñjakutīre /
viharati Harir iha sara sa vasante nrtyati
Yuvatijanena samaṁ sakhi virahijanasya durante //

Hungarian translation

Szekfüvirágleheletzuhatagos-örömillatu délövi szélben
fülemileszavu kusza méhzizegésü lugas susogó sürüjében
Hari vigad a gyönyörü dalu kikeletben,
sírjon az elhagyatott, ime táncol a vadörömü lánykaseregben.

English translation

BOARD OF RESEARCH STUDIES FOR THE HUMANITIES
UNIVERSITY OF DELHI

(Sub-Committee Social Sciences)

MINUTES

A meeting of the Social Sciences Sub-Committee to consider fresh applications for admission to the Ph.D. Course was held on 10th March, 1980 at 2.30 P.M. in Room No.1, Arts Faculty Building, University of Delhi, Delhi. The following members were present:-

1. Prof. Dharma Kumar (Convener)
2. Prof. J.S. Bains
3. Prof. P.S. Gupta
4. Prof. N.R. Chatterjee
5. Prof. B.S. Sharma
6. Prof. K.L. Krishna
7. Prof. L.S. Porwal
8. Dr. S.D. Badgaiyan

The Committee considered the applications as per details given in the enclosed statement and resolved to recommend to the Board for admission, except in the following cases where the Committee decided as noted against each:

Name of the candidate & Deptt.		Decision of the Committee
1. V. Padmini	(Economics)	The Committee noted that the candidate has passed M.A. from University of Essex which has not been recognised as equivalent with M.Phil. programme of this University. After discussion the Committee recommended the admission of the candidate subject to approval of the Equivalence Committee.
2. B.P. Sahu	History	The Committee considered the applications of these candidates and noted that result of the M.Phil. Course has not yet been announced. The Committee after discussion, decided to recommend their admissions to the Board subject to formal declaration of their Part II Examination and fulfilling the eligibility requirements.
3. Tuk Tuk Ghosh	-do-	
4. Susama Mohanty	African Studies	
5. Parimita Mohapatra	-do-	
6. Tanusree Raha	Sociology	
7. Renu Sanghi	-do-	
8. Abhijit Sarkar	-do-	

The meeting came ended with a vote of thanks to the Chair.

(Dharma Kumar)

Astapadi 4

pīnapayodharabhārabharena Harim parirabhaya sarāgam /
gopavadhūr anugāyati kācid udancitapancamarāgam //
Harir iha mugdhavadhūnikare vilāsini vilasati kelipare /

Hungarian translation

Ezt öleli: mint buja rengedező teli fürt borul a kebele rája,
mámorosan tovaleng vele, zengi a pancsama-ütemet utána;
Hari maga vezeti a tánc-dobogást,
a lányokat, a tavaszi játszadozást.

English translation

Astapadī 11

patati patatre vicalati patre sankitabhavadupayānam /
racayati sayanam sacakitanayanam pasyati tava panthānam //
dhīrasamīre yamunātīre vasati vane vanamālī /

Hungarian translation

Ha madár rebben, ha levél lebben: azt hiszi, közeleg a lépted.
Gyüjt avar-ágyat, nézi a tájat: várhat-e végre ma téged?
Hűs bereg alján, Jamuná partján, koszorúsan egyre teräd vár.

English translation

Astapadī 12

tvaritam upaiti na katham abhisāram //
Harir iti vadati sakhīm anuvāram //
nātha Hare sīdati Rādhā vāsagrhe /

Hungarian translation

A kegyesem eljön-e? Hari, Hari, hol vagy?
-kérdezi egyre s a búban elolvad.
Ó, Hari úr, Rádhá ott a lugasba simul.

English translation

BOARD OF RESEARCH STUDIES FOR THE HUMANITIES
UNIVERSITY OF DELHI

(Sub-Committee for Languages)

MINUTES

A meeting of the Sub-Committee for Languages to consider fresh applications for admission to the Ph.D. course was held on 3rd April, 1980 at 2.00 P.M. in room No.1, Arts Faculty Building, University of Delhi, Delhi. The following members were present:

1. Prof. P.B. Mangla (Convener)
2. Prof. U.B. Singh
3. Dr. B.M. Chaturvedi
4. Dr. Fazlul Haq
5. Dr. A.V.N. Nambudripad

The Committee considered the applications as per details given in the enclosed statement and resolved to recommend to the Board for admission.

The meeting ended with the vote of thanks to the chair.

Sd/-

(P.B. Mangla)
Convener

Dated: 25.4.1980

डा० सत्यव्रत शास्त्रिभिः प्रस्तुतं
दीक्षान्तभाषणम्

श्रद्धेयाः श्रीसोमनाथसंस्कृतविश्वविद्यालयकुलाधिपतिपदविभूषणा गुर्जर-प्रदेशराज्यपाला महामहिम कमला महाभागा

माननीयाः कुलपतयो डा० पङ्कजजानी महाभागाः शास्त्रावगाहन-कृतक्षणा सम्मानितोपाधिनो समाजनीया विचक्षणाः,
विश्वविद्यालयकार्यपरिषदः शिक्षापरिषदो विद्वत्परिषदश्च सम्मानिताः सदस्यास्तत्रत्याश्च शास्त्रावगाहनपरा विश्वविद्यालयछात्राः, प्रेयांसश्छात्रा अन्ये च समुपस्थिता विद्वांसो विदुष्यश्च,

विश्वविद्यालयस्य तृतीयेऽस्मिन् दीक्षान्तसमारोहे समुपस्थितवतो मे मनसि महान् प्रहर्षः। सुप्रथिते पुण्यतीर्थे सोमनाथे ~~द्वारकाधामनि~~ प्रतिष्ठितोऽयं विश्वविद्यालय इति ~~किमप्यस्य अनितरसाधारणं वैशिष्ट्यम्~~ महिमा। कुलाधिपतिपदमध्यास्ते सुप्रथितोऽस्य वैदुष्यसौजन्यजन्ययशोविलासा महामहिम राज्यपालाः। एतेषामाशीराशिभिर्विश्वविद्यालयोऽयमनुदिनमुन्नतिपथ-मारोहति। कुलपतिपदं चास्याध्यास्ते नानाशास्त्रपार-पारदृश्वानो नानाग्रन्थसौरभसुवासितदिगन्ताः पङ्कजजानी महाभागाः। एतेषां प्रयत्नभरेण विश्वविद्यालयोऽयमल्पेनैव कालेन परमोत्कर्षं ~~गतः~~ समारूढः।

महात्मगान्धिवर्यैरुक्तं ग्रामे ग्रामे पाठकं कालायकं च श्रूयते। एवमेव ग्रामे ग्रामे संस्कृतं श्रूयेतेत्ययमस्माकमभि-लाषः। तमिममभिलाषं विश्वविद्यालयोऽयमवश्यं पूरयिष्यतीति दृढो मे प्रत्ययः।

सम्प्रति नूतनस्नातकानुद्दिश्य किमपि विवक्षामि। जानन्त्येव भवन्तो यदा हनूमान् लङ्कामुपैति तदा सीतया सह कथं भाषणं मया करणीयमिति महतीं चिन्तां प्रतिपद्यते। स एवं विचारयति यद्

चान्वध्यायञ्चेति (१.२.१०) भाषाशब्देनैवेयमभिहिता। भाष्यत इति भाषा। लोकभाषैव भाषा भवति। अद्यत्वेऽपि हिन्दीतिलोकभाषार्थे वयं भाषेति शब्दं प्रयुञ्ज्महे 'भाषाटीका' इति। एतेन हिन्दीटीका इत्यभिप्रायः। भाषासञ्ज्ञार्थे संस्कृतशब्दस्तु बहुकालानन्तरमेव प्रयोगमवातरदिति प्राचीनसंस्कृतवाङ्मयाध्ययनेन न न सुकरमुन्नेतुम्। वाल्मीकिरामायणे भाषार्थे संस्कृतप्रयोगोऽस्तीति केचित्। लङ्कामुपेतो हनूमान् श्रीरामसन्देशं भगवतीं जानकीं प्रतिपिपादयिषुः कया वाचा तया सहाहं सम्भाषेयेति चिन्तां प्रत्यपद्यत। यदि संस्कृतां वाचं वदामि तर्हि कदाचिद् भगवती मां रावणं मन्येत। मायारूपधरा भवन्ति दैत्याः। रावणः कपिरूपं धृत्वा मामुपेत इति भ्रान्तिस्तस्या मनसि पदं कुर्यात् सा च भीता सती मद्वचसा स्वं वचो न मिश्रयेत् --

यदि वाचं प्रदास्यामि द्विजातिरिव संस्कृताम् ।
रावणं मन्यमाना मां सीता भीता भविष्यति ।।

अत्र संस्कृतां वाचमित्याह हनूमान्, न तु संस्कृतं वाचमिति। तेन सन्दिग्धमेव भाषार्थे, तत्सञ्ज्ञारूपेण, संस्कृतशब्दप्रयोगोऽत्रास्ति न वा। भाषासञ्ज्ञारूपेण संस्कृतशब्दो नित्यनपुंसकलिङ्गः। तथा च दण्डी-- संस्कृतं नाम दैवी वाक्, 'संस्कृतं वाक्' इति। यथा वा तथा वाऽस्तु। ~~इदं तु~~ एतेन ~~स्पष्टमेव~~ भवति यद् रामायणकाले मानुषाः, हनूमदाद्याः कपयो, रावणाद्याश्च लङ्कानिवासिनो दैत्या अपि ~~यया भाषया~~ [illegible] व्यवाहरन्। ~~सा संस्कृतमेवा-सीत्तन्नाम्ना सा तदानीं व्यवहृताऽभवद्वा न वा।~~ एतेन भाषाया अस्या आलङ्कं सार्वत्रिकः प्रचारो ध्वनितो भवति। ~~तेन नेयं कदाचिदपि~~

चान्वध्यायञ्चेति (१.२.१०) भाषाशब्देनैवेयमभिहिता। भाष्यत इति भाषा। लोकभाषैव भाषा भवति। अद्यत्वेऽपि हिन्दीतिलोकभाषार्थे वयं भाषेति शब्दं प्रयुञ्ज्महे 'भाषाटीका' इति। एतेन हिन्दीटीका इत्यभिप्रायः। भाषासञ्ज्ञार्थे संस्कृतशब्दस्तु बहुकालानन्तरमेव प्रयोगमवातरदिति प्राचीनसंस्कृतवाङ्मयाध्ययनेन न न सुकरमुन्नेतुम्। वाल्मीकिरामायणे भाषार्थे संस्कृतप्रयोगोऽस्तीति केचित्। लङ्कामुपेतो हनूमान् श्रीरामसन्देशं भगवतीं जानकीं प्रतिपिपादयिषुः कया वाचा तया सहाहं सम्भाषेयेति चिन्तां प्रत्यपद्यत। यदि संस्कृतां वाचं वदामि तर्हि कदाचिद् भगवती मां रावणं मन्येत। मायारूपधरा भवन्ति दैत्याः। रावणः कपिरूपं धृत्वा मामुपेत इति भ्रान्तिस्तस्या मनसि पदं कुर्यात् सा च भीता सती मद्वचसा स्वं वचो न मिश्रयेत् --

यदि वाचं प्रदास्यामि द्विजातिरिव संस्कृताम्।
रावणं मन्यमाना मां सीता भीता भविष्यति ॥

अत्र संस्कृतां वाचमित्याह हनूमान्, न तु संस्कृतं वाचमिति। तेन सन्दिग्धमेव भाषार्थे, तत्सञ्ज्ञारूपेण, संस्कृतशब्दप्रयोगोऽत्रास्ति न वा। भाषासञ्ज्ञारूपेण संस्कृतशब्दो नित्यनपुंसकलिङ्गः। तथा च दण्डी-- संस्कृतं नाम दैवी वाक्, 'संस्कृतं वाक्' इति। यथा वा तथा वाऽस्तु। इदं तु स्पष्टमेव यद् रामायणकाले मानुषाः, हनूमदाद्याः कपयो, रावणाद्याश्च लङ्कानिवासिनो दैत्या अपि यया भाषया व्यवाहरन्। सा संस्कृतमेवा-सीत्तन्नाम्ना सा तदानीं व्यवहृताऽभवद्वा न वा। एतेन भाषाया अस्या आलङ्कं सार्वत्रिकः प्रचारो ध्वनितो भवति। तेन नेयं कदाचिदपि

लोकभाषाऽऽसीदिति मतेऽस्माकं सर्वथा विप्रतिपत्तिः।

नानाशताब्दीः सहस्राब्दीश्च संस्कृतमेवास्य देशस्य भाषाऽऽसीत्। अनयैव प्रणीता मनीषिभिर्नाना ग्रन्थाः। अनयैव चिन्तनोन्मेषो जातो भारतीयानाम्। अद्यतनो जनोऽस्य महत्त्वं सम्यगवबुध्येत एतत्प्रति चास्य रुचिरुदियाद् इत्यर्थम् अनारतं प्रयत्नपरैर्भाव्यं भवद्भिः स्नातकैः। एतत्प्रथममनुशासनम्।

अद्य तत्तदुपाधिभिरलङ्क्रियन्ते छात्रास्तान्वयमभिनन्दाम आशीराशिभिश्च वर्धयामः। नाना वर्षाणि गुरुभ्योऽधीतानि भवद्भिः शास्त्राणि। अतः परतरमपि तानि शीलनीयानि। अधीतं कदाचिदपि न नाशनीयम्। अधीतस्य नाशनं पातकत्वेन अवधारयन्ति शास्त्रकाराः। ये युष्मासु लब्धाचार्योपाधिका विद्यावारिध्युपाध्यर्थम् उद्यताः स्युस्तैः, यैः पुनः स उपाधिरद्य लभ्यते तैरपि तादृशेषु विषयेषु गवेषणार्थमात्मा व्यापारयितव्यो ये ऽद्यावध्यविमृष्टाः स्युः। सन्ति परोलक्षाः संस्कृतपाण्डुलिपयः। तासु सन्ति सहस्रशो या न दृष्टा, न वा परिशीलिता, न वा समीक्षिताः। तासां संस्करणसम्पादनयोरात्मा देयः। एतेन तत्तद्ग्रन्थोद्धारोऽपि भवेज्ज्ञानसंवर्धनमपि। ये ग्रन्था विमृष्टा अपि पूर्वैः पथिकृद्भिस्तत्रापि सन्ति बहूनि स्थलानि यत्र भूयो विचारोऽपेक्षितः। कालिदासविषये कृतो महान् श्रमो मनीषिभिः। नानाग्रन्थास्तद्विषये तैः प्रणीताः परशताश्च निबन्धा निबद्धाः। तथापि तत्र सन्ति तादृशानि स्थलानि यानि विमर्शार्हाणि। तथाहि-- भाग्यविषये महाकविना स्वकीये वाङ्मये सप्त शब्दाः प्रयुक्ताः-- दैवं, भाग्यं, विधिः, नियतिः, भवितव्यता, कृतान्तः, भागधेयमिति। कुतो हेतोरेतेषु भाग्य-भागधेयशब्दौ निरन्तरम्, अव्यभि-

चारेण, बहुवचन एव प्रयुक्तौ। यथाहि--भाग्येष्वनुत्सेकिनी, सा निन्दन्ती स्वानि भाग्यानि बाला, अन्यसङ्क्रान्तेष्वस्माकं भागधेयेषु यदि पुनः कुप्येयं हास्या भवेयम्, ईदृशानि तपस्विन्या भागधेयानि, विकारकालेऽपि सर्वदमनस्यौषधिं श्रुत्वा न सम्प्रत्याशाऽऽसीदात्मनो भागधेयेषु, वत्स, ते भागधेयानि पृच्छ। एवं शाकुन्तले चतुर्थेऽङ्के शकुन्तलायाः पतिगृहगमन-प्रसङ्गे कस्मात् कण्वस्तां 'वत्से' इति सम्बोधयति गौतमी च 'जाते' इति।

किञ्च, रघुवंशे द्वावृषी मन्त्रकृतावित्युक्तौ। दिलीपो वसिष्ठमाह-तव मन्त्रकृतो मन्त्रैर्दूरात्प्रशमितारिभिः। रघुर्वरतन्तुविषये कौत्सं पृच्छति अप्यग्रणीर्मन्त्रकृतामृषीणां कुशाग्रबुद्धिः कुशली गुरुस्ते। ऋषयो हि मन्त्रद्रष्टारो न तु मन्त्रकर्तारः। तेषां मन्त्रकर्तृत्वे श्रुतेरपौरुषेयत्वं व्याहन्येत परम्पराव्युच्छेदश्च स्यात्। एतेऽन्ये चैतादृशा विषया मनीषिभिः स्नातकै-र्निपुणं परीक्ष्याः। वाल्मीकिरामायणे महर्षिर्विश्वामित्रः श्रीरामं स्वमाश्रमं नयन् बलां चातिबलां चेति द्वे विद्ये तं ग्राहयति। ते च विद्ये मन्त्रग्रामरूपे। यस्ते गृह्णाति न तस्य क्षुत्पिपासाबाधः। तथाहि--

मन्त्रग्रामं गृहाण त्वं बलामतिबलां तथा।
न श्रमो न ज्वरो वा ते न रूपस्य विपर्ययः।।
एतद्विद्याद्वये लब्धे न भवेत्सदृशस्तव।
बला चातिबला चैव सर्वज्ञानस्य मातरौ ।।
क्षुत्पिपासे न ते राम भविष्येते नरोत्तम ।
बलामलिबलां चैव पठतस्तात राघव ।।

के नाम ते बला चातिबलेति गवेषणाविषयः। कोऽसौ मन्त्रग्रामो यो

विश्वामित्रेण रामः शिक्षितः। एतादृशेषु विषयेषु यदि क्रमतेऽत्रभवतां बुद्धिस्तर्हि नानाप्रत्नग्रन्थरत्नग्रन्थयो विभिद्येरंस्तेन च महदुपकृतं स्यात् संस्कृतवाङ्मयसम्यगर्थावबोधस्य। यावज्जीवं भवद्भिर्जीविकोपार्जने ज्ञानसञ्चये चात्मा व्यापारयितव्यः। उक्तं च- क्षणशः कणशश्चैव विद्यामर्थं च चिन्तयेत्। एवं सति विद्यया भासमाना भवन्तः स्वस्य च विद्यापीठस्यास्य च गौरवं वर्धयेयुः। एतद् द्वितीयमनुशासनम्।

यथा भारतीयैस्तथा वैदेशिकैरपि नाना विद्वद्भिः संस्कृतवाङ्मय-विषये कृतो भूयान् श्रमः। न केवलं तैराङ्ग्लभाषयैव स्वकीया ग्रन्था निबन्धा वा व्यरचिषतापितु स्वभातृभाषाभिरपि। अधिकांशतस्तु ते तैः स्वकीयाभिः शर्मण्य-फ्रैञ्च-डच-पोलिश-हंगेरियन्-रशियन् आदि-भाषाभिरेव विरचिताः। यत्तैरुक्तं तदवबोधाय तत्तद्भाषाज्ञानमावश्यकम्। अत्र कुलाधिपतिमहोदयैः कुलपतिमहोदयैश्च विशेषतोऽवधानं दीयमान-मिच्छामि। अत्र विद्यापीठे विदेशभाषाशिक्षणविभागः स्थापनीयः। तेन विद्यापीठीयच्छात्रास्तास्ता भाषाः शिक्षितुं प्रभवेयुः। स्वशास्त्रशीलनतो-ऽतिरिक्ते कालेऽल्पकालिक्यः, 'पार्ट टाइम', कक्षा आयोजनीयाः। तत्र न केवलं पाश्चात्यभाषाशिक्षणमेव भवेदपि तु पूर्वदेशीयभाषाशिक्षणमपि। दिल्ल्यां कुत्रापि थाई-लाओ-कम्बुज-मलयादिभाषाणामध्यापनं न भवति। कुतो न तद् विद्यापीठे एव प्रारभ्येत। तच्च भारतशासनस्य पूर्वदिग्विभागस्थदेशैर्विशेषत आग्नेय (दक्षिण-पूर्व) भूभागस्थदेशैः सम्बन्धः प्रगाढतरो भवत्वित्याशया प्रवर्तितायाः 'प्राचीं दिशं पश्यत', 'लुक ईस्ट', इतिनीतेरप्यनुकूलं स्यात्। एतद्भाषाज्ञानेन विद्यापीठ-स्नातकैस्तत्तद्दूतावासादिनियुक्तिसम्भावनया वृत्तिलाभावसरोऽपि

प्राप्येत। किञ्च, अद्यत्वे परस्सहस्रा यात्रिणो वाणिज्यव्यवसायदृष्ट्या वा, पर्यटनदृष्ट्या वा तीर्थाटनदृष्ट्या वा भारतमुपयान्ति। तेष्वस्ति भूयसी सङ्ख्याऽऽङ्ग्लातिरिक्तभाषाभाषिणाम्। तत्तद्वैदेशिकजनसङ्गत्या वृत्तिलाभोपि भवति, ज्ञानोपार्जनमपि। विदेशेषु सन्ति शतशो जना ये 'इन्टरप्रेटर' इति रूपेण परस्परसंवादकर्मणि रताः। अद्यत्वे भारते य एतत् कर्म कुर्वन्ति त आङ्ग्लभाषामेव सम्पर्कभाषारूपेण प्रयुञ्जते। वैदेशिका यथा कथञ्चित्तदर्थमवबुध्यन्ते। यदि तन्मातृभाषयैवाभिधेयोऽर्थस्तेषु प्रतिपाद्येत तर्हि तेषां सम्यक्तरोऽर्थावबोधः स्यात् सम्यक्तरं ज्ञानं चापि तत्तद्विषयाणाम्। तेन भारतविषये तेषां रुचिर्वर्धेत। स्वदेशं प्रतिनिवृत्य च अन्यान् स्वदेशस्थान् ते सूचयेर्युयत् तन्मातृभाषाव्यवहारेणापि भारते परिभ्रमणं सम्भवि तत्तत्कार्यसम्पादनं च। किञ्च, आग्नेयभूखण्ड-नानादेशवासिनो बहुसङ्ख्यका जना बौद्धधर्मालम्बिनो भगवता बुद्धेन पवित्रीकृतानामनेकस्थलानां तत्कृते तीर्थीभूतानां परिदर्शनाय तत्र पूजार्चादिसम्पादनाय च भरतभुवमुपयान्ति। ते प्रायशो हिन्द्यादि-भारतीयभाषानभिज्ञा आङ्ग्लभाषानभिज्ञाश्चापि। तेषां कृते महदिदं सौविध्यं स्याद्यदि भवादृशाः संस्कृतेऽधीतिनस्तद्भाषामात्मसात्कृत्य तयैव तैः सह संव्यवहरेयुः। किञ्च, प्रसक्तानुप्रसक्तयाऽत्र विवक्षामि यद् आग्नेयभूखण्डदेशीया लाओ-कम्बुज-मलय-हिन्देशियादिभाषाः संस्कृतशब्दबहुलाः संस्कृतज्ञेन विनैव बहुतरकमायासं शिक्षितुं शक्याः। इयं हि संस्कृतज्ञानां कृते विशिष्टा प्ररोचना। देशेषु तेषु भारतीयसंस्कृतिरनुस्यूता। अत एव बृहत्तरं भारतमिति तत्कृते प्रथते समाख्या । तद्भाषाज्ञाने सति तद्देश- वाङ्मय-अभिलेख-मूर्तिकला-

स्थापत्यकलाद्यनुसन्धानार्थमपि क्रमेरन् भवन्तो येन ज्ञानोपार्जनसहकारेण वृत्तिलाभोऽपि भवेत्। अद्यत्वे संस्कृतविद्याऽर्थकरी कथं भवत्विति प्रश्ने ज्यौतिषकर्मकाण्डादीन्येव तदर्थं निर्दिशन्ति संस्कृतज्ञाः। ततोऽतिरिक्तमपि किमप्यस्तीति ते न विचारयन्ति। अत एव ममोपरितन उपन्यासः। दीर्घं पश्यत मा ह्रस्वमिति दृष्ट्याऽत्र प्रवृत्तिमन्तः सन्तु भवन्तो वृत्तिक्षितिजे ज्ञानक्षितिजे च नूत्ननूत्नतारकोदयं तत्प्रकाशं चानुभवन्त्विति तृतीयमनुशासनम्।

वैदेशिकैर्विद्वद्भिः संस्कृतवाङ्मयव्याख्यानरूपा नाना ग्रन्था विरचिता इति पूर्वमवोचम्। भूयांसस्तेषु स्वमातृभाषाभिरेव। ताश्च भाषा अस्माकमसंस्तुता इति ते ग्रन्था अस्मदध्यनविषयतां नापद्यन्ते। यदि तेऽनूदिताः स्युः संस्कृतभाषया वा हिन्दीभाषया वा तर्हि वयं तान् अध्येतुं पारयेम तद्विषयवस्तु चावगन्तुमिति नापेक्ष्यते बहु वचः। तत्तद्भाषाज्ञानवन्तः संस्कृतज्ञास्तान् संस्कृतेनानुवदितुं शक्नुयुः। एवं वृत्त्यर्थमपरं द्वारं तेषां कृते समुद्घाटितं भवेत्। विदेशिभाषानिबद्धाः प्रमुखा ग्रन्थाः प्रथमं संस्कृतेन हिन्द्या वाऽनूद्याः तदनु चाङ्ग्ल्या।

अनुवादचर्चाप्रसङ्गे इदमपि निवेदयितुमिच्छामि यद् बहुजनसुखाय बहुजनहिताय च संस्कृतग्रन्थानामपि लोकभाषया वाऽऽङ्ग्लभाषया वाऽनुवादोऽपेक्षितः। इदं ज्ञायमानं विस्मयं जनयेन्नाम यल्लोकप्रसिद्धानां किरातार्जुनीय-शिशुपालवध-नैषधीयचरितप्रभृतीनां काव्यानामपि सम्पूर्णानां हिन्द्यनुवादो वाऽऽङ्ग्लानुवादो वा न केनापि कृतः। कतिपयतत्सर्गाणां तदंशानां वा तत्तद्विश्वविद्यालयेषु पाठ्यत्वेन निर्धारितानां स कृतो विद्वद्भिर्न तु सम्पूर्णमहाकाव्यानाम्। यद्येतादृशां

ग्रन्थानामीदृशी स्थितिस्तर्हि का वा सा स्यादन्येषां परश्शतानाम्। एतदनुवादार्थमनुवादका अपेक्ष्यन्ते। अहं तु मन्ये विश्वविद्यालयेष्वनुवादप्रकोष्ठाः, ट्रांस्लेशन सेल्स, स्थापनीया यत्रेदं कार्यं विधिवत्सम्पाद्येत। तत्र विद्यापीठमिदमेवाग्रगं भवतु।

भाषान्तरापादनं कामपि शिक्षामपेक्षते। तदर्थं विद्यापीठेऽल्पकालिकः, 'पार्टटाइम', अनुवादपाठ्यक्रमः, 'ट्रांस्लेशनकोर्स' प्रारब्धव्यः। एतद्विषये कुलाधिपतिभिः कुलपतिभिश्चावधानं दीयमानमिच्छामि। एतत्सहकारेणैव यदि कम्प्यूटरमाध्यमेन पुस्तकसंरचनादिविषयकं, बुक फारमेटिंग, मुद्रणसंविधानकं, प्रिण्टिंग टेक्नोलोजी, प्रूफादिसंशोधनविषयकं प्रशिक्षणादि प्रारभ्येत तर्हि नूत्ना कार्यदिशः संस्कृतच्छात्रैर्दृष्टाः स्युर्लब्धाः स्युश्च नूत्ना वृत्त्यवसराः। संस्कृतज्ञानां कृते नाध्यापकवृत्त्यवसर एव केवलोऽस्तु, अनेकेऽन्येऽपि तदवसरास्तेषां सुलभाः स्युर्येन ज़ीविकोपार्जनचिन्ताविरहितास्ते सर्वात्मना संस्कृताराधनायामात्मानं व्यापारयितुं शक्नुयुः। सन्ति भूयांसस्तदवसराः, केवलं तद्दृष्टिरपेक्ष्यते। सुवर्णपुष्पेयं पृथिवी। तानि सुवर्णपुष्पाणि त्रिविधाः पुरुषाश्चिन्वन्ति-- शूरश्च कृतविद्यश्च यश्च जानाति सेवितुम्। कृतविद्या भवन्तः। उत्साहरूपं शौर्यम् आत्मन्यापादानीयम्। न मनागपि आत्माऽवसादाय देयः। उपाजेकृत्य प्रवर्तितव्यं तेषु तेषु कर्मसु। उद्धरेदात्मनाऽऽत्मानं नात्मानमवसादयेदिति भगवद्वचः। तद् एव सदा मनसि करणीयम्। एतच्चतुर्थमनुशासनम्।

आचार्यैराचारं ग्राहिता भवन्त आदर्शभूता लोकस्य स्वजीवनं यापयन्तु। शुभाः सन्तु भवतां पन्थानः।

INDO-THAI HISTORICAL AND CULTURAL LINKAGES

THE HERITAGE PARKS OF SUKHOTHAI AND KAMPHAENG PHET---REMAINS OF BRAHMANICAL SITES AND ARTEFACTS

----------Satya Vrat Shastri

Of the three Historical Parks situated not far from each other, Sukhothai, Kamphaeng Phet and Si Satchanalai declared as Heritage Sites by Unesco, only two, the Sukhothai Historical Park and the Kamphaeng Phet Historical Park have Brahmanical sites and the Brahmanical artefacts discovered from areas around them which are now housed in the Museums there and the National Museum, Bangkok. As many as fourteen images of Hindu gods like Śiva, Viṣṇu, Hari-Hara and goddess Umā have been found from the Brahmanical shrines of the Sukhothai Historical Park which except two are now housed in the National Museum, Bangkok. The two of Viṣṇu and Hari-Hara are in the Ramkamhaeng National Museum, Sukhothai.

Shrines of Sukhothai

Thewalai Kaset Phiman/Ho Thewalai

It is mentioned in the Stone Inscription of King Li Thai of 1361 A.D. This records the placing of the images of Śiva and Viṣṇu in the shrine in 1339 A.D. for Brāhmaṇas to worship.

The Inscription reads:

In 1271 Śaka, year of the Ox, on Friday, the 11th of the waxing moon of Āṣāḍha in the ṛkṣa of Pūrvāṣāḍha at sun rise the king (Phra Pada Kamrateng AN Sri Sūryavaṁśa Rāma Mahārājādhirāja) erected an image of Maheśvara and an image of Viṣṇu in the Devālaya Mahākṣetra of this Mango Grove.....for all the ascetics and the Brāhmaṇas to worship for ever....

Khmer language, Face 1, Lines 51-53.

An important thing in this Thewalai, Devālaya, is the base of a hall where these images originally stood. The hall is in the Maṇḍapa shape with eight columns and is 12 metres wide. This ancient monument was excavated and restored in 1970 A. D.

A peculiarity of the monument, the Śiva shrine, is that it lies straight in the direction of the Śiva Cave which is at the top of a faraway mountain noticeable from there.

Wat Si Sawai

It is situated 300 metres southwest of Wat Mahathat and is surrounded with beautiful scenery. Interesting work of art in it is the main Prang that consists of three towers of

INDO-THAI HISTORICAL AND CULTURAL LINKAGES

THE HERITAGE PARKS OF SUKHOTHAI AND KAMPHAENG PHET---REMAINS OF BRAHMANICAL SITES AND ARTEFACTS

----------Satya Vrat Shastri

Of the three Historical Parks situated not far from each other, Sukhothai, Kamphaeng Phet and Si Satchanalai declared as Heritage Sites by Unesco, only two, the Sukhothai Historical Park and the Kamphaeng Phet Historical Park have Brahmanical sites and the Brahmanical artefacts discovered from areas around them which are now housed in the Museums there and the National Museum, Bangkok. As many as fourteen images of Hindu gods like Śiva, Viṣṇu, Hari-Hara and goddess Umā have been found from the Brahmanical shrines of the Sukhothai Historical Park which except two are now housed in the National Museum, Bangkok. The two of Viṣṇu and Hari-Hara are in the Ramkamhaeng National Museum, Sukhothai.

Shrines of Sukhothai

Thewalai Kaset Phiman/Ho Thewalai

It is mentioned in the Stone Inscription of King Li Thai of 1361 A.D. This records the placing of the images of Śiva and Viṣṇu in the shrine in 1339 A.D. for Brāhmaṇas to worship.

The Inscription reads:

In 1271 Śaka, year of the Ox , on Friday , the 11th of the waxing moon of Āṣāḍha in the ṛkṣa of Pūrvāṣāḍha at sun rise the king (Phra Pada Kamrateng AN Sri Sūryavaṁśa Rāma Mahārājādhirāja) erected an image of Maheśvara and an image of Viṣṇu in the Devālaya Mahākṣetra of this Mango Grove.....for all the ascetics and the Brāhmaṇas to worship for ever....

Khmer language, Face 1, Lines 51-53.

An important thing in this Thewalai, Devālaya, is the base of a hall where these images originally stood. The hall is in the Maṇḍapa shape with eight columns and is 12 metres wide. This ancient monument was excavated and restored in 1970 A. D.

A peculiarity of the monument, the Śiva shrine, is that it lies straight in the direction of the Śiva Cave which is at the top of a faraway mountain noticeable from there.

Wat Si Sawai

It is situated 300 metres southwest of Wat Mahathat and is surrounded with beautiful scenery. Interesting work of art in it is the main Prang that consists of three towers of

Lopburi style. In its front there are two bases of Vihāras located next to each other and surrounded with bricks/slate boundary wall. The outer wall is of laterite. From its excavation and renovation fragments and antiques were found such as a lintel showing Visnu stepping over the ocean, fragments of a bronze idol, a Linga and a Buddhist image of Lopburi style. King Rama VI of the Chakri dynasty visited this temple when Crown Prince. He had found the image of Svayambhū (Śiva) in the Vihāra. Hence it is assumed that Wat Si Sawai was once the ancient site of the Brāhmana religion.

Some Hindu sculptures were discovered from Wat Si Sawai. They are preserved now in the Ramakamhaeng Museum at Sukhothai. These are

(i) an image of Hari-Hara in bronze of Sukhothai art, 14th—15th Cen. A.D.
(ii) an image of Śiva in bronze , Sukhothai art, 14th—15th Cen. A.D.
(iii) torso of Śiva in stone
(iv) torso of Śiva in stone
(v) right arm of a deity

Taphadaeng Shrine

It is situated north of Wat Mahathat. Also called Phra Sua Muang Shrine its architectural style is a copy of the Khmer art which exercised influence over Sukhothai during the reign of King Sūryavarman II of the 12th Cen. A.D. An excavation here revealed significant sculptures such as a figure of Śiva and a goddess. According to their accessories and dress it looks typically a Khmer sculpture of the Angkor Wat art of around the 11th Cen. A.D.

Wat Phra Phai Luang

This ancient site is situated in the northern part outside the town of Sukhothai. It is adjacent to the outer enclosure of Sukhothai with Phra Ruang passing the eastern part. It is known as one of the significant ancient sites of Sukhothai because it demonstrates historical traces of art having existed before the establishment of the town of Sukhothai until the late Sukhothai period. The cluster of ancient sites in the middle is surrounded with two moats. The outer moat is square shaped with approximately one kilometer width each side. The inner moat is smaller than the outer one. It looks there was no moat in the eastern part. There are three Prangs or Prasads representing the three essences of the ancient site. This is because the style of these towers and the decoration are similar to the Khmer art of the reign of King Jayavarman II. In the 13th Cen. A.D. these towers were the place of worship of the Hindus. This is because the fragments of an idol and a pedestal were found from here. Since King Jayavarman VII had a strong belief in Mahāyāna Buddhism, he renovated the towers and highlighted the pediment and the stucco illustrating the previous life of the Buddha.

Wat Phra Phai Luang

Located to the east of the northern gate and the outer rampart of Sukhothai, it is considered a group of ancient edifices of great significance because its buildings constructed in different phases have left impressive evidence of the evolution of Sukhothai art.

The oldest ancient monuments in this ancient temple are three buildings constructed in Prasad form (imitating Hindu Śikhara Vimānas). At present two of them are still in existence with their bases only in sight. The remaining one in the north is adorned with stuccoed relief depicting the stories of the Buddha like at a Prasad at Wat Mahathat at Lopburi Province and a Pallial Prasad at Angkor. In addition there are stuccoed reliefs depicting deities of Hinduism, such as an image of Śiva and an image of Brahmā. These help confirm the supposition that around the 13th Cen. A.D. communities in Sukhothai had cultural contact with Khmers in the reign of King Jayavarman VII and were also associated with a town under the Khmer influence called Lavo (the present Lopburi Province). To the east of the Prasad are located a Vihāra and a Chedi in pyramid shape with every sloping side decorated with superimposed receding porches which are similar to those of Kutkut Chedi in Lampun Province for enshrining the stuccoed image of the Buddha.

The Brahmanical Artefacts in the Ramkamhaeng Museum

Among its many exhibits this museum at Sukhothai had some Brahmanical artefacts which, apart from those mentioned in connection with the description of the Thewalai Si Sawai are:

(i) a Śivaliṅga in sandstone, Lopbiri art, 11th—12th Cen. A.D.
(ii) pedestal of Liṅga or Yoni, Lopburi art, 11th—12th Cen. A.D.
(iii) an image of Hari-Hara, Sukhothai art, 14th Cen. A.D.
(iv) an image of Viṣṇu, Sukhothai art, 14th Cen. A.D.
(v) a panel depicting Viṣṇu resting on the celebrated serpent Śeṣa with its seven hoods with seated Lakṣmī holding the feet of the Lord in her arms. From the navel of the Lord springs forth a lotus stalk with full-blossomed lotus on which Brahmā is comfortably seated in a posture of worship. With a little towards the side of the feet there is the figure of a recluse with matted hair and rosary who could be Śiva. If this surmise were to be correct, then the panel would be representing the entire Hindu Trinity which would distinguish it from a similar panel at Prasad Panom Rung.

Shrines of Kamphaeng Phet

About 65 Kms. From Sukhothai the Historical Park of Kampheng Phet has a Hindu shrine, now in ruins, amidst a large number of Buddhist ones, called the Śiva shrine which is the place of find of the bronze statue of Śiva that is considered as one of the masterpieces of Thai art. The inscription at the base of it, written in Thai language in Sukhothai script states that "this was set up by Śrī Dharma Aśoka Rāja, a Governor of Kamphaeng Phet in 1510 A.D. for protection of people and animals in the Kamphaeng Phet city and for the accrual of merit to the two former kings of Ayutthaya."

The head and the hands of the statue were cut and stolen by a German missionary in 1886 A.D. (during the reign of King Chulalongkorn or Rama V) which the police discovered at Bangkok harbour and were restored to it (the statue) in such a way that nothing of the vandalism in it is noticeable now.

Apart from the Śiva statue discovered from the Śiva shrine which now occupies a pride of place on the first floor of the Kamphaeng Phet National Museum, a couple of other Hindu images have also been discovered from from Kamphaeng Phet's other sites like Wat Mahathat. They are the images of Viṣṇu or Narāi and a goddess (she may be Umā or Lakṣmī). There are also two or three broken pieces that a can be ascribed to the Rāma story.

From what has been stated above, it would be clear that the heritage sites of Sukhothai and Kamphaeng Phet have remains of a number of Brahmanical shrines and artefacts, among the large number of the Buddhist ones, a good testimony to the peaceful coexistence of the Buddhist and Brahmanical religions in the kingdom of Thailand since days of yore. These also are a proof positive of the close and intimate Indo-Thai linkages down the ages.

THE GREAT INDIAN TRADITION OF MANTRAS: ITS FUTURE IN SCIENTIFIC THOUGHT

Satya Vrat Shastri

The tradition of Mantras, holy incantations, goes back in India to a hoary past. The Mantras are met with the first time in the Vedas, the earliest works of mankind, where they are employed to invoke deities to seek their favour for begetting progeny, animals, spiritual majesty, material prosperity and long life.
The deities are invoked to also destroy enemies and adversaries who may be harbouring evil intentions. The Mantras serve as the potent link between the person reciting them and the deities to whom he prays.

Since the deities would not bestow all that a person wants unless they are pleased, prayers or hymns are recited in their praise. Sacrifices are performed where oblations are offered in fire, the fire-god being taken to be the intermediary between the respective deities and the sacrificer. Since the sacrifices are to be performed according to a well-defined ritual, to be effective in yielding the desired result, the services of the experts in the ritual were procured in the proper performance4 of the sacrifice.
The Mantras were, and still are, considered to possess special powers. Their recitation, therefore, to be impeccable. It is not just a syllable or a letter but even the accent, the svara, the pitch (which has the threefold form of raised one, udatta, the lowered one, anudatta and the medium one, the svarita) had also be just perfect. Even a slight deviation in it could well spell disaster.

The Mantras were used even to cure diseases and ailments and induce longevity. The *Atharvaveda,* the last of the four Vedas, is particularly noteworthy in this connection. It has the hymns there called Bhaisajyani, treating the diseases and Ayusyani, increasing the life-span. It also has them in the form of black magic to spell doom on opponents giving an appellation of Ghorangirasa, the terrible and the wholesome, to the Veda.

The peculiar potency of the Mantras was a recurring theme in later Sanskrit literature as well. The sage Visvamitra while escorting the young Rama to his Asrama (hermitage) to ward off the demons causing obstructions in the performances of his sacrifices taught him on the way the set of Mantras called Bala and Atibala, the two Vidyas as they are called in the Valmiki *Ramayana* by which he would feel no fatigue or fever or undergo change of look, and whether asleep or heedless, the demons would not be able to surprise him. The might of his arms will be unequalled in this world---nay in all the worlds. With the recitation of the Bala and the Atibala neither hunger nor thirst would torment him and he woul;d attain fame on the earth. The Vidyas are pregnant with energy; they are the daughters of the Creator :

mantragramam grhana tvam balam atibalam tatha/

na sramo na jvaro va te na rupasya viparyayah//

na ca suptam pramattam va dharsayisyanti nairrtah/

na bahvoh sadrso virye prthivyam asti kascana//

trisu lokesu va rama na bhaved sadrsas tava/

………………………………………………

ksutpipase na te rama bhavisyete narottama/

balam atibalam caiva pathatas tata raghava//

vidyadvayam adhiyane yasas catha bhaved bhuvi/

pitamahasute hy ete vidye tejah samanvite//

Ramayana, 1.22. 13-15, 18-19.

In the period of the epics and the Puranas the Mantras gave place to strotras, the eulogies, in praise of the deity with miraculous powers. In the battle between Rama and Ravana as the fight went on for days together with no victory in sight for either the sage Agastya came to Rama and told hymn in praise of the sun-god , Adityahrdaya as it is called in the Ramayana, which he taught him. Rama recited the hymn as learnt from the sage and it is only after that he was able to kill Ravana.

The Mantras powerful enough to ward off the enemies, however powerful. The sages and the seers could also destroy them through the power of their penance but take resort to that sparingly not to expend it on such activities , they having earned it through hard austerities. Kalidasa in his Raghuvamsa offers an observation through one of his chacters, King Dilipa, who approaches the sage Vasistha to know from him the cause of his issuelessness. When the sage enquired of him if everything well with his kingdom he said with his (the sage's) Mantras, the enemies getting subdues even at a distance his arrows known for hitting the visible targets are becoming almost redundant:

tava mantrakrto mantrai durat prasamitaribhih/

pratyadisyanta ive me drstalaksyabhidah sarah//

In Tantric texts Mantras assumed the form of Bijaksaras, the seminal syllables, like *ain, hrin, klin, viccaih*, etc. each having a particular potency. They also acquired secrecy. They had to be muttered inaudibly, that is what *japa* is, to keep up their efficacy. The teacher imparting him to a learner would strictly instruct him not to share it with others lest they lose their potency or fall in the hands of undesirable or undeserving hands. The general belief is they are effective if they are received from a guru who before passing it on to a recipient invests him with a spiritual potential. It is for this reason that people approach spiritual gurus, the Sadhus and the Sannyasins, the hermits, who they accept their spiritual gurus for giving (=teaching) them Mantras which may ward off evil,

current or future, and bring prosperity to them and their families and near and dear ones. Incidentally, the receiving the Mantra is the guarantee of devotion and dedication to the guru. That is why gurus of today are seen sometimes, at least a few of them, to be asking prospective recipients of the Mantras to have initiation in disciplehood from them first. Sometimes those who have had initiation from them motivate others for the purpose. The initiation is preceded by a ceremony like offering of some fruits, a betlenut, arecanut, coconut, a pair of saffron clothes and some cash. The guru then a rosary to the new disciple and gives him a Mantras which he is enjoined to recite daily which could be a simple verse from the Bhagavadgita or a four-word prayer like om bhagavate vasudevaya or some Vedic hymn or a line from a stotra with the strict instruction not to share it with the others, only the guru having the power to impart it.

That the Mantras have some miraculous powers has been felt personally by a number of people including myself. When I was very young I had developed jaundice. A person offered to cure me. He made me sit in a very big water basin. He then started pouring water on me with the recitation of some Mantras. After a while the entire water in the basin turned yellow and I was completely rid of the disease of which modern physicians had not been able to cure me even after medication for a with the recitation of some Mantras. After a while the entire water in the basin turned yellow and I was completely rid of the disease of which modern physicians had not been able to cure me even after medication for a of days. This was nothing less than a miracle. My jaundice had gone never to reappear all these decades.

Now, thius is my personal experience. I do not need any other proof for the efficacy of the Mantras.

There is another personal experience also which too I would like recount here. When I was doing Ph.D. at Banaras I developed a longing to visit Sarnath which close to it. I hired a cycle rikshaw and reached there. It was quite an underdeveloped place at that time. It had only an oblong big room there by way of a museum which housed the artifacts discovered from the places around. Among those artifacts was the round big stone called the Dharmacakra, the Wheel of Piety, with the three lion figures mounted on it which emperor Asoka had installed and which now forms the State insignia. With the desire to have a closer look at I got near it and inadvertently placed my right hand at the back of the giant round stone little realizing that it had a big hive of black wasps. Within se conds tens and scores of the bit my hand. I was screaming. The wasps had clung to my hand so fast that I had to remove them by pulling them by my left. My screams reached the rickshaw puller who had parked his rickshaw nearby. He came rushing to me and noticed my miserable condition. The place was so deserted and desolate that there was no question of any medical aid the possibility of which was only at Varanasi. By the time the poison of the insects would have spread in my body exposing me to great risk. My hand was swelling which was spreading in other parts of the body as well. The rickshaw puller first reassured me and then and then picked up some dust from the kutcha road in front of my eyes and poured it on my hand and went on muttering something . Within minutes all my pain and swelling of the hand all but disappeared to my utmost surprise. I repearedly asked the rickshaw puller as to what he had been muttering but he would disclose it. He

merely said. He only said : My guru had asked me not to tell of it to anybody. So, that was the Mantra the unlettered rickshaw puller acquired from some holy man he might have come into contact with.

Mantras thus get passed on from generation to generation. Education does not seems to have much to do with it. They have their efficacy even with the uneducated.

How is one now to explain all these things ? Science would not accept the. There is no visible relationship of cause and effect between the phenomena. It may just dismiss them as mere superstition in underdeveloped and decadent societies. The Mantras are now fast fading out. For one, they have not been shared with each other, as mentioned many times earlier and for the other, have not been continuously been recited.

Of late some compilations of the Mantras like the *Mantramahodadhi* have appeared where Mantras are listed with their elaborate ritual and application to meet particular situations with explanations, wherever possible, in Sanskrit and Hindi. A number of compendia are still in manuscript, the various manuscript catalogues listing them.

As per the Tantric and Puranic system for a Mantra to yield the desired effect, the number of repetitions are also prescribed like a hundred times or a thousand times and so on. The number also goes with the counting of the beads in a rosary. The Mantra is recited with each turning of the bead. Now, the rosary has a fixed number of beads which is one hundred and eight. The completion of the turning of the beads a hundred and eight times and the recitation of the Mantra the same number of times, in popular language it is said that one rosary has been completed. If one starts turning the beads again and comes upto the last one, the one hundred and eighth one, it is the second round. And so the rounds go on. The minimum is one round. As for the maximum it could be any number depending upon the resolve and stamina of the person concerned. Sometimes people even when engaging themselves in different activities go on muttering the Mantra to the accompaniment of the counting of the beads. Not unoften they wrap their hand holding the rosary with a piece of cloth,. The counting pf the beads is done with the thumb and the index finger. The rsary is generally of Rudraksa and occasionally, especially in the case of the Vaisnavites, of Tulasi, the basil seeds. Though japa, muttering, silent recitation, can be done any time both the twilights, the morning and the evening, are considered particularly fit for it. Before this one has to take bath or at least ablutions to ensure physical purity. Though there is no fixed time for the japa, the silent recitation which can be carried on even in the night or early hours, for certain riotuals there are prescribed timings. For black magic it is the dead of the night that is considered suitable. For acquiring the special powers from some divine beings, like Yaksis or Dakinisthe performance of the rituals has to be in the cremation ground with all the attendant horrible practices. These rituals can lead to such drastic results as *kolana, stambhana, marana* and *uccatana*,

The practice has developed in India of late of engaging the services of proxies, the Pandits, for carrying on the *japa* of the Mantras in place of the person concerned whose calamity has to be averted or who is to gain something. The Pandits being mercenaries

may not have the heart to concentrate on the silent recitation and it is possible that the Mantras may not yield the result desired by the seekers sowing seeds of doubt in their minds about their efficacy. Even the believers have started dismissing them as mere superstition not going well with the age in which they live. The diseases and ailments are not being treated now by Mantras. The people are taking recourse to modern medicine now. The craze for it so widespread now that the age-old system of Ayurvedic treatment with its herbal preparations, decoctions and elixirs is at a discount now with their practitioners who till recently were found to be in good numbers have become scarce now particularly in westernized metros. The old technique of diagnosing the disease with unbelievable accuracy by just feeling the pulse is now almost a thing of the past, people referring to it in the context of certain old legendary physicians. When this is the situation with regard to the treatment with herbs and so on, one can well imagine what would be the condition with regard to the treatment with the recitation of the Mantras.

Though the situation is pretty disturbing, it is not totally out of control yet. There are people in good numbers still who have faith in the efficacy of the Mantrasthough they have no idea of their application and the ritual going with them. The continuity of Mantric knowledge stands broken. Its revival is a desideratum. But the big question is who will attempt it. Till this is attempted the Mantras will continue to suffer the onslaught of science.

Hon'ble Vice-Chancellor, Prof. N.P. Unni, Prof. George Cardona, Prof. V.N. Jha, Prof. Prahladacharya, Prof. Surendra Mohan Mishra,Prof. Muralimadhavan, Distinguished members of the Faculty of the University, learned members of the audience and young students,

I feel extremely happy to be with you this forenoon at a place hallowed by the birth of one of India's greatest saint-philosophers. I had been here once long back. I find a lot of change here. It is now the site of a University appropriately named after the great saint-philosopher. The University is a premier seat of learning of ancient Indian wisdom

It is so thoughtful of the University to have organized a national Seminar on one of India's foremost playwrights Bhāsa for it was in this region that the well-known savant T. Ganapati Sastry had discovered his plays that he later edited and published from Trivandrum which gave a new name to the plays, they having come to be known popularly as Trivandrum plays. After Ganapati Sastry C.R. Devadhar brought them out from Poona under the title *Bhāsanāṭakacakra*, a term inspired by their reference in their totality by Rājaśekhara in the context of heaping praise on one of them, the *Svapnavāsavadatta*, the fire not having able to burn as they all were thrown into it. Devadhar's edition carried the words in smaller type "plays ascribed to Bhāsa" underneath the main heading of *Bhāsanāṭakacara*. Later some of these plays were published separately by other scholars with translation in English, Hindi and other regional languages. They—all of them, numbering thirteen form a big corpus of Sanskrit dramatic literature. And, if they are taken to be by a single author who as Ganapati Sastry and many others have sought to prove, was no other than Bhāsa reverentially referred to by such celebrities as Kālidāsa, Bāṇa and Rājaśekhara, he is just the only one in the vast galaxy of ancient Sanskrit playwrights who has so much of literary production in the field of drama. And he also perhaps is the only one who stands out in that galaxy in trying his hand at a variety of dramatic compositions. Unlike Kālidāsa, Bhavabhūti and Śrīharṣa who composed their plays only in the more familiar of the dramatic forms like Nāṭaka or Prakaraṇa or Nāṭikā, Bhāsa composed his plays, apart from the much more practiced form of drama, the Nāṭaka, in a couple of the less practiced forms of it as well like Vyāyoga, Samavakāra, Utsṛṣṭikāṅka, Vīthi and Īhāmṛga though scholarly opinion is divided in some cases about the identification of these types among the thirteen of the plays. Again, he is the only one in that galaxy to be bold enough in disregarding tradition in describing the scene of death in one of his plays, the *Ūrubhaṅga*. And finally, he is the only one in that galaxy in depicting much vilified Duryodhana in a better light by introducing the theme of his parting with half of his kingdom and handing it over to the Pāṇḍavas in fulfillment of his word to his teacher Droṇācārya who had asked for the same as his fee, dakṣiṇā, that he, Duryodhana, had insisted on at end of a sacrifice that he had performed on the condition that the latter would make the Pāṇḍavas accessible to him within five nights, the theme of the *Pañcarātra* and by taking up the theme of the breaking of Duryodhana's thigh fraudulently by Bhīma, thus presenting him to be more sinned against than sinning.

As we trace the history of Sanskrit drama our eyes first fall on the *Śāriputraprakaraṇa* and two others discovered from Turfan by Lüders. But then they were fragments.The

(2)

full-fledged plays that come to our notice are the ones called the Trivandrum plays discovered by T. Ganapati Sastry from a chance recovery in the course of his search of manuscripts of a palm-leaf codex in Malayalam that contained ten of the now well-known thirteen of them to which one identified as *Dūtavākya* in a mutilated form was added later to which were added two more, the search continuing. These were attributed by Ganapati Sastry to Bhāsa. This attribution has been challenged by many ~~authorities~~ on many grounds but the consensus has tilted after thorough examinations of arguments for and against of their being those of Bhāsa. The most important of the arguments for their being so is their answering the description by Bāṇa with pun in one of the introductory verses of the Harṣacarita (1.15) ~~Kādambarī~~ of their starting with the Sūtradhāra, the Stage-manager and their having many plots and sub-plots:

Sūtradhārakṛtāsrambhai nāṭakair bahubhūmikaiḥ/
sapatākair yaśo lebhe bhāso devakulair iva//

The plays are compared to temples. The pun is on the word *bhūmi* and *patākā*. Temples have many storeys, *bhūmi* has storey as one of its meanings in addition to plot which goes with the plays. *Patākā* means flag which goes with temples, they being decked with many flags. It also means sub-plot. That goes well with plays. They have a variety of sub-plots.

The plays begin with the appearance of the Sūtradhāra, Stage-manager on the scene with the stage direction *nāndyante tataḥ praviśati sūtradhāraḥ,* with Nāndī over, enters Sūtradhāra while other Sanskrit plays begin with Nandi subsequent to which occurs the expression *nāndyante tataḥ.* But then this is just one of the common factors that unites the plays to be clubbed as those of Bhāsa. There are other powerful factors as well. All these plays have the Bharatavākya with the exception of *Cārudatta* and that Bharatavākya is in the form of the praise of the king *imām api mahīṁ kṛtsnām rājasiṁhaḥ praśāstu naḥ* or *rājā bhūmiṁ praśāstu naḥ.* It is only in the *Madhyamavyāyoga* and the *Dūtaghaṭotkaca* that it is the deity who is praised. Un-pāṇinian ~~Uncommon~~ forms are common to all the plays. So is Patākāsthanaka. Some of the movements of the characters also many of the plays share among themselves. Now, showing of some one sleeping on the stage is frowned upon by analysts. The plays have a number of references to it. With sleep also comes dream. The *Svapnavāsavadatta* derives its name from the sequence of sleep and dream. King Udayana while in conversation with the Vidūṣaka in the Samudragṛhaka goes to sleep which the latter marks *ayi supto 'trabhavān.* Marking this he withdraws. Enters Vāsavadattā, lifts his hand and puts it on the bed. Feeling the touch of her hand and recognizing it to be that of Vāsavadattā, the King still reeling under sleep rushes towards her sowing the seed of suspicion in his mind of her being alive, a clever turn in the story. The sleeping scene is repeated, now in the case of Padmāvatī. Vāsavadattā having come to know that she is unwell comes to enquire after her health. She notices her asleep. Padmāvatī sleeping one side of the bed and the other side being empty Vāsavadattā also feels like sleeping by her side: *ekadeśasaṁvibhāgatayā śayanīyasya sūcayati māṁ aliṅgeti. Yāvat śayiṣye.* In the *Pratijñāyaugandharāyaṇa* information of the illness of the king is imparted through the words of the Naṭī who had seen something like this in dream, *adya svapne mayā ...*

(3)

asvāsthyam iva drstam. The *Avimāraka* has a number of referencres to sleep and dream. When in the inner chamber Māgadhikās wants to tell Kurangī a story, the latter implores her to let her sleep. Later when Māgadhikā tells Nanilikā that it is time for the make-up of the Princess, the latter tells her that it is a dream now, the Prince having gone away. Again, when Avimāraka is about to jump off a cliff to end his life, he notices a Vidyādhara that very much surprises him asking his own self whether he is seeing a dream but then disagreeing with his own inference in that he is not sleeping. The fourth Act of the play shows the Vidūsaka falling asleep overcome with fatigue with his movement in search of Avimāraka. In the *Cārudatta* the Vidūsaka informs the former that sleep is overtaking him. He also advises him to go sleep while he too would do so. In the *Pratimānātaka* the Sūtradhara in the beginning of the second Act is shown enjoying sleep for a while. In the *Bālacarita* Sāpa appears before Kamsa and after telling him that he wants to enter into his heart disappears. Kamsa, not noticing him, wants to have a nap : *yāvad aham api śayanam upagamya nayanavyākṣepam karomi (svipiti).* All this would lead one to think that it is the same attitude that permeates the plays, the attitude of one for whom the showing of sleeping on the stage was not taboo. This is a pointer to the commonness of their authorship. And that common authorship must be that of Bhāsa, his plays sharing among themseloves the characteristics noticed by the great literary figure Bāṇa.

Bhāsa has interspersed his plays with a number of verses and prose lines that can easily go down as excellent Subhāsitas, wise sayings. It is worth its while to compile them in the form of a monograph and bring it out with their translation in English, Hindi and regional languages. It also will be worth its while to sift out from his works scores and scores of typical words and expressions—I have noticed not less than three hundred of them, that need proper explanation and elucidation from the point of view of their structure and meaning.

In spite of all that has been written on the plays, their linguistic and literary evaluation along the most scientific lines is still a desideratum. Also is the desideratum to prepare his bibliography with so much of literature on him already having appeared in print

References to Bhāsa have been galore in India for almost fifteen centuries cutting across regions and States. Apart from Kālidāsa, Bāṇa and Rājaśekhara who have already been mentioned as referring to ~~Kalidasa~~ Bhāsa other writers and critics who have spoken of him or have quoted from his works include Vākpatirāja of Kannauj (8th cen.), Bhoja of Mālava (11th cen.), Vāmana and Abhinavagupta (9th and 11th centuries respectively) of Kashmir, Soḍḍhala (11th cen.) of ancient Koṅkana, Somaprabhasūri of Anhilwāḍ of Gujarat (12th cen.), and Śāradātanaya (13th cen.) of Tamilnadu.

Friends, Bhāsa has still to be evaluated from many angles. I have every hope that scholars assembled here will apply their mind to this evaluation and throw light on those angles that have not attracted as much attention as they should have. ~~There is enough of~~ discussion on the authorship of the plays; the Bhāsa problem as it has come to be known; or their division on the basis of their source material, the *Rāmāyaṇa*, the *Mahābhārata*, the legends or one's own imagination and so on, dramatic technique, the type of Prakrits

used or the unpāṇinian forms figuring in them. It is time now to move on and prepare a review of his expression and poetic compass to draw a picture of a colossus who so vastly occupied the literary space in India for centuries to have his fame spread far and wide, to have been called by a poet like Kālidāsa as *prathitayaśas*. He indisputably carved a rare niche for himself, *yaśo lebhe*.

It is in Kerala that among its Chakyārs Bhāsa's plays became the part and parcel of the repertoire of the professional actors, a tradition that continued for centuries.

It is in the fitness of things, therefore, that it is in Kerala that the Bhāsa Festival is being celebrated.
I wish the Festival all success.

With these words I inaugurate the Festival.

Hon'ble Vice-Chancellor, Prof. N.P. Unni, Prof. George Cardona, Prof. V.N. Jha, Prof. Prahladacharya, Prof. Surendra Mohan Mishra,Prof. Muralimadhavan, Distinguished members of the Faculty of the University, learned members of the audience and young students,

I feel extremely happy to be with you this forenoon at a place hallowed by the birth of one of India's greatest saint-philosophers. I had been here once long back. I find a lot of change here. It is now the site of a University appropriately named after the great saint-philosopher. The University is a premier seat of learning of ancient Indian wisdom

It is so thoughtful of the University to have organized a national Seminar on one of India's foremost playwrights Bhāsa for it was in this region that the well-known savant T. Ganapati Sastry had discovered his plays that he later edited and published from Trivandrum which gave a new name to the plays, they having come to be known popularly as Trivandrum plays. After Ganapati Sastry C.R. Devadhar brought them out from Poona under the title *Bhāsanāṭakacakra*, a term inspired by their reference in their totality by Rājaśekhara in the context of heaping praise on one of them, the *Svapnavāsavadatta* the fire not having able to burn as they all were thrown into it. Devadhar's edition carried the words in smaller type "plays ascribed to Bhāsa" underneath the main heading of *Bhāsanāṭakacara*. Later some of these plays were published separately by other scholars with translation in English, Hindi and other regional languages. They—all of them, numbering thirteen form a big corpus of Sanskrit dramatic literature. And, if they are taken to be by a single author who as Ganapati Sastry and many others have sought to prove, was no other than Bhāsa reverentially referred to by such celebrities as Kālidāsa, Bāṇa and Rājaśekhara, he is just the only one in the vast galaxy of ancient Sanskrit playwrights who has so much of literary production in the field of drama. And he also perhaps is the only one who stands out in that galaxy in trying his hand at a variety of dramatic compositions. Unlike Kālidāsa, Bhavabhūti and Śrīharṣa who composed their plays only in the more familiar of the dramatic forms like Nāṭaka or Prakaraṇa or Nāṭikā, Bhāsa composed his plays, apart from the much more practiced form of drama, the Nāṭaka, in a couple of the less practiced forms of it as well like Vyāyoga, Samavakāra, Utsṛṣṭikāṅka, Vīthi and Īhāmṛga though scholarly opinion is divided in some cases about the identification of these types among the thirteen of the plays. Again, he is the only one in that galaxy to be bold enough in disregarding tradition in describing the scene of death in one of his plays, the *Ūrubhaṅga*. And finally, he is the only one in that galaxy in depicting much vilified Duryodhana in a better light by introducing the theme of his parting with half of his kingdom and handing it over to the Pāṇḍavas in fulfillment of his word to his teacher Droṇācārya who had asked for the same as his fee, dakṣiṇā, that he, Duryodhana, had insisted on at end of a sacrifice that he had performed on the condition that the latter would make the Pāṇḍavas accessible to him within five nights, the theme of the *Pāñcarātra* and by taking up the theme of the breaking of Duryodhana's thigh fraudulently by Bhīma, thus presenting him to be more sinned against than sinning.

As we trace the history of Sanskrit drama our eyes first fall on the *Śāriputraprakaraṇa* and two others discovered from Turfan by Lüders. But then they were fragments.The

full-fledged plays that come to our notice are the ones called the Trivandrum plays discovered by T. Ganapati Sastry from a chance recovery in the course of his search of manuscripts of a palm-leaf codex in Malayalam that contained ten of the now well-known thirteen of them to which one identified as *Dūtavākya* in a mutilated form was added later to which were added two more, the search continuing. These were attributed by Ganapati Sastry to Bhāsa. This attribution has been challenged by many authorities on many grounds but the consensus has tilted after thorough examinations of arguments for and against of their being those of Bhāsa. The most important of the arguments for their being so is their answering the description by Bāna with pun in one of the introductory verses of the Harsacarita (1.15) of their starting with the Sūtradhāra, the Stage-manager and their having many plots and sub-plots:

Sūtradhārakrtāsrambhair nāṭakair bahubhūmikaiḥ/
sapatākair yaśo lebhe bhāso devakulair iva//

The plays are compared to temples. The pun is on the word *bhūmi* and *patākā*. Temples have many storeys, *bhūmi* has storey as one of its meanings in addition to plot which goes with the plays. *Patākā* means flag which goes with temples, they being decked with many flags. It also means sub-plot. That goes well with plays. They have a variety of sub-plots.

The plays begin with the appearance of the Sūtradhāra, Stage-manager on the scene with the stage direction *nāndyante tataḥ praviśati sūtradhāraḥ,* with Nāndī over, enters Sūtradhāra while other Sanskrit plays begin with Nandi subsequent to which occurs the expression *nāndyante tataḥ*. But then this is just one of the common factors that unites the plays to be clubbed as those of Bhāsa. There are other powerful factors as well. All these plays have the Bharatavākya with the exception of *Cārudatta* and that Bharatavākya is in the form of the praise of the king *imām api mahīṁ kṛtsnām rājasiṁhaḥ praśāstu naḥ* or *rājā bhūmiṁ praśāstu naḥ*. It is only in the *Madhyamavyāyoga* and the *Dūtaghaṭotkaca* that it is the deity who is praised. Unpāṇinian forms are common to all the plays. So is Patākāsthanaka. Some of the movements of the characters also many of the plays share among themselves. Now, showing of some one sleeping on the stage is frowned upon by analysts. The plays have a number of references to it. With sleep also comes dream. The *Svapnavāsavadatta* derives its name from the sequence of sleep and dream. King Udayana while in conversation with the Vidūsaka in the Samudraghaka goes to sleep which the latter marks *ayi supto 'trabhavān*. Marking this he withdraws. Enters Vāsavadattā, lifts his hand and puts it on the bed. Feeling the touch of her hand and recognizing it to be that of Vāsavadattā, the King still reeling under sleep rushes towards her sowing the seed of suspicion in his mind of her being alive, a clever turn in the story. The sleeping scene is repeated, now in the case of Padmāvatī. Vāsavadattā having come to know that she is unwell comes to enquire after her health. She notices her asleep. Padmāvatī sleeping one side of the bed and the other side being empty Vāsavadattā also feels like sleeping by her side: *ekadeśasaṁvibhāgatayā śayanīyasya sūcayati māṁ aliṅgeti. Yāvat śayiṣye*. In the *Pratijñāyaugandharāyaṇa* information of the illness of the king is imparted through the words of the Naṭī who had seen something like this in dream, *adya svapne mayā ...*

(3)

asvāsthyam iva drṣṭam. The *Avimāraka* has a number of referencres to sleep and dream. When in the inner chamber Māgadhikāṣ wants to tell Kuraṅgī a story, the latter implores her to let her sleep. Later when Māgadhikā tells Nanilikā that it is time for the make-up of the Princess, the latter tells her that it is a dream now, the Prince having gone away. Again, when Avimāraka is about to jump off a cliff to end his life, he notices a Vidyādhara that very much surprises him asking his own self whether he is seeing a dream but then disagreeing with his own inference in that he is not sleeping. The fourth Act of the play shows the Vidūṣaka falling asleep overcome with fatigue with his movement in search of Avimāraka. In the *Cārudatta* the Vidūṣaka informs the former that sleep is overtaking him. He also advises him to go sleep while he too would do so. In the *Pratimānāṭaka* the Sūtradhara in the beginning of the second Act is shown enjoying sleep for a while. In the *Bālacarita* Śāpa appears before Kaṁsa and after telling him that he wants to enter into his heart disappears. Kaṁsa, not noticing him, wants to have a nap : *yāvad aham api śayanam upagamya nayanavyākṣepaṁ karomi (svipiti).* All this would lead one to think that it is the same attitude that permeates the plays, the attitude of one for whom the showing of sleeping on the stage was not taboo. This is a pointer to the commonness of their authorship. And that common authorship must be that of Bhāsa, his plays sharing among themseloves the characteristics noticed by the great literary figure Bāṇa.

Bhāsa has interspersed his plays with a number of verses and prose lines that can easily go down as excellent Subhāṣitas, wise sayings. It is worth its while to compile them in the form of a monograph and bring it out with their translation in English, Hindi and regional languages. It also will be worth its while to sift out from his works scores and scores of typical words and expressions—I have noticed not less than three hundred of them, that need proper explanation and elucidation from the point of view of their structure and meaning.

In spite of all that has been written on the plays, their linguistic and literary evaluation along the most scientific lines is still a desideratum. Also is the desideratum to prepare his bibliography with so much of literature on him already having appeared in print

References to Bhāsa have been galore in India for almost fifteen centuries cutting across regions and States. Apart from Kālidāsa, Bāṇa and Rājaśekhara who have already been mentioned as referring to ~~Kalidasa~~ Bhāsa other writers and critics who have spoken of him or have quoted from his works include Vākpatirāja of Kannauj (8th cen.), Bhoja of Mālava (11th cen.), Vāmana and Abhinavagupta (9th and 11th centuries respectively) of Kashmir, Soḍḍhala (11th cen.) of ancient Koṅkana, Somaprabhasūri of Anhilkwaṣ of Gujarat (12th cen.), and Śāradātanaya (13th cen.) of Tamilnadu.

Friends, Bhāsa has still to be evaluated from many angles. I have every hope that scholars assembled here will apply their mind to this evaluation and throw light on those angles that have not attracted as much attention as they should have. ~~There is enough of~~ discussion on the authorship of the plays; the Bhāsa problem as it has come to be known; or their division on the basis of their source material, the *Rāmāyaṇa*, the *Mahābhārata*, the legends or one's own imagination and so on, dramatic technique, the type of Prakrits

used or the unpāṇinian forms figuring in them. It is time now to move on and prepare a review of his expression and poetic compass to draw a picture of a colossus who so vastly occupied the literary space in India for centuries to have his fame spread far and wide, to have been called by a poet like Kālidāsa as *prathitayaśas*. He indisputably carved a rare niche for himself, *yaśo lebhe*.

It is in Kerala that among its Chakyārs Bhāsa's plays became the part and parcel of the repertoire of the professional actors, a tradition that continued for centuries.

It is in the fitness of things, therefore, that it is in Kerala that the Bhāsa Festival is being celebrated.
I wish the Festival all success.

With these words I inaugurate the Festival.

Indudūta of Vinayavijayagaṇi

Vinayavijayagaṇi, a Jain poet has composed this work consisting of 131 verses in the Mandākrāntā metre after the usual pattern of the dūtakāvyas. The theme of this work is:

Vinayavijayagaṇi, a native of Dvādaśāvarta, has observed celibacy and is absorbed in meditations in the benign company of his gracious teacher residing at a pilgrim-centre named Yodhapura. After the usual evening prayers the poet is just out to pay his homage at the sacred feet of his Guru but all of a sudden he goes to sleep and enters a dreamland. He looks at the rising moon and entreats him to convey his message to his revered teacher. He praises the high family of the Moon; her pedigree showing her relation with Lakṣmī and other gods. Then he relates the route from Yodhapura to Surat. It is in the last verse only that he states his message. It is a request to the effect that the venerable teacher whom he is worshipping constantly may remain kind and considerate to him so that he may continue to follow his path and gain emancipation.

It is a nice little poem and makes a delightful reading. It is rich in fine figures of speech. The flight of imagination displayed is commendable. The predominant note in it is that of tranquillity and not Karuṇa (Pathos) which is a common characteristic of the dūtakāvyas.

The work was published in the 14th volume in the Kāvyamālā series. The text of the poem is highly corrupt. From an editorial note on page 45, Footnote I, we come to know the reason of it. The editor says that only one manuscript of it could be found and that too was corrupt and broken at many places. It is unfortunate that the editor has done nothing to improve upon the text or to fill in the lacunae, with the result that the verses at many places have lost in clarity of meaning and have become quite unintelligible. Centuries of careless handling of the work has so thoroughly corrupted its text that it becomes impossible many times to arrive at the hypothetical original, however, ingeniously one may try to do it.

The colophon of *Indudūta* says that it is an imitation of *Meghadūta—Meghadūta-chāyā-kāvya*. From this it is clear that the author composed it in imitation of Kālidāsa's *Meghadūta*. But even a cursory perusal of it shows that it is an unsuccessful attempt altogether. Excepting of course the Mandākrāntā metre and a few expressions here and there the work has very little similarity with the original whose imitation it claims to be. The text of the book, as available in the Kāvyamālā series, is broken at many places, and even where it is not, it is highly corrupt. But apart from it, the value of the work as a literary piece is not very high. The poet in keeping with the later poets many times overstretches himself. His language at places suffers from unnecessary paddings, as for example, in verses 27 and 50.

The poem does not have uniformity in style. It suffers from jerks. Generally verses are without a charm but occasionally after a few verses there occurs a flash when

the poet gives us an original Utprekṣā or Upamā, as for example, in verse 24 where he imagines that the moon is pale like a withered leaf because it is separated from its beloved, the night. In the day time the moon is seen to be grey in colour and this greyness the poet imagines to be due to the sorrow that the moon may be feeling on account of being separated from its beloved, the night. Now this is a very happy idea. The poet has used here an *ayonija upamā*. In verse 65, Abhramatī is shown pleased to see her son, the moon. The mushroom growth of reeds on her banks are her hair standing on end, surging waves are her hands raised to clasp her son. Now this is another nice Utprekṣā. At another place the author gives us a nice instance of Hetūtprekṣā (verse 9). Maidens generally are jealous by nature but they feel ashamed when they see other maidens' superior talents. This was precisely the reason why Laṅkā drowned herself in the vast ocean when she saw the glittering beauty of Vātāpādri. The Vasvaukasārā went out of sight and the Bhagavatī concealed herself in Pātāla. The poet is fond of alliteration also, as for example—*pañca pañcān* (verse 22), *māravīṇām navīnām* (V. 64), *vīcihastair udastaiḥ* (V.65), *keli- līlāvilolān* (V.67), *nāvyanīrā gabhīrā* (V. 83) and *kāntāḥ vanāntāḥ* (V.90). He used Yamaka also, e.g., *narmadā narmadormi* in V.83, but in his effort for it he does not pay proper attention to meaning. In the above quotation, for example, the meaning of the word *narma* is taken to be happiness. Narmadā should, therefore, be that (river) whose waves give happiness. but the original meaning of the word Narmadā is *priyālāpā*. That his Yamaka suffers from such a looseness of meaning is illustrated by another example in V.92. It is *sumanaḥ-saṁvitānāṁ latānām*. Here the poet takes the meaning of the word *saṁvitāna* as 'full of' but actually it should mean 'spread out'. Similarly, in verse 112 the author uses the expression *brahmasabrahma* etc. Here the additional *sa* is useless. It should be *brahmābrahmarūpam*. Occasionally the poet writes verses where he uses expressions such as *kāntam ekāntakāntam*, which are of course sweet and suit the occasion. Generally the work suffers from scribal errors besides other discrepancies which are being discussed as under:

In verse 2, line 3, the author says *vinaya-vinataḥ*, i.e. *vinayena vinataḥ*. Both of these have the same sense and either of the two could suffice. It is an example of *adhikapadatva*. In verse 3. line 1, the word *śikara* should be read as *śikhara*. The word *śikara* gives no sense, nor can the word *śīkara* be supposed here for that would infringe the metre. In the last line the author has mentioned *pañcakūṭa* mountain afterwards but the pronoun *yatra* preceding it in the second line creates a doubt and is an example of *Vidheyāvimarśadoṣa*, i.e. non-discrimination of the predicate.

Again in verse 5, line 1, *krīḍopavanapadavī* should be separate from *krīḍatām*. In the text it is jumbled up and obscures the sense. In separating the two the prose order becomes clear. *Krīḍopavanapadavī* is the agent (*Kartā*) and is connected with the verb *āviṣkaroti*. The *vātoddhūta* ....etc. are the winds compared with the symphony of the citizens which cause the peacocks to dance. This has been mentioned

together with the humming of the black bees. The correct formation would have been *dhvanadvāditrahṛdyān nṛtyatkekiprakarasubhagān.*

In verse 9, line 1, in *purama*, the syllable *pu* should be read as *pa*. This should be *parama* as that alone makes sense. The reading in the text *puramagurudhyānasandhānalīnasvāntaḥ* is also otherwise faulty, *sandhāna* being redundent. Again in the second line in *kāntaṁ tam iti rajaneḥ* the author has used *iti* between *kāntam* and *rajaneḥ* which splits both the words and is, therefore, misplaced. Viśvanātha, the author of the *Sāhityadarpaṇa* has given a list of such usages and syntactical irregularities in his work.

In the first line in *dṛṣtvā cainam* in V. 9 the author uses the pronoun *enam* (accusative from *etad*) which is followed by *tam* in the second line. Here the pronoun *adas* (*amum*) should have been used; otherwise, it is also a case of *Bhagnaprakramatā.*

The word *sadyaḥ* and *drāk* in the second hemistich of the same verse are synonyms; any one of the two would have been sufficient.

In verse 16, line 4, the first syllable is missing, it is... *totpatu*. It may be *cintotpattau* meaning 'on the rise of anxiety'. In line 3 of the same verse *cittavṛttīṁ* should be read as *cittavṛttiḥ*, it being the subject. It should be in the nominative and not in the accusative case.

In verse 18, line 4, the word *prāṇyāḥ* should be changed into *prāṇinaḥ*. But it would infringe the metre. If it remains *prānyaḥ*, it would be grammatically wrong. The better reading may be *prāyaḥ santaḥ*...etc.

In verse 20, line 3, the particle *ca* after *aśvam* is unnecessary for, *ca* is a conjunctive particle. There is nothing which it may conjoin or connect.

Similarly, in verse 21, line 1, the *ca* after *kautukī* is useless as it connects *yautake* with *kautukī* which makes no sense. If we replace it by the word *san* the sense will be clearer.

In verse 24, line 1, the word *varghayati* should be *vardhayati*. This is evidently a scribal error or a printing mistake.

In verse 28, line 3, *jagadvyāpi* should be combined with *sauryapratāpaḥ* to make the sense clear. It is this which pervades the whole universe.

In verse 33, line 2, the word *indindira* is used in the sense of a large bee, which is very rare.

In verse 34, line 2, *kṛidāvāpī* should be joined with *savanasa- rasaiḥ* to make the sense clear. It would mean the winds which have become cool with a bath in the pleasure-lake. In line 4, of the same verse *stāt* should be read as *syāt*. It is evidently a mistake.

In verse 35, line 1, the reading *antimajinavarāḥ* is wrong. If we connect it with *Yama*... etc. then too it makes no sense. In case we read it as *Jinavarān* it will qualify the *prāsādān* in the second line. The sense will thus become a bit clearer.

In verse 37, line 2, *visarga* should be added to the word *vimānā*. It is the plural of the word *vimāna* that is meant here and not the feminine of the word *vimānā* meaning *vigato māno yasyāḥ*.

In verse 38, line 3, the word *kṛti* in *abhisṛtikṛtikṛtām* is superfluous. The editor has put an asterisk mark here. The expression appears to him to be quite puzzling. We can suggest here a conjectural emendation. According to us the whole line may be recast as *vighno yat syād abhisṛtikṛtām yoṣitāṁ ca tvadīyaiḥ*. There does not remain any superfluous word then.

In the final line of the same verse *dūranirvāsite* should be *dūranirvāsitaḥ* and *syāt* should be *syāḥ*. This emendation would eminently suit the context.

In verse 40, line 3, the reading *kṣaṇam iyam api* should be changed into *kṣaṇam ayam api* for, it is connected with *parisara*, which is in the masculine. *Prekṣaṇīya* should be read as *prekṣaṇīyaḥ*. In the extant reading the masculine *parisara* is followed by a pronoun in the feminine which is evidently wrong.

In verse 42, line 1, *vicariṣyaty avaśyam* should be read as *vicariṣyasy avaśyam* as it is connected with *tvam*.

In verse 43, line 2, *kāryasiddhe nidānam* should be *kārya-siddher nidānam* as it is in construction with the word *vacanam*. If it has to be justified—*sthitasya gatiś cintanīyā*, it may be taken as a vocative and may be dissolved as *svīkṛtanijasuhṛdaḥ kāryasya siddhir yena sa svīkṛtanijasuhṛtkāryasiddhiḥ,* i.e. who has taken the responsibility for the success of his dear friend.

In verse 45, line 4, *udghātanaiḥ* should be read as *udghāṭanaiḥ*. Or it may be author's own reading in the sense of *utkṣepaṇa*.

In verse 49, line 3, the word *vaya* seems to have confounded the editor; for, he has put a question mark after that. *Vaya* is *varya*. The top mark for '*r*' might have been omitted in the original manuscript. This conjecture also gets support from the close proximity of *varya* with *vaidūrya*. Here the author seems to be aiming at a nice alliterative effect.

In verse 51, line 4, *svam* should be *sva*. Again, the word *bahalavidapi* should be replaced by the word *bahalaviṭapi*. Here *da* for *ṭa* may be a scribal error or a printing mistake.

In verse 52, line 3, the text is broken. If we supply the word *khara*, the lacuna can be filled up. This is supported by the context also. After the dots indicating the break in the text we have the word *karaḥ*. Before the dots we have *uṣṇāṁsor api*. If *khara* is supplied we would have the complete expression *uṣṇāṁsor api kharatarakarāḥ* meaning 'scorching rays of the sun.' This will also be in keeping with the author's love for alliteration which is so evident in the work.

In verse 55, line 2, the author has used the word *ripusurajitā*. Due to scribal error or some other reason the order of the words has been inverted. The reading should have been *surararipujitā*.

In verse 57, line 1, *eṣām* should be *asya* for, according to context it refers to the

moon. *Eṣām* cannot refer to *prāsādānām* in the previous verse, for, pronouns refer to words which are used in close proximity to them: *sarvanāmnāṁ sannihita-parāmarśitvam*. Now, even if this *nyāya* is not taken into consideration or its application in all cases is not conceded, the word *eṣām* cannot be connected with *prāsādānām* in the previous verse, for, there the complete expression is *prāsādānāṁ trikam* which is in the singular. *Eṣām*, therefore, is indefensible. It should be definitely replaced by *asya*. Although grammatically this emendation may be right yet it cannot be easily fitted into the metre for the final syllable then will remain short, *laghu*, which in the first *pāda* is generally considered to be a fault.

In verse 58, line 3, the editor has put a question mark after the word *kaṭukamatinām*. The word *kaṭuka* of course confuses one on account of its being used in a less known sense and again on account of its close resemblance with the word *kaṭu* meaning 'sour'. Here, however, the word does not mean 'sour'. It means 'pungent', 'sharp'. *Kaṭukamatinā*, therefore, means 'by the sharpwitted'.

In verse 60, line 2 breaks after the word *gantum ūrdhvam*. The lacuna may be filled by supplying the word *sudūram*, meaning thereby that the palace intends to go very high in the sky.

In verse 61, line 1 is found broken after *adri*. The lacuna may be filled by supplying the word *dṛḍhām* as it is connected with the word *puṣṭim*. The *anvaya* will then be *etāḥ dṛḍhāṁ puṣṭiṁ dadhatu*. The expression agrees perfectly with the sense. In line 3 of the same verse *sya* may be added to *auṣadhīśa* to fill up the lacuna.

In verse 62, line 2, *mithyānubhāvām* should be *mithyānubhāvā* for, it is conected with *tīrtharājī*, which is in the nominative singular. The whole of the second line is a compound qualifying the word *tīrtharājī* of the first line.

In verse 63, line 2, the word *dṛṣṭā* should be changed into *draṣṭā* for, it is connected with the word *janaḥ*. There is no other word with which it can be connected. *Dṛṣṭā* is evidently a scribal error for *draṣṭā*.

In verse 67, line 1 is broken after *akhila* and the next word after the break is *rajanān*. If we supply the syllable *pu* to fill up the lacuna, the expression will be *prīṇāty eṣākhilapurajanān* meaning that it pleases all the inhabitants of the city by giving them its pure water. In line 4 of the same verse the reading *neyagādānagaryāḥ* is puzzling. The editor also has put a question mark there. Even in spite of our very best efforts it has not been possible to hit upon the correct reading in this case. The word *punīte* in line 3 of the same verse should be read as *punītaiḥ* as it is connected with *vīcīhastaiḥ* in the instrumental plural.

In verse 68, line 3, the word *upanayaiḥ* should be changed to *upanayeḥ*, otherwise, the sentence would be left without a verb and the meaning would also suffer. The author wants to say 'do not trouble the separated persons with your unbearably sharp rays' and for this purpose the construction should be *pādaiḥ mā sma upanayeḥ*. In the same line the word *prasahyaiḥ*, which from the text as handed down to us appears

to be connected with *upanayaiḥ*, is nothing but a scribal error. It ought to be *asahyaiḥ*.

In verse 74, line 3, the text is broken towards the beginning. If we supply *gra* to fill up the lacuna the complete word will be *grāmaikaikam* meaning 'each and every village'. This very well fits in the context and makes the sense prefectly clear.

In verse 75, line 1, again the text is broken. If we supply the syllable *gu* the complete word will be *pratipadagurūn* which will fit in well with the context.

In verse 79, line 1, *śamanakakubhiḥ* should be changed into *śamanakakubham* for that alone makes sense. The sentence is *tasmād draṅgāc chamanakakubham prasthitasyāntarā te*, when you go to the southern direction from that city. Not only should the instrumental case be avoided with the word *kakubh* when it is connected with the word *prasthitasya*, the plural in *śamanakakubhiḥ* also is unjustified for, Śamana's or Yama's quarter is one and not many. The correct instrumental plural would, however, be *kakubbhiḥ* which militates against the metre.

In verse 82, line 1, *prauḍhadurgām* which qualifies *Bhṛgupuram* should evidently be *prauḍhadurgam*.

In verse 88, line 4, the word *nejaḍopi* should be changed into *no jaḍopi* for, that only makes sense. The whole line would then be *pitroḥ paśyan ka iha surataṁ lajjate no jaḍopī* meaning 'what fool in this world would not be ashamed when he sees his parent sexually united?'

In verse 91, line 4, the reading is altogether missing. We may conjecturally reconstruct it as; *preṅkhacchākhām anilatara-locchūnabhaṅgībhir urvīm'*.

In verse 92, line 2, the reading is *vividhasumanaḥ saṁvitānāṁ latānām*. Here, the word *saṁvitānām* is a big problem. If it is taken to be in the sense of a canopy of flowers a great difficulty would arise for, in the genitive plural the form would be *saṁvitānānām*. If the word *saṁvīta* in the sense of 'surrounded by' or 'full of' is taken then the metre would be infringed. The only alternative left to us is to suggest such a word in place of it as may not be far removed from the form of the present word and at the same time may yield an appropriate sense. *Saṁcitānām* is one such word. The complete reading then would be *vividhasumanaḥsaṁcitānām latānām* meaning 'creepers laden with a large variety of flowers'. This is a case of confusion of *ca* and *va*, which are so similar in form.

In verse 95, line 3, *nihitā meru* should be changed into *nihito meru*.

In verse 96 line 1, the word *nīlacchāyām* should be *nīlacchāyam* for, it qualifies the word *puram*. In the second line a similar word is used *śubhracchāyam*. This is perfectly correct. In line 3 of the same verse the word *piṅge* should be changed into *piṅgaiḥ* for, it qualifies *ikṣudaṇḍaiḥ*. The reading evidently should have been *piṅgaiś caṅgaiḥ* meaning 'yellow coloured (i.e. ripened)' and of a superior quality. *Caṅga* is a Prakrit word. It may be that the poet originally read *piṅgair aṅgaiḥ*.

In the second line *vismṛtaiḥ* should be changed into *vistṛtaiḥ* as that alone makes sense.

In verse 97, line 3 is broken. The particle *su* would serve well to fill up the lacuna. The word then will be *surajaḥ*.

In verse 98, line 4, the word *kṣaudre* is confusing. The word *kṣaudra* means honey. Here, it has the unusual sense of *kṣudraiḥ kṛtaḥ*, 'performed by the mean'.

In verse 103, line 1, the text breaks after *cārtha pau*. If we add *rān* to *pau* we would have the complete reading *cārthapaurān*. In *cārtha* the '*r*' is superfluous. The proper word should be *cātha*. It means 'and also'. The meaning of the whole line would now be as follows: You will see the people mounted on elephants, horses, and also the other citizens. The emended text thus suits the context eminently.

In verse 105, line 2 *Sudharmyā* of Indra is mentioned. It should be changed to *Sudharmā* for, that is the word for an assembly hall of the gods. *Sudharmyā* is, therefore, incorrect.

In verse 106, line 2, the *sakhayati* is probably a mis-print for *sukhayati*.

In verse 107, line 4, the *anusvāra* should be added to the word *lakṣmī* for, it is to be connected with the word *nidadhataḥ*. In verse 110, line 1, the word *kaṭhiṇa* is evidently wrong. It should be *kaṭhina*. The third line of the same verse is broken. The lacuna may be filled up by adding *śyā* to *mā* meaning 'light blue coloured'. The word *dyati* is evidently a mis-print for *dyuti*. Line 4, of the same verse is again broken in the end after *bahi*. The lacuna may be filled up by adding *śca*.

In verse 111, line 1, the word *asiti* should be read as *asita* for, there is no word *asiti* as such. It qualifies the word *śmaśru*. The meaning is 'dark moustaches'. In the same line the *kūrcāṅkurodyān* is evidently wrong. It should be °*rādyān*. In the same verse lines 3 to 4, are *vaidrumīm akṣamālāṁ rāgaṁ prāptāṁ iva guruguṇair ghūrṇamānāṁ ca citre*. Here, the word should be *citram*; the garland of pearl-beads cannot evidently rotate in an image. Or *citre* may go with *aṅke* in the next verse.

In line 3 of verse 113, *arhan* should be *arhān* for, it is connected with the world *lokān*.

In verse 115, line 1, in the word *namad asumatām* the genitive is used for the dative, which runs counter to Sanskrit usage.

In verse 117, line 1, the word *jāpa* has been used. It is a solecism. The correct form is *japa*. In verse 120, line 4, the word *sampadi* should be *saṁsadi*. The construction of the sentence would then be *surāṇāṁ saṁsadi indram* etc.

In verse 130, line 2, the word *manāstvena* should be *manastvena*. In the same verse line 3, the text is broken after *sampraty ahani*. After this word there is only one letter *śi*. Possibly *ni* is missing. The original reading might have been *sampraty ahani niśi vā*. It is logical that *niśi* should follow *ahani*.

Finally, it may be remarked that inspite of our very best efforts, there is still one verse where a reading is enigmatic. In verse 99, line 3, the reading is *kutrāpyādyādyaraka janitāḥ*. It is a puzzle. The editor has also put a question mark here.

Jaina Meghadūta of Merutuṅga

Most of the dūtakāvyas are unfortunately not dated. This Jaina work, however, is different. It gives welcome information about its date. The author of this poem, Merutuṅga, was born in a village known as Nani in the year 1403 Vikrama era, i.e. 1346 A.D. His original name was Vāstīka. He was a great scholar of Sanskrit and Prakrit. He died at the age of 68.

This poem contains 196 verses in all the four cantos. In it the poet has given a description of Neminātha who becomes a recluse. His beloved wife sends him a message inquiring after the condition of the bereaved family.

The work was published by the Jain Atmanand Sabha of Bhavanagar. It appears as Vol. 76 of the said Sabha's publications. It carries a Sanskrit commentary on it by one Śīlaratna which has been edited by Muni Chaturavijava. It was printed at Nirnaya Sagar Press, Bombay, in 1924.

It is apiece with the Dūtakāvyas written on the model of Kālidāsa's lyric, the *Meghadūta.* Merutuṅga is not the only Jain writer to make an attempt like this. There are many others like him. The Dūtakāvyas written by other Jain writers are: *Śīladūta* by Cāritrasundaragaṇi, *Pārśvābhyudaya* by Jinasena, *Candradūta* by Meghavijaya, *Indudūta* by Vinayavijayagaṇi, besides *Manodūta* and *Cetodūta* by anonymous writers. While most of the other Dūtakāvyas by Jain writers are written on the *samasyāpūrti* style, three lines of the respective author's composition joined on to the fourth line from the *Meghadūta* of Kālidāsa, the *Jaina Meghadūta* is an independent composition. Divided into four cantos it deals with the life of Neminātha when he was a child as also his acts of valour (Canto I), then the season of spring and Neminātha's sports in it (Canto II), next is described Neminātha's marriage and his renunciation of the householder life (Canto III). After this is taken up for description the love-lorn condition of Rājīmatī, Neminātha's wife (Canto IV), who having spotted a cloud in the sky wants to send her message to her beloved husband to woo him back to her (Canto IV, verses 14-37). The friends of Rājīmatī coming to know of this console her and tell her that however she may try her husband who has renounced the world would develop no longing for her. The words also have their effect on her. She no longer feels sad and forsaken. She goes to her husband and gets initiation from him. Like her husband she too secures freedom from worldly attachments and attains self-realization.

Now, a word about the author of the poem: Merutuṅga. Jain history knows two Ācāryas of this name of whom one is known to have some writing work to his credit. One, Merutuṅga, the pupil of Candraprabha, the second Merutuṅga of Añcalagaccha, the pupil of Mahendraprabhasūri. It is the latter who is the author of the present poem. He was born of Naladevī, wife of Vairasiṁha Porwal of the village Nani in the District of Marwar in Rajasthan in Saṁvat 1403. His original name was Vāstīka. Once Mahendraprabhasūri of Añcalagaccha happened to visit Nani in the course of his

wanderings. Vāstīka got the *Dīkṣā* from him. After *Dīkṣā* he came to be known as Merutuṅga. In Saṁvat 1426 he got the title of Sūri at Patan and in Saṁvat 1445 the title of Gacchanāyaka. He died in Saṁvat 1471 at the age of 68. He spent his long life in social service. In between he also managed to devote himself to literary activity. Including the *Jaina Meghadūta* he is known to have written eight works:

(*i*) *Saptaikabhāṣyaṭīkā*
(*ii*) *Laghuśatapadī*
(*iii*) *Dhātupārāyaṇa*
(*iv*) *Śaḍddarśanasamuccaya*
(*v*) *Bālabodhavyākaraṇa*
(*vi*) a commentary on *Bālabodhavyākaraṇa*
(*viii*) *Sūrimantrakalpasāroddhāra*

Besides these *Jitakalpasāra* and *Ṛṣimaṇḍala* etc. are certain other works which too are ascribed to Merutuṅga but whether that Merutuṅga is identical with our author, cannot be proved with any amount of certainty.

The *Jaina Meghadūta* with its 196 verses lacks the spontaneous flow and charm of the *Meghadūta* of Kālidāsa after which it is modelled. The work has a large number of little known words or well-known words used in uncommon meanings. These words have been culled from it and listed below. A collection of these words is obviously very useful for the study of Sanskrit vocabulary. Not only peculiar words, the author not unoften goes in the course of his poem for recondite formations or laboured constructions. Perhaps this was due to the effect of the age in which he was living when poets and writers delighted in the use of obscure forms which would exhibit their knowledge of lexicography and grammar.

An enumeration of the recondite forms would no doubt be interesting but certainly outside the purview of the present study. Hence we restrict ourselves to the enumeration of the little known words or well-known words in little known senses only.

Adharā - A lady with a low voice (Hīnavādinī), II, 27.
Anantā - The earth, I, 42.
Anabhyāśamityā - (fem.) Not fit to be approached.
Anāśrava - faultless. (Monier Williams notes its use in A.V.II.3.2. in the sense of not causing pain) II, 38.
Aṅkūra - Hair, II, 10.
Aṅkepāli - Embrace, I. 49.
Aparā - The hind quarter of an elephant, III. 32.
Apācī - The Southern quarter, II, 13.
Āsyā - State of rest, I. 16.
Uccaṇḍa - Hanging down, II. 7.

wanderings. Vāstīka got the *Dīkṣā* from him. After *Dīkṣā* he came to be known as Merutuṅga. In Saṁvat 1426 he got the title of Sūri at Patan and in Saṁvat 1445 the title of Gacchanāyaka. He died in Saṁvat 1471 at the age of 68. He spent his long life in social service. In between he also managed to devote himself to literary activity. Including the *Jaina Meghadūta* he is known to have written eight works:

(*i*) *Saptaikabhāṣyaṭīkā*
(*ii*) *Laghuśatapadī*
(*iii*) *Dhātupārāyaṇa*
(*iv*) *Śaḍddarśanasamuccaya*
(*v*) *Bālabodhavyākaraṇa*
(*vi*) a commentary on *Bālabodhavyākaraṇa*
(*viii*) *Sūrimantrakalpasāroddhāra*

Besides these *Jitakalpasāra* and *Ṛṣimaṇḍala* etc. are certain other works which too are ascribed to Merutuṅga but whether that Merutuṅga is identical with our author, cannot be proved with any amount of certainty.

The *Jaina Meghadūta* with its 196 verses lacks the spontaneous flow and charm of the *Meghadūta* of Kālidāsa after which it is modelled. The work has a large number of little known words or well-known words used in uncommon meanings. These words have been culled from it and listed below. A collection of these words is obviously very useful for the study of Sanskrit vocabulary. Not only peculiar words, the author not unoften goes in the course of his poem for recondite formations or laboured constructions. Perhaps this was due to the effect of the age in which he was living when poets and writers delighted in the use of obscure forms which would exhibit their knowledge of lexicography and grammar.

An enumeration of the recondite forms would no doubt be interesting but certainly outside the purview of the present study. Hence we restrict ourselves to the enumeration of the little known words or well-known words in little known senses only.

Adharā - A lady with a low voice (Hīnavādinī), II, 27.
Anantā - The earth, I, 42.
Anabhyāśamityā - (fem.) Not fit to be approached.
Anāśrava - faultless. (Monier Williams notes its use in A.V.II.3.2. in the sense of not causing pain) II, 38.
Aṅkūra - Hair, II, 10.
Aṅkepāli - Embrace, I. 49.
Aparā - The hind quarter of an elephant, III. 32.
Apācī - The Southern quarter, II, 13.
Āsyā - State of rest, I. 16.
Uccaṇḍa - Hanging down, II. 7.

Udvaha - Son, III. 24.
Upayati - Marriage, I. 31.
Urasa (N) - Chief, main, III. 20.
Ullalana - (from *ud-lal*) Sports, II.44.
Ulūla (dhvani) - The white(laughter),III. 28.
Ulloca - An awning, a canopy, III. 26.
Kaṭīra - Waist, II. 21.
Kamana - Brahmā, I. 26.
Karṣū - (i) A ditch of live charcoal.
(ii) A river, IV. 29.
Kāṣṭhā - A deed or action (*kriyā*), II. 30.
Kīla - Flame, lambent flame, III, 18.
Kūkada - (Wrongly written for kukuda) one who gives a girl in marriage with due ceremony and suitable decoration; father-in-law IV. 18.
Kṣattā - A gate-keeper, a guard, I. 33.
Kṣīrakaṇṭha - A youngling, an infant, I. 31.
Kṣaireyī - A dish prepared with milk, IV. 15.
Khaṭī-(patra) - Chalk, I. 26.
Kharu - One who is in love with improper or prohibited things only, II. 25.
Garja - An elephant, II. 38.
Garbhaka - Two nights *(rajanīyuga)*, II. 41.
Gātra - The hind quarter of an elephant, II. 40.
Guccha - A tree, I. 37.
Gūḍhamārga - Mind, II. 18.
Gundala - The sound of a small oblong drum (viz., Mardala), II. 44.
Gopati (lit.) - Earth-lord, a king, II. 33.
Gohira - Heel, I. 47.
Cari - An animal. III, 47-48.
Cāra - A secret place *(Gupti-gṛha)*, III. 44.
Jarṇa - A tree. II. 10.
Talinatā - Meagreness, slenderness, contraction, II. 31.
Tāra - Charming, II. 20.
Tārkṣyalakṣmā - Kṛṣṇa, II. 12.
Tūru - A musical instrument, II. 36.
Tryūṣaṇa - (Trikaṭu) Ginger, long pepper, small pepper, IV. 29.
Diṣṭa - Time, II. 1.
Dharma - A bow, II.10.
Nagna - A bard (accompanying an army), II. 6.

Nandimukhī	-	Sleep, II. 25.
Nandyāvarta	-	A tree, III. 5.
Nāḍī	-	A measure of time, half Muhūrta, II. 41.
Nandi	-	*(Dvādaśavidhatūryanirghoṣa),* A sound of twelve kinds of wind pipes, III. 36.
Niṣka	-	Gold, II. 3.
Nodya	-	Wonder, II. 31.
Pakṣin	-	A day with two nights enclosing it, II. 41.
Patrapāla	-	A long knife, a dagger, II. 8.
Pākima	-	Matured, ripened, II. 38.
Pītala	-	Yellow, II. 38.
Pīlu	-	An elephant, IV. 18.
Puṇḍarika	-	An umbrella, III. 33.
Puruha	-	Much, ample, profuse, I. 22.
Peñjūṣa	-	Ear, III. 37.
Pauraka	-	A garden in the neighbourhood of a city or round a house, II. 9.
Praṇāyya	-	Desireless, disapproved or rejected, III. 11.
Pratigha	-	Anger, wrath, III.14.
Babhru	-	Kṛṣṇa, II. 38.
Barkara	-	Sport, II. 12.
Mattālamba	-	A window, III. 37.
Mudira	-	Cloud, II. 26.
Meghapuṣpa	-	Water(of the cloud), III. 2.
Moca	-	The plantain tree, II. 3.
Yāpyayāna	-	Palanquin, litter, IV. 3.
Vana	-	Dry, II. 38.
Varṇa	-	The variegated cloth serving as elephant's quarters, II. 3.
Valaja (neuter)	-	Gate, city-gate, III. 40.
Vaśā	-	A woman, an elephant, II. 40.
Vasati	-	Night, IV. 9.
Vindu	-	Acquainted, knowing, II. 20.
Viśvā	-	The earth, III. 7.
Vyuṣṭa (Neuter)	-	Day-break, II. 26.
Śampā	-	Lightning, III. 26.61.
Śampā (kṛtya)	-	Levelling, IV. 10.
Sattra	-	A wood, forest, IV. 17.
Saṁjñu	-	Knock-kneed, I. 32.
Sic (fem.)	-	A garment, III. 4.
Sītya	-	Corn or grain, III. 29.

Sumaśara	-	Cupid, III. 36.
Sūrata	-	Compassionate, kind, IV. 27.
Snātra	-	Bath, I, 18.
Stricelī	-	A vicious or infamous lady or an unfortunate woman, II. 24.
Sthāman	-	Strengh, I. 22.
Hari	-	Wind, I. 20.

ALL INDIA ORIENTAL CONFERENCE

44th Session

ADDRESS

Of

SĀRASVATA ATITHI

Mahamahopadhyaya

Prof. Dr. Satya Vrat Shastri

Kurukshetra University

Kurukshetra

प्रारम्भिकपद्यानि

शुक्लाम्बरधरां शुक्लां वीणापुस्तकधारिणीम्।
भक्तक्षेमङ्करां नित्यं वाग्देवीं प्रणमाम्यहम्॥१॥

विश्वेशं सच्चिदानन्दं वन्देऽहं योऽखिलं जगत्।
चरीकर्ति बरीभर्ति सञ्जरीहर्ति लीलया॥२॥

तीर्थे कुरुक्षेत्रमिति प्रसिद्धे
सम्मेलनं प्राच्यविदां बुधानाम्।
इदं समायोजितमित्यतोऽहं
हर्षस्य कोटिं परमां गतोऽस्मि॥३॥

सत्स्वप्यनेकेषु सुविश्रुतेषु
तीर्थेषु राजानति तीर्थमेतत्।
नक्षत्रताराग्रहसङ्कुलाऽपि
ज्योतिष्मती चन्द्रमसैव रात्रिः॥४॥

नाना स्थलेभ्यः समुपेयिवांसो
ज्ञानप्रभोद्भासितदिग्दिगन्ताः।
प्राचामपाचां विदुषां सुवाचा-
माचामका धन्यतमा भवन्तः॥५॥

परस्परं ज्ञानविपर्ययेण
कल्पेत भूयान् विषयावबोधः।
योऽलं भवेद् ज्ञानविवर्धनाय
वयं यदर्थं समुपागताः स्मः॥६॥

इत्येतदुक्त्वा सुरवाक्प्रियोऽपि
सुखाय तज्ज्ञानविवर्जितानाम्।
गीर्वाणवाणीं परिहाय पुण्यां
वाचाऽऽङ्ग्लानां स्ववचो वदामि॥७॥

Hon'ble Prime Minister of India, Hon'ble Chief Minister of Haryana, Hon'ble Vice-Chancellor, Prof. Satish Jha, Prof. Shuk Deva Sharma, Prof. Ranvir Singh, Prof. Bhim Singh, Members of the Executive Committee of the Oriental Conference, Members of the Faculty and the Alumni of the Kurukshetra University, Fellow Delegates and Distinguished Invitees,

It is a great pleasure for me to be present on the occasion of the inauguration of the 44th Session of the All India Oriental Conference, the premier representative body of Orientalists of India. It is a matter of further pleasure that the Session is being held at Kurukshetra where I had spent the early period of my life. It was on 2nd November, 1957 that I had joined the Kurukshetra University as Senior Lecturer shortly after its coming into being. Sanskrit Department was the first to have been set up here and I was the first one to join it. I am, therefore, the first teacher of this University, a fact that I always cherish. I am grateful to God Almighty that He allowed me to see for myself the progress of this University. There may not be many who have the opportunity to witness the growth of the institution which they had once been part of from its inception to the completion of its fifty years. With the humble beginning of some twenty students and five teachers the University has grown into an institution of seven thousand three hundred and forty six students and about five hundred teachers. I am a witness to its progress both in numbers and stature. It is at present one of the premier educational institutions of India.

Kurukshetra is a place which has a halo going with it. It was here that Lord Kṛṣṇa had delivered the sermon to Arjuna in the battlefield when he was stricken with debilitating depression on noticing his kith and kin arrayed against him in a fight to the finish. The sermon is now a part of the world heritage. It has galvanized countless millions as it had done earlier the doughty warrior fallen in low spirits.

It may come as surprise to most of us, especially of the younger generation, that the Kurukshetra University originally was conceived as a Sanskrit University, the *reason d' etra* of its being set up here, it being a place associated with the

Bhagavadgītā that starts with its mention as a holy place , *dharma-kshetra*, to silence the critics who were averse to the setting up of an educational institution of the stature of a University at a place like Kurukshetra which lacked the infrastructure and the feeder institutions which places like Rohtak and Ambala had and had, therefore, a better case for the setting up of a University. I very vividly remember the meeting held in the assembly hall of the Birla temple at Kurukshetra –I was present in the meeting—in the evening of the very day of the laying of the foundation of the University under the chairmanship of Dr. K.M. Munshi, the then President of the Vishva Sanskrit Parishad. The meeting had passed a resolution felicitating the Govt. for setting up a Sanskrit University at Kurukshetra. This idea of the Sanskrit University, it seems, got lost somewhere on the way. We now have in its place a multi-faculty University, like others of the kind in the country. It will be in the fitness of things if the University were to accord Sanskrit the stature of its major discipline –that is the minimum expected of it– to honour the noble intent of its founding fathers.

मोदन्वत्सट्ठिकायां श्रीहरमुकुट
पर्वतप्रान्ते ।ईशासं° १९८२।३।१९

श्रीसरस्वतीप्रसादपात्रीभूतसर्व
सद्विद्वज्जनगुणभूषितश्रीपण्डित
नित्यानन्दशास्त्रिमङ्गलाभिधाय:
डाक्टर. म° औरेल्. स्टैनस्य सवि
नयपूर्वकां स्वस्तिवादभरितामियं
विज्ञप्तिं दृग्गोचरीकुर्यात् ॥

भवद्धस्तकमलचित्रितां
वर्धापनवादसूचकां सौशील्य
मैत्र्यसंबन्धप्रबोधकां पत्रिकां दृष्ट्वा
मया महां संतोषोऽनुभूतः॥ तत्कर
णीभूतस्य भवदादरस्याहं संयक्
कृतज्ञोऽस्मि । इति निश्चयो धार्य:॥

उत्तरदानविलम्बस्य स एकाकी
हेतुर्यन्मया कार्यबाहुल्यभरितेन
बहूनां मित्रलिखितपत्राणां प्रवाह
वशादेतेषु दिवसेष्वधिकश्रमोऽनु-
गतः॥

यद्भवता मीसैन् साद्विनाय-
स्वपुस्तकं प्रेषितं तस्य तु योग्य
फलमवश्यं प्रादुर्भविष्यतीति
न संशयः॥ तेनच मया च समकाले
राजाधिराजप्रसादात्सममपदवी
समवाप्ता॥ भवदर्थं श्रीवोमेल-
साद्विनेनापि पत्रद्वारेण स्वस्ति
वादो विशिष्टः एव प्रेषितः॥

भवच्छ्रमं सदैव सफलीकुर्यात्
स्वास्थ्यं च प्रदद्याच्छ्रीशारदा॥

म० आरेल, स्टैन:॥

श्री विद्वद्गणशिरोमणि सर्वसद्गुणालंकृत श्रीमहापण्डित
नित्यानन्दशास्त्रिणे सिर् औरेल् स्टैनाभिधः
समग्रादरभरित स्वस्तिवादं पुरःकृत्येममर्थं निवेदयति॥
महानेव मदीयः संतोषोऽभूदनुगत्य मन्मित्रवराश्री
विन्टेर्निस् साहिबवर्यद्भवता महाभारतग्रन्थानाम्
न्वेषणविषये साहाय्यविधानं सम्यगङ्गीकृतम्॥
संपूर्णा मदीयाशा वर्तते यद्भवद्भ्रमसाफल्यमपि
तस्मिं विषये संभूतमेव श्रीशारदानुकम्पेन॥
द्वित्रिदिवसेषु तस्य विद्वद्वरस्य प्रत्यागमः श्रीप्रवरपुरे
संभविष्यति। तदाहं भवद्धस्तकमलाद्यादेशं प्राप्य
पुस्तकसंग्रहविषयेऽतिशयेन कृतज्ञो भवेयम्॥ इत्यलं॥
श्रीसरस्वती सदैव पालयेद्वर्धयेच्च भवन्तम्। इति शं॥

मोहन्दकमठिकायाम्। १०२३॥६।७

A. Stein

1A3

स्वस्ति:

मह[illegible]ार्युभयोरुपस्थियोर्ग्रामयोरागते
स्वनुचराच्छ्रुत्वा ह्योदिने मया डक्टर् मित्रः
पृष्टः किं कर्तव्यमिति । तस्योपदेशोऽयम् ।
अत्र ततो गन्तव्यम् । नगरसमीपे भयं ना
स्तीति । तथावां मुनशीबागोद्यान आगतौ ॥

श्वोदिने पञ्चम्यां होरायां यदि भवाना
गमिष्यति तदोपस्थितो भविष्यामि । प्रति
दिनं च तत्काल उपस्थास्यामि । सर्वदा तत्र
भवतो दर्शनाद्धर्षो जनिष्यते । दार्शपौर्णमा
सिकानि श्रोतुमिच्छेयम् ॥

श्रीनगरे ।
१।९।०१ ॥

A. W. Sha[illegible]

यत्पुस्तकं दर्शपूर्णमासेष्टियागमुद्दिश्य युष्मत्सा
शे वर्तते यदि पश्येयं प्रकर्षेण हृष्टो भवेयम् ॥

A. W. S.

I(iii) I(c) I(C)I

श्रीशः प्रसीदतु

काश्मीरदेशस्य विद्वज्जनतिलकभूत-
सकलशास्त्रपारगत समस्तशुभगुणगणालंकृत-
श्रीनगर श्रीवर्धन श्रीनित्यानन्दशास्त्री ति यथार्थनाम-
पण्डितवरेषु होलन्ददेशीयो भागालयसंज्ञो
ज्ञानार्थी स्वस्तिवादेन वन्दयित्वा विज्ञापयति।

अस्ति गिरीशभूषणभूतश्चम्बानामातीव-
रमणीयः प्रदेशः। तत्र कस्मिंश्चिच्चामुण्डादेवी-
प्रासादप्रसादिने स्थाने प्राचीनशिलोपाधारो वर्तते।
अतिजीर्णशिलापट्ट लिखित शारदालिप्यक्षर शोभना-
लङ्कारकृत विशेष विशेषितात्यन्त रम्य प्रशस्तिश्चैव
विद्यते। अस्याः प्रतिबिम्बं च देवनागरीलिपि
लिखितां चैव कापीं भवतः समीपं प्रेषयामि।
किमर्थं। पण्डितवरेण संस्कृतभाषाकुशलतया
शिलापट्टमप्याद्भिन्नं
यद्यदस्यां प्रशस्त्यां

1(iii) 1(c) 1(c)1

श्रीशः प्रसीदतु

काश्मीरदेशस्य विद्वज्जनतिलकभूत-
सकलशास्त्रपारगत समस्तशुभगुणगणालंकृत-
श्रीनगरश्रीवर्धनश्रीनित्यानन्दशास्त्रीति यथार्थनाम-
पण्डितवरेषु होलन्ददेशीयो वागालयसंज्ञो
ज्ञानार्थी भक्तिवादेन वन्दयित्वा विज्ञापयति।

अस्ति गिरिशभूषणभूतश्चम्बानामातीव-
रमणीयः प्रदेशः। तत्र कस्मिंश्चिच्चामुण्डादेवी-
प्रासादप्रसादिते स्थाने प्राचीनस्तोत्याधारे वर्तते।
अतिजीर्णशिलापट्टलिखितशारदालिप्यक्षरशोभना-
लङ्कारकृत विशेषविशेषितात्यन्तरम्यप्रशस्तिस्तत्रैव
विद्यते। अस्याः प्रतिबिम्बं च देवनागरीलिपि
लिखितां चैव छायां भवतः समीपं प्रेषयामि।
किमर्थं। पण्डितवरेण संस्कृतभाषाकुशलतया
यद्यदस्यां प्रशस्त्यां शिलापट्टभङ्गाच्छिन्नं

1(c)2

स्यात्तत्संभावितत्वं निश्चितत्वं चेति मम परमाशा वर्तते । सुष्ठु हि केनचिदुक्तं हनूमानब्धिमतरद्दुष्करं किं महात्मनाम् । अद्यापि मे हृदय एषाशा परमास्ति शीघ्रमेव चित्रवरिष्ठाननेन्दुदर्शनेन लोचन-कुमुदं मे विकस्वरं भवेदिति शुभम् ॥

2- Page 138-139
Modern Sanskrit Literature

1(c)2

स्यात्तत्संभावितव्यं लिखितव्यं चेति मम
परमाशा वर्तते । सुहृ हि केन चित्तं
हनूमानाब्धिमतरद्दुष्करं किं महात्मनाम् ।
अद्यापि मे हृदय इयमाशा परमास्ति
शीघ्रमेव मित्रवरिष्ठाननेन्दुदर्शनेन लोचन-
कुमुदं मे विकस्वरं भवेदिति शुभम् ॥

2 - Page 138-139
Modern Sanskrit Literature

(5) *रयेण तुल्या व्यतियान्ति वत्सराः*
जरावशं यौवनमाशु नश्यति।
अलं शुचा किं परिदेवनैर्गुरो!
क्व देहराहुः क्व यशःसुधाकरः।।

सेण्ट् पीटर्स्बर्ग संस्कृतजर्मनकोशः संस्कृतोपासकानां सुपरिचित एव। तस्य सङ्कलयितारौ रोथाख्यो बोथलिङ्क्आख्यश्चेति द्वौ पण्डितौ। तयोर्बोथलिङ्क् पण्डितस्य जन्मदिनावसरे कोवल्पण्डितेन तं प्रति प्रेषितमेकं पद्यम्। ततः प्राक् कोशकार्यं समाप्तमभूदिति तस्यापि विशेषतो निर्देशस्तेन विदुषा कृतः—

(6) *यशः श्रमेणैव नरैरुपार्ज्यते*
श्रमेण कोषोऽपि समाप्तिमाप्तवान्।
श्रमे व्यतीते वदते (वदिः परस्मैपदी वदतीत्येव साधु) सरस्वती
ध्रुवं सः कोषोऽप्यमरो भविष्यति।।

अत्र अमरशब्दे श्लेषो निपुणमुपन्यस्तो विदुषां भूयसे मोदाय स्यात्। अज्ञातनाम्ना केनाप्याङ्गलकविना रचितानीमानि स्वभाषया कानिचन पद्यानि—

(7) *Thou hidden love of God whose height*
Whose depth unfathomed so mine knows
I see from far thy beauteous light
Only I saw far thy repose
My soul is sick, nor can it be
At rest till it find rest in thee

पद्यानीमानि कोवल्पण्डितेन संस्कृतेनेत्थमनूदितानि—

(8) *यस्योच्चत्वमगाधतां च न जनो वेदामितां दूरतो*
ज्योतिस्सुन्दरमस्य गूढभगवत्स्नेहोऽहमीक्षे तव।
शान्त्यै तेऽन्तरहं विनिःश्वसिमि हा खिन्नो ममात्मा त्वयम्
शान्तिं लब्धुमलं न यावदयतां नो शान्तिमेष त्वयि।।

केपैल्लर्नाम्नाऽपर आसीदेकः शर्मण्यदेशीयो विद्वान् येन यवनशतकमिति नाम्ना होमरादीनामनेकेषां ग्रीककवीनां शतं पद्यानि संस्कृतेनानूदितानि। अनुवादेऽपि तादृशः प्रवाहः स्वारस्यं च तेषु येन स्वरचितानीव तानि प्रतिभान्ति। दिङ्मात्रतया कानिचिदेव अत्रोद्ध्रियन्ते।

होमरकवेः पद्यानां संस्कृतानुवादः—

:: 1 ::

यादृशानि हि पत्राणि तादृशाः सन्ति मानुषाः।
यथा पत्राणि वृक्षेभ्यो निपतन्ति महीतले।।
रोहन्ति च पुनर्वातैः प्रेर्यमाणानि माधवैः।
एवं कुलानि जायन्ते विनश्यन्ति च देहिनाम्।।

:: 2 ::

न हि कश्चिज्जनो दैवमतिवर्तितुमर्हति
क्षुद्रकः स्यादुदारो वा जन्म यो लब्धवान् भुवि।।

:: 6 ::

अनग्निमनिकेतं च कुलघ्नं विद्धि तं नरम्।
यो वैरं रमते कुर्वन्नैकराष्ट्रनिवासिनाम्।।

:: 4 ::

न हि प्राणिषु सर्वेषु महीतलविसर्पिषु।
शोचनीयतरः कश्चिन्मनुष्यादिति मे मतिः।।

:: 5 ::

सूक्ष्मा जिह्वा बहून्यस्यां विविधानि वचांसि च।
यादृशं तु भवेदुक्तं प्रत्युक्तमपि तादृशम्।।

:: 15 ::

पितृपैतामहे स्थाने यत्सौख्यं हृदि जायते।
न तद्देशान्तरे लभ्यं विभवेषु महत्स्वपि।।

थियोक्रिटिसकवेः पद्यानां संस्कृतानुवादः—

:: 66 ::

मा विषादं गमस्तात श्वो हि श्रेयो भविष्यति।
आशा धारयति प्राणान्मृता एव निराशकाः।।

:: 100 ::

द्रुमाणां तुहिने कष्टं निम्नगानामवर्षणम्।
पाशबन्धो विहङ्गानां श्वापदानां च वागुरा।।
यूनो मृगदृशां चिन्ता भगवन् बलसूदन।
नाहमेकः सकामोऽस्मि नारीसक्तो भवानपि।।

रूसदेशे लेनिनग्राडनगरे कल्यानोव्नामाऽस्ति विद्वान् यः कल्याणमित्रमित्यात्मानमाचष्टे। स एकदा भरतभुवमाजगाम बहूनि स्थानानि च गमिकर्मीचकार। गमिकर्मीकृत्य च तानि स्वदेशं स प्रतिनिववृते। प्रतिनिवृत्तेन च तेन भारतभूमियात्रावृत्तान्तः स्वकीयः संस्कृतपद्यैरुपनिबद्धः। तेषु कानिचनात्रोद्ध्रियन्ते–

सर्वत्र भारते खण्डे कृतज्ञात्मा स्मराम्यहम्।
बहून् देशान् दृष्टवन्तः चारुप्रकृतिविस्मिताः।।

दृष्टपूर्वा न चास्माभिः कदाचन तथाविधाः।
कल्कत्तानगरीं गत्वा विमानेन विहायसा।
दृष्ट्वा तांस्तांश्च विषयान् पाटलीपुत्रमागताः।।

इतो गता वयं शीघ्रं बङ्गलोरपुरं प्रति।
यत्र प्रियः शीतवातो नित्यं वहति दक्षिणः।।

ततो मद्रासनगरं यत्र स्नाता महार्णवे।
महानटीं सुलोचनां श्रीमदायतलोचनाम्।
सस्नेहमभिनन्दामि तेजसास्याश्च मोहितः।।

बहुराष्ट्राण्यतिक्रम्य विमानेन विहायसा।
पुराणीं सुन्दरीं भूमिं भवतां वयमागताः।।

युष्मान् वयं सूचयामः स्निग्धानस्मत्सुहृज्जनान्।।
अस्मद्भूम्याः पूर्वकालादासीन्मैत्र्यं सनातनम्।
एतद्विवर्धनार्थं च वयं सर्वे यतामहे।।

अविभेद्यमिदं मैत्र्यं प्रजानामावयोर्महत्।
सर्वत्र जनताभूत्यै जीवतात् शाश्वतीः समाः।।

शर्मण्यदेशीयट्यूबिंगनविश्वविद्यालये निबन्धस्यैतस्य निबन्द्धा वर्षमेकमभ्यागताचार्यरूपेणाध्यापितम्। वर्षान्ते तत्प्रस्थानकाले तत्रत्यविद्वन्मूर्धन्येन श्रीशतीतनक्रन् महाभागेन रचितानि चत्वारि पद्यानि वाचितानि च तेन प्रस्थानकाले समायोजिते सौप्रस्थानिकोत्सवे। रमणीयां तत्पद्यच्छटां विभावयन्तु सुधियः–

(१०) (९) *भारतराजधान्यां यो व्याकरणविदां वरः।*
पारगः सर्वविद्यानां कवीनां मुकुटे स्थितः।।

शशास सत्यमावृत्य शास्त्री शास्त्रविशारदः।
शिष्याञ्शिक्षाशुश्रूषार्थाञ्शर्मण्यदेशमागतः।।

वर्षान्ते तु सपत्नीकस्त्यूबिंगन्नगराच्छुभात्।
स्वदेशं गन्तुकामोऽद्य पुनः प्रयातुमुद्यतः।।

स्मृतिः सुरमणीया स्यात्स्वकर्मसु सुहृत्सु च।
दूरे वसन्नदूरेऽस्तु हृदि मैत्रीं प्रवर्तयन्।।

कालान्तरे पत्रमाध्यमेनैकार्याऽपि तेन प्रेषिता–

जीवन्ति मे हृदये ये
तव मित्र! प्रीत्या चित्तरागाः।
ते त्वां सुप्रह्लादयितुं
शीघ्रं त्वन्मनोऽधिगच्छेयुः।।

यदा कदा पत्राण्यपि वैदिशिका विद्वांसः संस्कृतेन प्रेषयन्ति। निबन्धस्यास्य निबन्द्ध्रा प्राप्तेषु कतिपयेषु तादृशेषु पत्रेष्वेकं सविशेषमुल्लेखमर्हति। शर्मण्यदेशीयट्यू-बिंगनविश्वविद्यालये भारतीयविद्यासंस्थाने पूर्वोल्लिखितानां श्तीतन्क्रनमहाभागानां शिष्यः सहयोगी च पायर इति नामा विद्वान्। सः 1983 ईसवीये संवत्सरे सपत्नीको भारतभ्रमणार्थमागतः। तदा निबन्धस्यास्य निबन्द्धा पुरीम् अधिवसति स्म। सप्ताहं स तस्मिन् स्थितः। श्रीजगन्नाथसंस्कृतविश्वविद्यालये तस्य भाषणमप्यभूत्। ततः स दक्षिणस्यां दिशि नानास्थानानि गमिकर्मीकृत्य पुनः पुरीं प्रत्यावृत्य दिनत्रयं च तामध्युष्य शान्तिनिकेतनं प्रस्थितः। ततश्च कलिकातानगरं ततश्च स्वदेशम्। स्वदेशप्रत्यावर्तनानन्तरं पुरीतः प्रस्थानान्तरं कुत्र कुत्र गतं तेन, किं किं वा दृष्टमिति चिरेण प्रेषिते स्वपत्रे विन्यस्तम्। तदेव पत्रमत्राविकलमुद्ध्रियते–

स्वस्ति।

महाकवयः सत्यव्रतपण्डिताः! सस्नेहमभिवादनानि

अतिदीर्घकालं तत्रभवद्भ्यः पत्रं न प्रैषयम्। तत्रभवन्तो मम दुश्चरितं मर्षयन्त्विति मम प्रार्थना। तत्रभवतां पत्रमतोषयदेवावाम्।

पुर्या अपक्रम्य सुखसुप्तौ शान्तिनिकेतनमागच्छाव। तत्र प्रोफेसर बनर्जी महाभागा रेल्यानस्थानमागम्यावां विश्वविद्यालयस्यातिथिभवनं नीत्वा विश्वविद्यालयं रवीन्द्रनाथ-ठाकुरमहाभागानां निवेशनान्यदर्शयन्। आवां शान्तिनिकेतने तिष्ठन्तावतुष्याव। शान्तिनिकेतनेऽहोरात्रं स्थित्वा काल्कटमहानगरं प्रातिष्ठावहि। रेल्यानविलम्बेन काल्कटमहानगरं मध्यनिशायामेव प्रापद्यावहि। तत्र प्रोफेसरमूखर्जीमहाभागानामगारे व्यश्राम्याव। शनिवासरे प्रोफेसरमूखर्जीमहाभागा नौ भरतीयकौतुकागारे प्राचीना मूर्तीश्चित्राणि [illegible] तिष्ठती तुतुषिव। रविवारे आवाभ्यां ट्युबिङ्गननगरं

प्रति गन्तव्यमासीत्। यात्रा सुखं निष्पन्ना। ट्युबिङ्गननगरे प्रोफेसर स्तीतनक्रन्-महाभागानपश्यम्। द्विदिनानन्तरं प्रोफसर स्तीतनन्क्रन्महाभागा अमेरिकादेशं प्रति प्रतस्थुः[4]। तत्रभवतां सपत्नीकानां कुशलवृत्तमस्त्विपि सर्वेषामाशा। ओफ्तरदिङ्गनग्रामं प्रत्यागत्य सप्ताहं रोगपीडित आसम्। इदानीं मया बहूनि कृत्यानि कर्तव्यानि। मार्गरितामहाभागयाऽद्यप्रभृति सप्ताहं पञ्चषष्ट्याश्च्छात्राणां छात्रीणां च परीक्षा कर्तव्या। पूर्वमेव त्रिंशदधिकं शतं पत्राणि सा पर्यैक्षत।

आवां तत्रभवतां तत्रभवत्पत्न्याश्च स्मरावो बहुधा। बल्जियमविश्वविद्यालयगतान् तत्रभवतो द्रक्ष्याव इत्याशास्वहे। तत्रभवतां सपत्नीकानां सर्वं कुशलमेवास्त्वित्यर्थयावहे।

तत्रभवतां पुत्रौ,
आलोविस्मार्गरिते।

पुर्याः सर्वान् परिचितानत्रभवद्भिरभिवादयावः।

वैदेशिकेषु विद्वत्स्वस्ति तादृशोऽप्येको येन स्वकीयः शोधप्रबन्धोऽपि संस्कृतेन विरचितः। सोऽस्ति थाईदेशीयः चमलौङ् सरबद्नुकाख्यः। बैंकाकनगरे शिल्पाकर-विश्वविद्यालये सः संस्कृताध्यापकः। वर्षद्वयं यावदनेन सङ्कायाध्यक्षपदमप्यूढम्। सुरभारत्यां तस्याप्रतिहता गतिः। 1983 ईसवीये संवत्सरे तेन वाराणसेयसम्पूर्णानन्द-संस्कृतविश्वविद्यालयतो वेदविभागाध्यक्षाणां डाक्टर युगलकिशोरमिश्रमहाभागानां निर्देशने विद्यावारिधिरित्युपाधिरधिगतः। नाना ग्रन्थाः संस्कृतविषयकास्तेन स्वमातृभाषया विरचितास्तया वाऽनूदिताः। केवलं निदर्शनार्थम् अत्र शोधप्रबन्धस्य पुरोवाचः केचनांशा उद्ध्रियन्ते—

चांलोङ्सरबद्नूक् नामाहं थाईदेशे लब्धजनिः बाल्यकालादेव भगवतस्तथागतस्य कृपया संस्कृताध्ययने प्राप्तरुचिरासम्। महाचूडालंकरणबौद्ध (बैंकाक) विश्वविद्यालयतः बौद्धदर्शनविषयमधिकृत्य मया स्नातकपरीक्षा समुत्तीर्णा। संस्कृतसाहित्यविषयिणीं स्वीयां ज्ञानपिपासां पूरयितुं भगवता श्रीबुद्धेन कृतवसतिकेऽस्मिन् काशीनगरे विद्याधिगमनार्थमिच्छामकुर्वम्। ... ततः भारतदेशस्य विद्याराजधान्यां काश्यां समागत्य मया काशी हिन्दुविश्वविद्यालयीये संस्कृतपालिविभागे स्नातकोत्तरकक्षायां संस्कृतविषयमधिकृत्याध्ययनं कृतम्। तत्राध्ययनसमये वैदिकसाहित्यविषये पूर्वजन्मकृतपुण्योदयेन गुरुवर्याणां डा. वीरेन्द्रकुमारवर्ममहोदयानां सन्निधाने वेदाध्ययनेन च काचन विशिष्टा अभिरुचिर्मनसि समुत्पन्नेति वेदवर्गं स्वीकृत्य एम्. ए. संस्कृतपरीक्षायां साफल्यमभजम्। तदनन्तरं संस्कृतसाहित्यावगाहने सविशेषमानन्दमनुभवता मया सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालयतः 'विद्यावारिधि'इत्युपाधिप्राप्त्यर्थं मनसि योजितम्।

थाईदेशे विश्वविद्यालयेषु संस्कृतस्य अध्ययनं अध्यापनं प्रचलति। किन्तु प्रायशश्छात्रैर्लौकिकसंस्कृतमेव तत्राधीयते। विच्छिन्नसम्प्रदायत्वाद्वा प्रयोगविरहेण वा वैदिकभाषाशिक्षणं तत्र स्वल्पमेव भवति। यद्यपि थाईदेशे वैदिकभाषायाः लौकिकसंस्कृतस्य च महत्त्वं समानमस्ति तथापि वैदिकभाषाशिक्षकाणां न्यूनत्वादल्पेषु

शिक्षणस्थानेष्वेव वैदिकभाषा अध्याप्यते। परं प्रमोदास्पदमिदं यदधुना थाईजना: भारतवर्षे समागत्य विश्वविद्यालयेषु वैदिकं वाङ्मयं भाषां च पठन्ति। अहमपि तेष्वेव अन्यतम:। एवं हि शीघ्रमेव थाईदेशे वैदिकशिक्षका बहवो भविष्यन्ति तथा च तत्र वैदिकज्ञानराशे: भाषायाश्च शिक्षणप्रसार: रुचिरं भविष्यतीति वक्तुं सुवचम्।

अन्ते च इदं निवेदयन्नुपसंहरामि–

दूरादुपेक्षां निर्धूय कृपां कृत्वा ममोपरि।
विलोक्यो मत्प्रबन्धोऽयं बुद्धिमद्भिर्द्विजोत्तमैः।।

सन्त्यनेके तादृशा विद्वांसो वैदेशिका: श्रीपालथीमे-हंस हाइन्‌रिश् हाक् प्रभृतयो ये धाराप्रवाहरूपेण संस्कृतेन वक्तुं प्रभवन्ति परं संस्कृतेन तैर्न लिखितं बहु। यदि तेऽलेखिष्यंस्तर्हि भूयसीं संस्कृतवाङ्मयस्य श्रीवृद्धिमकरिष्यन्।

वैदेशिकैर्मनीषिभिर्यावन्मात्रं संस्कृतेनोपनिबद्धं तेनापीदमनुमातुं शक्यते यत् तेष्वस्ति शक्ति: संस्कृतलेखने। केवलममन्दोऽभियोगोऽभ्यासश्चापेक्ष्येते। एतदर्थं ते यद्युञ्जीरंस्तर्ह्यवश्यमेव स्वकीयपाण्डित्यं ते संस्कृतभाषयाऽऽविष्कृत्य कामप्यपूर्वां संस्कृवाङ्मयस्य श्रीवृद्धिं विदधीरन्। यदपि यावदपि वा तै: संस्कृतेन निबद्धं तदप्यस्माकं भारतीयानां कृते परमं मोदावहं चित्रीयाकरञ्च। संस्कृतं नास्ति येषां भाषा तेष्वपि कैश्चन यदि संस्कृतेन व्यवहर्तुं प्रयत्यते तर्हि जितं नाम संस्कृतेन।।

सन्दर्भ सूची

1. चिन्त्योऽयं प्रयोग:। आशिष्ट्यै इत्येव साधु स्यात्।
2. वदि: परस्मैपदी। वदीत्येव साधु।
3. अनद्यतनपरोक्षे लिटो विधानाल्लिट्प्रयोगोऽत्रानुचित:।
4. प्रतस्थिरे इत्येव साधु।

दती

VIII

वैदेशिकविदुषां संस्कृतरचनाः

विदेशेषु सन्ति नैके संस्कृतविद्वांसः। तत्र संस्कृताध्ययनपरम्पराऽतिपुरातनी। संस्कृतवाङ्मयं तत्रत्या विपश्चिदपश्चिमाः सम्यक् परिशीलयन्ति, गूढं च तद्रहस्यमुद्भिन्दन्ति, सूक्ष्मेक्षिकां च स्वकीयाममन्दमभियोगं च स्वकमभिव्यञ्जन्ति। एवं सत्यपि विरला एव तत्रत्याः संस्कृतेन वक्तुं प्रभवन्ति तल्लेखने वा। न तेन तेषां संस्कृतपाण्डित्यं पल्लवग्राहीति कदाचिदपि शङ्कनीयम्। संस्कृव्यवहारपरम्पराया अभाव एव तत्र हेतुः। न हि संस्कृतं तदीया भाषा। संस्कृतव्यवहारस्यावसरोऽपि तत्र नास्ति। तेन यदि तत्रत्याः संस्कृव्यवहारेऽक्षमास्तर्हि न तत्र किमपि चित्रम्। इदमेव तावच्चित्रं यदेवं स्थितेऽपि, तत्र संस्कृतव्यवहारपरम्पराऽभावेऽपि, सन्ति केचन तादृशा विद्वांसो ये संस्कृतेन पद्यानि रचयन्ति, निबन्धान् निबध्नन्ति, पत्रादिकमपि सुहृज्जनेभ्यः संस्कृतेनैव प्रेषयन्ति। असाधरणस्तेषामस्यां वाचि समधिकारः। प्रसन्नमधुरश्च तेषां वागुम्फः। निदर्शनार्थं तेषु कतिपयेषां मधुकर्या वृत्त्या सञ्चिताः संस्कृतकृतीरत्र भारतीयानां संस्कृतविदुषां मनोविनोदार्थं प्रस्तुमः।

आसीच्छर्मण्यदेशे वल्द्शिमद्त् नामा सुप्रथितो विद्वान्। सीगित्याख्य आसीत्तस्य गुरुर्यतोऽनेन संस्कृतमधीतम्। गुरोरशीतिवर्षपूर्तिमभिलक्ष्य विदुषाऽनेन स्वकीयाः शुभाशंसाः मन्दाक्रान्ताछन्दसोपनिबद्धैः संस्कृतपद्यैः प्रेषिताः। शर्मण्यदेशीयगातिंगन्विश्वविद्यालयतः समुपलब्धा तत्पाण्डुलिपिः। मेघदूतपद्यानुकारीणि तानि पद्यानि कं सरसहृदयं सहृदयं नानुरञ्जयेयुः—

(1) *पृच्छामि त्वां कुसुमरचने गन्धसौरभ्यमाले*
दौत्यं हर्तुं स्मरणघटितं धन्यवादं भरन्मे।

गन्तव्यस्ते नगरविदितो धीमतामुत्तमाङ्ग
आग्नेयोक्तेर्विवरणकरो गस्तकौचेयभासः।

जातो वंशे विजयवचनात्प्राप्तकल्याणनाम्नि
विद्वान् यो मे गुरुरपि सखा विद्धि सोऽशीतवर्षः।

आचार्यस्य प्रविश भवनं तस्य पत्नीप्रशिष्टं
गाढग्रन्थं वद सुमधुरं प्राज्ञ विज्ञं पठन्तम्।।
जिज्ञासूनां त्वमसि शरणं बुद्धिधारापयोद-
स्तर्कोपेतश्चतुरमनसा चारु निर्मुक्तशङ्कः।
आकाङ्क्षामो हृदि तव हितं तेन चोच्चैर्ह्वयामो
जीवेच्छ्रीमान् जयतु जयवान् वर्षनानाशतानि।।

पोलैण्डदेश आसीद् ऐण्ड्रूस् गवरोंस्कीतिनामधेयः सुप्रथितो विद्वान्। वार्सानगरे चिराय स वार्साविश्वविद्यालयीयप्राच्यविद्यासंस्थानस्याध्यक्षपदमध्यतिष्ठत्। तस्य सुरगवीपाटवमद्यापि पोलैण्डदेशीयाः सोत्साहं कीर्तयन्ति। एवं हि श्रूयते यद्यदा स छात्र एवासीत्तदा कस्यामपि विद्वत्सभायां समुपस्थातुं फ्रांसदेशराजधानीं पेरीसपुरीमुपेतः। तत्र चाल्पवयस्क इति सभागारे कस्मिंश्चित्कोणे समुपविष्टः। प्रारब्धे सभाकार्ये विद्वत्सु भाषमाणेषु कयाचिदन्तःप्रेरणया स संस्कृतेन पद्यमेकमरचयत्। तच्च पद्यं पत्रखण्डमारोप्य स्वसमीप उपविष्टं कमपि स्वपरिचितमपाठयत्। स च पत्रखण्ड-स्तेनान्यस्मै प्रदत्तस्तेन च ततोऽन्यस्मै। एवं हस्ताद्धस्तं गच्छन्स पत्रखण्डः क्रमेण सभाध्यक्षं प्राप्तः। तेन तत्स्थं पद्यं तथा रमणीयमनुभूतं यत्सभामञ्चत एव वाचितं यच्छ्रुत्वा सर्वेऽपि सुतरां चमत्कृताः। तदनन्तरं सभाध्यक्षेण सभाकार्यसञ्चालनार्थं किशोरकः श्रीगवरोंस्कीमहाभागो निमन्त्रितस्तेन च तत्कार्यं महता कौशलेन निर्व्यूढम्। विलक्षणं तत्पद्यं न सम्प्रति कुत्राप्युपलभ्यते। पोलैण्डदेशीयास्तच्चर्चयन्ति परं न तत्सम्प्रति कस्मिन्नप्यस्ति। श्रीगवरोंस्किमहाभागस्य ग्रन्थादिषु निपुणं निरीक्ष्यमाणेषु तत्कदाचिद् दृष्टिपथमापतेत्। भूयान् कालो व्यतीतस्तस्य रचितस्य। कुत्र तत्स्थापितं तेन विदुषेति न कोऽपि सम्प्रति जानाति। तस्यैव विद्वद्गोष्ठीगरिष्ठस्य स्वनामधन्यस्य शिष्य आसीत् सुश्केविच्महाभागो यस्तदनन्तरं प्राच्यविद्यासंस्थानस्य वार्साविश्व-विद्यालयीयस्य तदुत्तराधिकारिरूपेणाध्यक्षपदमप्यलमकरोत्। परश्शतानां निबन्धानां प्रणेता स गुरुकृपया सुरगवीगद्यपद्यबन्धेऽप्यनितरसाधारणीं कामपि नैपुणीमध्यगमत्।

पोलैण्डदेशे, न केवलं पोलैण्डदेश एव, अपि त्वनेकेषु योरूपीयदेशेषु एषा पद्धतिर्यत्तत्रत्या जनाः कस्यापि दिव्यपुरुषस्य जोनस्य वा पौलस्य वाऽथवाऽन्यस्य कस्याप्येवंविधस्य जन्मदिवसमात्मीयं जन्मदिवसमिति स्वीकुर्वन्ति। तच्च नामदिनमिति व्यवहरन्ति। नामदिनं नाम तेषां कृते महानुत्सवः। तादृशमेव किमपि नामदिनमुपलक्ष्य स्वगुरुं श्रीगवरोंस्किमहाभागं प्रति प्रेरिताः शुभाशंसा गद्यपद्यरूपेण सुरगवीरुचिरपदबन्धेन श्रीसुश्केविच्महाभागेन। प्रथमं पद्यान्यत्र तदनन्तरं च गद्यम्। तदुभयमिदं तेन स्वपरवर्तिने प्राच्यसंस्थानाध्यक्षाय श्रीक्रिस्तोफरबिस्कींमहाभागाय 'निबन्द्धृसकाशात्कृतज्ञता-पूर्वकमुपहारीक्रियत' इति पङ्क्तिपूर्वकं प्रदत्तम्। सम्प्रति तत् तस्मिन्नेवास्ति। तत एव च तदुपलभ्य विदुषां मनोविनोदायात्रोपस्थाप्यते। पद्यभागापेक्षया गद्यभागोऽत्रोत्कृष्टतरः।

महाकवेः बाणस्य शैलीमनुकुर्वन् स भारतीयान् संस्कृतविदुषः पाश्चात्त्यसंस्कृतविदुषां संस्कृतगद्यलेखने कामपि विलक्षणां नैपुणीं परिचाययेत्प्रौढिं चाप्यपूर्वाम्। पद्यरसं प्रथममास्वाद्य गद्यरसमास्वादयन्तु सुधियः—

पद्यभागः

अस्त्वन्येषां बहुलगहनाकीर्णमित्युग्रदुर्गं
क्रान्त्वा क्रान्त्वा स्खलितचरणं कण्टकैर्दीर्णवासः।

अन्ते मोक्षो न इति निहतानिष्टनिर्वेदमेव
आयुःसंज्ञं गमनमचिरान्मृष्टपादाङ्कपङ्क्ति।।

नष्टं नामापि ननु सुतरां का कथा कर्मणामि-
त्युद्दिश्यान्यान् अवमतिपरं कथ्यतां वृत्तविद्भिः।

जीवं तेषां श्रमभरयुतं यातयामं किलैव
वाक्कर्माद्यं लिपिरिव गतं जातु लोकार्णवेऽस्मिन्।।

युष्मन्नाम्ना दशशतकराच्चण्डमुद्द्योतिते तु
सूर्यभ्रान्त्या सकलमपि विद्यत्कुलं (अत्र यतिभङ्गः) तूर्णमेव।

रश्मींस्तारान् क्षयिततिमिरान् सर्वतो विप्रसार्य
विद्यालोकेऽहमहिमकयेवार्ककान्तत्वमैतु।।

भूयोभिः किं कुशलयशसी चक्रवाकामिधे द्वे
स्यातां रात्रावपि नु वियुते संनिधाने सदा ते।

इत्याद्यद्य स्मृतशुभशता निर्गता मद्धृदो वाग्
आशिष्टायै बहुमतगुरोः कल्प्यतामल्पतायाम्।।

सूर्यादौष्ण्यं वारिराशेश्च शौच्यं
वाताच्छैत्यं वालुकाभ्यो बहुत्वम्।

इत्यादाय त्वत्सकाशं गुरो हे!
गच्छन्त्वद्य प्राग् यथा मन्मनांसि।।

गद्यभागः

"अद्य खल्वष्टाङ्गपातत्वेन गुरून् प्रणमामः। द्वे एव वर्षे अस्माकं गुरुभिरध्याप्य-मानानां पर्यायं गते। किन्तु संवत्सरयुगमात्रमूढं दुष्करं यदि सत्यमित्युद्भिन्नकम्पाः संस्कृतविषयालवाल उपदेशप्रभृत्यध्यापनोत्सेकादिव्यापारशतपोषिताः शिष्यपाद-पास्तिष्ठामः। गुरुज्ञानसूर्यप्रभववाग्विशेषरश्मिपुञ्जबलेन च लवमात्रशेषीकृतसूचि-

भेद्यान्धकारा वर्तामहे। अथवा जातभेदावस्थान्तरत्वेन शुभोक्त्यादिमधुलालसाः पाठकमिलिन्दभूताः संस्कृतपुस्तकोद्यानेषु गुरुपादादिष्टमार्गा यथासुखं पुष्पात्पुष्पं पतामः। एतत्प्रतीन्धनजनितहर्षशिखाप्राग्भारत्वे बृहद्भानुकल्पीभूता अपि न तावद् आश्रयाशं यथार्थनामानं विदध्मः। अथ गुरुनामोत्सवदिने भक्तिबहुमानादिपरिवारा साक्षादिव वपुष्मती कृतज्ञता शरदां शतं जीवत सर्वाण्यपि रोगाध्यादिरूपाणि दुःखानि दीर्घायुस्तेजः प्रभावोत्पादितोत्कटभयकान्दिशीकीकृतान्यतिमात्रबाधितविरोधिमनांसि दूरतो वर्तन्ताम् इत्यादिभिः स्वान्तारामप्रभवैराशीर्वादसुमनोभिरवतंसवेष्टितोत्तमाङ्गान् गुरून् कुर्मः।"

अस्मिन्भूमण्डले आक्सफोर्डविश्वविद्यालयस्य महती ख्यातिः। नाना वर्षाणि तत्र संस्कृत-पण्डितपरम्परायाः संस्कृतमनुशीलन्त्याः। तत्र भारतीयसंस्थानमिति नाम्नाऽस्ति भवनं यन्निर्माणार्थं धनं प्रायशो भारतीयैरेव सञ्चितम्। 1886 तमे ईशवीये संवत्सरे तस्योद्घाटनं ब्रिटेनयुवराजेन 'प्रिंस आफ वेल्स' इति विरुदभाजा कृतम्। तदवसरे द्वे पद्ये द्वारदेशे विन्यस्ते शिलापट्टक उत्कीर्णे ययोर्द्वितीये भारताङ्गलदेशयोर्मिथो मैत्रीविवर्धनं प्रार्थितम्—

ईशानुकम्पया नित्यमार्यविद्या महीयताम्।
आर्यावर्ताङ्ग्लभूम्योश्च मिथो मैत्री विवर्धताम्।।

कालान्तरे भारतीयविद्याध्ययनार्थमेव स्थापितादस्माद्भवनात् संस्कृतविभाग उत्सारणीयस्तत्स्थाने च प्रबन्धविभागः स्थापनीय इति आक्सफोर्डविश्वविद्यालयाधिकृतैर्निर्णीतम्। तज्ज्ञात्वा दुःखभराक्रान्तेन चेतसा तदनीन्तनेन संस्कृतप्राध्यापकेन सुप्रथितयशसा श्रीमता टी. बरौ महाभागेन पद्यानि कानिचन व्यरचिषत येषु स्वकीया मानसी व्यथा तैरित्थमाविष्कृता—

ततः षष्टितमे वर्षे दुर्नयग्रस्तबुद्धिभिः।
विद्यालयमहामात्रैरार्यधर्मपराङ्मुखैः।।

सरस्वतीं लघूकृत्य पाण्डित्यमवमान्य च।
तयोर्भूम्योस्तिरस्कृत्य मैत्रीमनर्थिकामिव।।

कायस्थराक्षसानां च परस्वादानगृद्धिनाम्।
गणकानां च हस्तेषु प्रापिता स्वार्थसिद्धये।।

विद्याविहीना शालैषा परैर्नीता पराभवम्।
अयोध्या प्रोषिते रामे नष्टश्रीरिव शोचति।।

शर्मण्यदेशे कोवेल्नामा बभूव पण्डितप्रवेकः। स्वोपज्ञानि नानापद्यानि तेन रचितानि भाषान्तरेभ्यश्च संस्कृतेनाऽनूदितानि। तेषु कतिपयान्येव विद्वन्मनोरञ्जनायात्रोपस्थाप्यन्ते। यदा विद्वन्मूर्धन्यो मोक्षमूलरभट्टः पञ्चाशद्वर्षोऽभूत् तदा तं अभिनन्दता कोवल्पण्डितेन पद्यमिदं तं प्रति प्रेषितम्—

Stefano Piano

(3) Best greetings to You and Your Family for a happy new year!

Thank You very much for your नववर्षशुभाशंसा and Your beautiful sanskrit verse!

Are You still collecting sanskrit "poetry" from foreign countries? Longtime ago I tried to

Front

Back Side

S/c

Stefano Piano

Best greetings to You and Your Family for a happy new year!

Thank You very much for your नववर्षशुभाशंसा and Your beautiful sanskrit verse!

Are You still collecting sanskrit "poetry" from foreign countries? Longtime ago I tried to

3 3 3a

Stefano Piano

Best greetings to You and Your Family
for a happy new year!
Thank You very much for your नववर्षशुभाशंसा
and your beautiful sanskrit verse!
Are You still collecting sanskrit "poetry" from
foreign countries? Longtime ago I tried to

compose a śloka on the theme of love - I found it out of old papers - It is as follows, and let Vālmīki and other great Kavi-s forgive me :

सुरूपा हि त्वमेवासि व्याघ्र इव तु निर्दया ।
मामेकाकिनमेवेह रतापि किं न खादसि ॥

I hope it will not badly pierce your refined ear!
Best wishes again to the whole family from

Stefano & Family

3 (b)

(3) (a)

Stefano Piano

Best greetings to You and Your Family for a happy new year!

Thank You very much for your नववर्षशुभाशंसा and Your beautiful sanskrit verse!

Are You still collecting sanskrit "poetry" from foreign countries? Longtime ago I tried to

(4)

UNIV... ...BURG
...für Kultur und Geschichte Indiens

HAMBURG 13, den 4-2-54.
Bornplatz 2
Fernsprecher 44 10 71

Klaus Bruhn

to: Satyavrata Sastri
Panjab University
Oriental College
Jullundur City

मान्याः विद्वद्वराः

क्षमिष्यन्ते कालविलम्बमाचार्यवर्या इति आशया अनेन जनेन अतीतसंवत्सरीकस्य लेखस्य
अनन्यभाषाद्वारा उत्तरदाने मनो दीयते । श्रीमत्पत्रपठनान्तरं दिष्ट्या लब्धोऽयं भारतवासिना समं
संस्तवस्थापनावसर इति हृदये उत्पन्नो ऽनल्पो हर्षोदयः । तथापि आनन्साद्भापार-
भारस्य दुष्करत्वात्संस्कृतपत्रस्य मन्दत्वाद्द्विजबुद्धेर्न तत्क्षणमेव प्रत्युत्तरीकृतम् ।
.तु अद्य परिज्ञानन्तरम् (डॉ) यत्नेन लेखनारम्भः क्रियते ।

पालि सप्त वर्षा मे संस्कृतप्राकृतयोरध्ययने व्यापृतस्य प्रणीतश्च शीलाङ्क-विरचित-
.प्पसमाहापरिसचारियारव्यकृति-विषयको ग्रन्थलेशः । भविष्यत्काले जैनागमसंबद्ध-
सा..त्तीराधिकृत्य यातिष्ये । अद्य आचिरादेवं भारतागमनानुष्ठानं कुर्यामिति मे
चउप.. ..ष्यम् ।
टीकादि वृत्ता.

..न्तीह हंबुर्ग-विश्वविद्यालये प्रतिवर्षं केचिद्भारतविद्यार्थिनः संस्कृतभाषया हिन्दी-
भाषया वा अभ्यासनिरता, कतिपये प्राकृतभाषाधिगममपि ~~करोति~~ कुर्वन्ति । अधीयन्ते
.येन वेदाः, काव्या, जैन०, बौद्धसूत्राणि । कदाचित्तथैव अपभ्रंशनिबन्धाः पठ्यन्ते । डॉ अल्सदोर्फ
वर्तमाने काले इह भारतविद्याशालाया अधिष्ठाता) बहूनि वर्षाणि अपभ्रंशानुसन्धानक्रियायां
व्यापृतवान् । डॉ तावद्य (गुर्जरदेशोत्पन्नः) हिन्दीभाषाध्यापने वर्तते ।
किंचिदन्यदपि कथयिष्यते । संप्रति भवतां
विस्तरेण । यद्दिष्टं विद्वद्वरैरपरपत्रे
.द्यलेखपठनक्लेशेन क्लान्तिरुत्पादिता स्यादिति आशङ्कया विरम्यते ।

युष्मद्धितैषी

Klaus Bruhn

UNIVERSITÄT HAMBURG
Seminar für Kultur und Geschichte Indiens

HAMBURG 13, den 4-2-54
Bornplatz 2
Fernsprecher 44 10 71

Klaus Bruhn

to: Satyavrata Śāstrī
Panjab University
Oriental College
Jullundur City

मान्याः विद्वद्वराः

क्षमिष्यन्ते कालविलम्बमाचार्यवर्या इति आशया अनेन जनेन अतीतसंवत्सरीकस्य लेखस्य
अनन्यभाषाद्वारा उत्तरदाने मनो दीयते। श्रीमत्पत्रपठनानन्तरं दिष्ट्या लब्धोऽयं भारतवासिना समं
संलापस्थापनावसर इति हृदये उत्पन्नोऽनल्पो हर्षोदयः। तथापि आनन्दसाम्राज्यपार-
भारस्य दुष्करत्वात्संस्कृतपत्रस्य मन्दत्वान्निजबुद्धेर्न तत्क्षणमेव प्रत्युत्तरीकृतम्।
किंतु अद्य परीक्षानन्तरम् (डॉ) यत्नेन लेखनारम्भः क्रियते।

सन्ति सप्त वर्षा मे संस्कृतप्राकृतयोरध्ययने व्यापृतस्य प्रणीतश्च शीलाङ्क-विरचित-
चउप्पन्नमहापुरिसचरियाख्यकृति-विषयको ग्रन्थलेशः। भविष्यत्काले जैनागमसंबद्ध-
टीकादिवृत्तीरधिकृत्य यतिष्ये। अद्य अचिरादेव भारतागमनानुष्ठानं कुर्यामिति मे
प्रसन्नौत्सुक्यम्।

सन्तीह हंबुर्ग-विश्वविद्यालये प्रतिवर्षं केचिद्भारतविद्यार्थिनः संस्कृतभाषया हिन्दी-
भाषया वा अभ्यासनिरता, कतिपये प्राकृतभाषाधिगममपि ~~करोति~~ कुर्वन्ति। अधीयन्ते
प्रायेण वेदाः, काव्या, जैन०, बौद्धसूत्राणि। कदाचित्तथैव अपभ्रंशनिबन्धाः पठ्यन्ते। डॉ अल्सदोर्फ
(वर्तमाने काले इह भारतविद्याशालाया अधिष्ठाता) बहूनि वर्षाणि अपभ्रंशानुसन्धानक्रियायां
व्यापृतवान्। डॉ तावद्य (गुर्जरदेशोत्पन्नः) हिन्दीभाषाध्यापने वर्तते। संप्रति भवतां
अलं विस्तरेण। यदीदं विद्वद्वरैरपरपत्रे किंचिदन्यदपि कथयिष्यते।
सावधं लेखपठनक्लेशेन क्लान्तिरुत्पादिता स्यादिति आशङ्कया विरम्यते।

युष्मद्धितैषी

Klaus Bruhn

मान्यगुरुवर्य !

- टामस ओबर्लिस, फ्राइबुर्ग, जर्मनी

ज्ञानपीठप्रदीपेन दीपितं भुवनं त्वया ।
गुरो ! साम्प्रतमास्से त्वं पद्मभूषणभूषित: ।।१ ।।

पद्मेन भूषितोऽसि त्वं पद्मं वा भूषितं त्वया ।
इति मे नास्ति सन्देह: पद्मं त्वं समभूषय: ।।२ ।।

स्मृतिपथे दिवसा मम यान्ति ते
सुखकरा गमितास्तव येऽन्तिके ।
त्वमसि शास्त्रचणो निपुणेक्षण:
सकलशिष्यगणप्रियतां गत: ।।३ ।।

विविधशास्त्रचयं समबोधयो-
ऽनतिबुधं निजशिष्यचयं मुदा ।
अपि दुरूहतमं विशदं गुरो !
श्रमगतो विषयं त्वमचीकर: ।।४ ।।

स्मितमुखालपनेन सदा जनान्
परिचयं न गतानपि मोहयन् ।
प्रकटयन् निजसात्त्विकवृत्तितां
त्वमभवो भुवि सत्त्वभृतां वर: ।।५ ।।

स्मरामस्ते गुणान्नित्यं तव शिष्या वयं समे ।
चर्चयामो मुदा तांश्च परस्परमुपागता: ।।६ ।।

तव शिष्या इति वयं धन्यतां कलयामहे ।
भाग्यादेव हि लभ्यन्ते त्वादृशा गुरवो भुवि ।।७ ।।

भारते भारतोऽसि त्वं वयं शर्मण्यवासिन: ।
तव शर्म सदा देवं प्रभुं सम्प्रार्थयामहे ।।८ ।।

सदा स्वस्थस्सदा तुष्टस्सदा पुष्टश्च कोविद ! ।
सुखेन सकुटुम्बस्त्वं शतं जीव समा गुरो ! ।।९ ।।

इतोऽपि भूयसो लब्ध्वा सम्मानाँल्लोकहर्षदान् ।
यशो वितन्वँल्लोकेषु जीवितं व्यतियापय ।।१० ।।

इति प्रणामाञ्जलिस्तव शिष्यस्य टामस ओबर्लिस् इत्यस्य ।

कोऽहम् ?

— सत्यव्रत शास्त्री

प्रश्नोऽयं समुदेति मे मनसि भोः कोऽहं कुतस्त्यस्तथा
किं वा नाम करोम्यहं जगति किं कुत्रास्म्यहं संस्थितः ।
किं लक्ष्यं किमु वा महत्त्वमथवा किं वा ममाऽऽस्ते पदम्
आत्मा मे सुतरामसंस्तुत इति प्राप्तोऽस्मि चित्रां दशाम् ।।1।।

यद्यच्चिन्तनमस्ति मे मनसि किं वाचा भवेत् तत् स्फुटं
किं वा कर्मणि तद् भवेत्परिणतं किं वा परेभ्यो भवेत् ।
तत्सम्यक् प्रतिपादितं किमथवा ज्ञातं मया स्यान्नवे-
त्येवं विप्रतिपन्नमानसतया नो शान्तिमाप्नोम्यहम् ।।2।।

किं मे धावनमस्तु वा सुविरतिः कार्यान्तरेभ्यो भवेत्
किं वा तेष्वभिरक्तिरस्तु किमु वा तेभ्यो विरक्तिर्भवेत् ।
चिन्ताचान्तमना इति प्रविततं सर्वं चरं चाचरं
पश्यन् व्याप्तमिदं जगत् किमपि किं नैवाहमालोकये ।।3।।

ज्ञानं मे प्रथितं मया च पठिता ग्रन्था अनेके भुवि
तत्किं मे परवञ्चनादिकृतिषु स्वीया प्रवृत्तिः सदा ।
दीनां दुर्विधतां गतां च जनतां नो वीक्ष्य चित्तद्रुति-
र्मेऽन्धो वा वधिरोऽथवाहमिति मे नैवास्त्यहो निर्णयः ।।4।।

दिव्योऽहं सुविभूषितो गुणगणैर्लोकस्य पूज्यस्तथा
कुर्वन् वैभवशालिभव्यभवने वासं सदर्पं सदा ।
ध्यायन् द्रव्यमुपार्जितं कुधृतिभिर्नैकैस्तथा गर्हितैः
कृत्यैश्छद्मपरैर्नृशंसपरमैः शान्तिं परां नाप्नुवे ।।5।।

आढ्यानामकृतात्मनां बत ! कृते श्राम्यामि रात्रिन्दिवं
नैवाहं च लभे कथञ्चिदपि हा ! स्वीयामभीष्टां भृतिम् ।
हर्म्याणां रचनाविधावनुदिनं [illegible] मे हन्त भो !

वासः पर्णकुटी विशीर्णमलिनं वासो ममाच्छादनम् ।।6।।

आचार्योऽप्यनुशास्मि नैव सततं राज्ञां नयेऽवस्थितो
वैद्योऽहं परमातुरादिविपया चिन्ता न मां बाधते ।
कार्याणां लय इत्यनेन विधिना कार्यालये कार्यकृद्
उत्कोचादिपरः परार्थघटकः सौख्यं परं व्यश्नुवे ।।7।।

कः पन्थाः किमु मे स्वरूपमथवा कस्यास्म्यहं भूतले
किं वा कर्म करोमि कस्य च कृते श्राम्याम्यहं सन्ततम् ।
किं वा वच्मि श्रृणोमि किं किमथवा ध्यायामि यामि क्व च
कोऽहं वेत्ति न वेद्मि हन्त ! किमिति भ्राम्यामि दिग्भ्रान्तवत् ।।8।।

श्रीमती राजलक्ष्मी सिंह 9452025315

महाकविकालिदासाष्टकम्

गङ्गोदधारा इव शुद्धरूपाः
	शशाङ्कलेखा इव कान्तिमत्यः ।
नूत्नार्थविज्ञानविभासयित्र्यः
	श्रीकालिदासस्य गिरो विभान्ति ।। 1 ।।

अंशुप्रकर्षेण यथांऽशुमाली
	हिमातिरेकेण यथा हिमाद्रिः ।
तथा कवित्वस्य भरेण दिव्ये-
	नायं कविप्राग्रहरो विभाति ।। 2 ।।

पुराणमित्येव न साधु सर्वं
	नैवानवद्यं च समस्तमस्ति ।
महाकवेः काव्यकलाविलासे
	पुरातनत्वं च नवीनता च ।। 3 ।।

शब्दार्थसाहित्यमपूर्वमस्य
	काव्येषु पुष्टाश्च रसप्रवाहाः ।
सर्वाञ्जनानुन्मदयन्ति सत्यं
	कुर्वन्ति तांस्तद्वशगान् हठाच्च ।। 4 ।।

''वेगाद्वहन्ती च न चोत्तटा च
	गम्भीरभावा च न चाप्रसादा ।
रसोत्तरङ्गा प्रतिभा विभाति
	महाकवेर्देवतरङ्गिणीव'' ।। 5 ।।

निजाद्वितीयप्रतिभोत्थदीप-
	शिखेव काव्यावलिरस्य दीप्रा ।
सम्प्रापयत्यन्यकवीन्द्रकाव्य-

समूहमत्यन्तविविर्णभावम् ।। 6 ।।

पदावलिं कोमलकान्तरूपां

न्यस्यन् यथास्थानमयं कवीन्द्रः ।

ताञ्चाप्यलङ्कारभरेण युञ्ज-

न्नाभाति काव्यज्ञभराभिजुष्टः ।। 7 ।।

कविप्रवेकेषु लसत्स्वनेके-

ष्वनेन भूमिः सविशेषशोभा ।

''नक्षत्रताराग्रहसङ्कुलाऽपि

ज्योतिष्मती चन्द्रमसैव रात्रिः'' ।। 8 ।।

ओ३म्

मानवता के सन्देश के लिए वेदों एवं श्रीगुरुग्रन्थ साहिब का योगदान

(Role of the Vedas and Shri Guru Grantha Sahib to the message for humanity.)

जर्मनी देश के प्रसिद्ध भारतीय प्राच्य विद्या विशारद प्रो० मैक्समूलर ने अपनी पुस्तक **इण्डिया-ह्वाट कैन इट टीच अस** में एक स्थान पर लिखा है कि ''यदि में विश्वभर में उस देश को खोजने के लिए चारों दिशाओं में आँख उठाकर देखूँ जिस पर प्रकृति देवी ने अपना सम्पूर्ण वैभव, पराक्रम और सौन्दर्य को खुले हाथों से लुटाकर उसे पृथिवी का स्वर्ग बना दिया है, तो मेरी अङ्गुली भारत की ओर उठेगी। अगर मुझसे पूछा जाय कि अन्तरिक्ष में नीचे कौनसा वह स्थान है जहाँ मानव ने अपने हृदय में निहित ईश्वर प्रदत्त अनन्यतम सद्भावों को पूर्ण रूप से विकसित किया है, गहराई में उतरकर जीवन की कठिनतम समस्याओं पर विचार किया है, उनमें से अनेकों को इस प्रकार सुलझाया है, जिसको जानकर प्लेटो तथा काण्ट का अध्ययन करने वाले मनीषी भी आश्चर्यचकित रह जायें, तो मेरी अङ्गुली भारत की तरफ उठेगी और अगर अपने से पूछूँ, कि हम योरोप के वासी जो अब तक केवल ग्रीक, रोमन तथा यहूदी विचारों में पलते रहे हैं, किस साहित्य से प्रेरणा ले सकते हैं जो हमारे भीतरी जीवन का परिशोध करे, उसे उन्नति के पथ पर अग्रसर करे, व्यापक बनाए, सही अर्थों में मानव बनाए, जिससे ध्येय इस पार्थिव जीवन को ही नहीं हमारी सनातन आस्था को शान्ति मिले, तो फिर मेरी अङ्गली भारत की तरफ ही उठेगी।''

जर्मनी के प्रसिद्ध दार्शनिक शोपनहार का कथन था कि विश्व के सम्पूर्ण साहित्य भण्डार में किसी ग्रन्थ का अध्ययन मानव के विकास के लिए इतना हितकर तथा ऊँचा उठाने वाला नहीं जितना उपनिषदों का ~~अध्ययन।~~ इसके अध्ययन से मुझे जीवन में शान्ति मिली है, और इनके अध्ययन से ही मुझे मृत्यु के समय भी शान्ति की प्राप्ति होगी। शोपनहार के इन शब्दों का उल्लेख करते हुए मैक्समूलर ने लिखा है कि अगर शॉपनहार की इस भावना का समर्थन करने की आवश्यकता हो तो दर्शन तथा धर्म के अध्ययन में व्यस्त अपने दीर्घ जीवन के अनुभव के आधार पर इन शब्दों का सहर्ष अनुमोदन करता हूँ।

मैक क्रिंडल ने सिकन्दर के आक्रमणों पर लिखी अपनी पुस्तक में मैगस्थनीज के **इण्डिका** ग्रन्थ का उद्धरण देते हुए लिखा है कि जब सिकन्दर भारत पर आक्रमण करने के लिए निकला तब उसके गुरु अरस्तु ने उसे उपदेश दिया कि वहाँ से लौटते हुए दो तोहफे लेते आना-एक था भगवद्गीता तथा दूसरा वहाँ का कोई सन्त। सिकन्दर जब भारत भूमि से लौटने लगा तब उसने ओनियोक्रोटस नामक अपने प्रतिनिधि को किसी सन्त को ढूँढ़कर साथ ले चलने के लिए भेजा। एक सन्त मिला जिसका नाम ''डैडमीज'' लिखा है, ने साथ चलने से इन्कार कर दिया। **डैडमीज** शब्द दण्डी-स्वामी का ग्रीक रूप प्रतीत होता है, क्योंकि नाम

के साथ ईज लगाना ग्रीक पद्धति रही थी। दण्डी स्वामी को सिकन्दर के दूत ने कहा कि आप चलेंगे तो जुपिटर का पुत्र सिकन्दर आपको मालामाल कर देगा। दण्डी स्वामी ने हंस कर उत्तर दिया-हमारे रहने के लिए यह शस्य-श्यामला भारत की धरती, पहनने के लिए ये वल्कल वस्त्र, पीने के लिए कलकल रव करती गङ्गा की शीतल धारा, खाने के लिए एक पाव आटा बहुत है, हम आत्म धन के धनी हैं, आत्मधन जो धनों का धन है, उस धन की दृष्टि से दरिद्र सिकन्दर हमें क्या दे सकता है।

औरंगजेब का भाई दारा शिकोह उपनिषदों पर इतना लट्टू था कि उपनिषद् विद्याविदों से लगातार छै: महीने तक उसकी व्याख्या सुनता रहा। १६५६ में उसने इनका फारसी में अनुवाद किया। दारा के इसी भाषान्तर को फ्रेंच विद्वान् एन्क्विटिल डयुपैरों ने पढ़ा और इसे पढ़कर उसे प्राच्य शास्त्रों को पढ़ने की रुचि हुई। उपनिषदों के फारसी अनुवाद के आधार पर ही एन्क्विटिल डयुपैरों ने १८०१ में इनका लैटिन में अनुवाद किया। इस प्रकार दारा शिकोह द्वारा मुस्लिम एवं एन्क्विटिल द्वारा ईसाई जगत् में उपनिषदों की विचारधारा का इतना सिक्का जमा कि पूर्व और पश्चिम में इन ग्रन्थों को अत्यन्त श्रद्धा से पढ़ा जाने लगा। अरस्तु, दारा शिकोह, मैक्समूलर तथा शोपनहॉर जिस विचारधारा की तरफ आँख उठाकर देख रहे थे, उसका आदि स्रोत वेद हैं। वेदों की विचारधारा ने भारत की भूमि को ही आप्लावित नहीं किया, अपितु विश्वभर की विचारधाराओं को प्रभावित किया है। यह वैदिक ज्ञान एवं विद्या ही है, जिसने सभी को कुछ दिया है, अपना मार्गदर्शन किया है, यही विचारधारा है जिसकी मौलिकता के आलोक में अन्य ग्रन्थों ने भी मानवजाति को दिव्य गुणों, अध्यात्म, आचार-विचार एवं चरित्र की शिक्षा दी है, उनमें गुरुवाणियों के रूप में निबद्ध अत्यन्त पवित्र ग्रन्थ श्रीगुरुग्रन्थ साहिब प्रमुख है। निश्चय ही परम तपस्वियों गुरुओं की वाणियाँ लोक कल्याण एवं विश्वशान्ति का सन्देश देती हैं।

भारतीय चिन्तन में वेदों को अपौरुषेय, ईश्वर की वाणी तथा सृष्टि के आद्य में आदि ऋषियों के हृदयों में प्रकाशित ज्ञान माना गया है, ये वेद चार हैं-ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद एवं अथर्ववेद। चारों वेदों के मन्त्रों की संख्या २० हजार से अधिक है। महर्षि मनु एवं अन्य ऋषियों ने वेद को **वेदोऽखिलो धर्ममूलम्** अर्थात् वेद सभी धर्मों का मूल एवं सभी विद्याओं का भण्डार कहा है। इनको संसार एवं मानव जाति के आदि ग्रन्थ माना गया है। परवर्ती वाङ्मय के विस्तार में इन्हीं का महान् एवं मौलिक योगदान है। वेद , वैदिक संस्कृत भाषा में निबद्ध तथा सैकड़ों ऋषियों के हृदय में परमात्म-प्रेरणास्वरूपत:. प्रकाशित मन्त्रों की राशि के रूप में गुम्फित हैं, वहीं अनेक गुरुओं एवं सन्तों के हृदय में उत्पन्न वाणी के रूप में मूलतः गुरुमुखी में लिखित श्री गुरुग्रन्थ साहिब है, जिसमें गुरुवाणियों को ३१ मिश्रित रागों में प्रमुखता से उच्चारा गया है और प्रत्येक वाणी के आदि में राग का नाम दिया है जैसे सिरी राग, राग माझ, राग गउडी, राग आसा, राग गुजरी आदि। इसके बाद में वाणीकार गुरुओं एवं सन्तों का नाम का क्रमवार सङ्केत महला-१

(गुरु नानक देव) महला-२ (गुरु अङ्गद), महला-३ (गुरु अमर दास) महला-४ (गुरु रामदास) महला-५ (गुरु अर्जुन देव) महला-९ (गुरु तेगबहादुर) दिया है। तत्पश्चात् भक्तवाणी के सन्त का नाम दिया है-जैसे-वाणी-भक्त कबीर, भक्त नामदेव, भक्त रविदास, भक्त त्रिलोचन, सूफी शेख फरीद, सन्त धन्ना, भक्त सधना, भक्त सूरदास, जैदेव, भक्त वेणी, भक्त मीखण, भक्त रामानन्द, भक्त सुन्दर, भक्त परमानन्द, भक्त पीपा, भक्त बलबण्ड सता, भक्त मरदाना, भक्त सैण इत्यादि।

वैदिक वाङ्मय सभी ज्ञान एवं विज्ञान का मूलाधार एवं विश्व संस्कृति का उन्मेषक भण्डार है इसको **या संस्कृतिः सा प्रथमा विश्ववारा** कहा है, धर्म एवं सभ्यता का विशाल साम्राज्य वेद की आधारभूमि पर ही विकसित हुआ है। वस्तुतः वेद सम्पूर्ण मानवजाति के लिए एक शाश्वत् संविधान एवं आचार संहिता हैं। वेदों के प्रसिद्ध भाष्यकार आचार्य सायण का कहना है कि इष्ट की प्राप्ति और अनिष्ट का परिहार करना वेद का नैसर्गिक सन्देश है।[1] दूससे शब्दों में कहा जा सकता है कि वेद उन्नति और प्रगति का मार्ग बताता है तथा दुष्कर्मों से होने वाले कुपरिणामों से सतत् निवृत्ति की प्रेरणा देता रहता है। वेद के इन अलौकिक रहस्यों, ज्ञान एवं पराविद्या को पश्चाद्वर्ती वाङ्मय यथा-ब्राह्मण ग्रन्थों, आरण्यकों, उपनिषदों, धर्मसूत्रों, रामायण, महाभारत, महाकाव्यों एवं समय-समय पर हुए दिव्य सन्तों एवं धर्मगुरुओं ने अपने शब्दों में व्याख्यायित किया है। वेद की उक्त परम्पराओं ने पुरुषार्थ चतुष्टय पर बल दिया है तथा उनके सन्देश का अन्तिम लक्ष्य सांसारिक प्रलोभनों को त्यागकर वास्तविक सत्य का अन्वेषण करना अर्थात् **सा विद्या या विमुक्तये** रहा है। वेद, ऋषियों एवं सन्तों के चिन्तन की परम्परा में ज्ञान का उद्देश्य निःश्रेयस का अधिक है। अन्धकार से प्रकाश की ओर, असत्य से सत्य की ओर, मृत्यु से अमृत की ओर जाने पर बल दिया गया है।[2]

मानव एक बुद्धिजीवी प्राणी है और बुद्धितत्त्व की कामना वेद में बहुशः करता है,[3] वहीं वेद ने उसे मानव होते हुए भी सच्चे अर्थों में मानव बनने एवं दिव्य गुणों के धारण करने की धारणाओं से अवगत कराना आवश्यक समझा है।[4] मानव के जीवन में पदे-पदे अनेकानेक विघ्न बाधाओं के फलस्वरूप मानवीय मूल्यों के गिरने की सम्भावना बनी रहती है इसलिए सतत् सावधानी बरतने की दृष्टि से उसे वेद ने **मनुर्भव** का उपदेश दिया है, यहीं मानव को अत्यधिक उदात्त मूल्यों के संरक्षण एवं वर्धन की बात कही है, इन्हीं को लक्ष्य कर वेद ने उदात्त मानवीय मूल्यों के आश्रय में रहकर जीवन जीने की चर्चा की है इन्हीं मानवीय

---

[1] इष्टप्राप्त्यनिष्टपरिहारयोरलौकिकमुपायं यो ग्रन्थो वेदयति सः वेदः।। तैत्ति० सं०सा० भाष्य०।।

[2] असतो मा सद्गमय तमसो मा ज्योतिर्गमय मृत्योर्मामृतं गमय। बृहद्० उप०१.३.१८

अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते। यजु ४०.१४

[3] भूर्भूवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात्।। ऋग्०३.६२.१०, यजु०३६.३।।

यां मेधां देवगणाः पितरश्चोपासते। तया मामद्य मेधयाग्ने मेधाविनं कुरु।। यजु०३२/१४।।

[4] मनुर्भव जनया दैव्यं जनम्। ऋग्० १०/३/६।।

मूल्यों का सटीक स्वरूप श्रीगुरुग्रन्थ साहिब में सरल, सरस, हृदयग्राह्य एवं लौकिकभाषा में प्रस्तुत किया गया है।

उक्त पवित्र ग्रन्थों में संक्षेप एवं कहीं कहीं विस्तार से धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष आदि के पर्यालोक में अध्यात्म, नैतिकता, आचार संहिता, सन्मार्गगामिता, विधि-निषेध का ज्ञान, लौकिक एवं पारलौकिक उत्कर्ष, मर्यादा पालन इत्यादि का सारगर्भित प्रतिपादन है। वैदिक वाङ्मय ने बिना किसी जाति, धर्म, देश के भेदभाव के एक सामान्य धर्म निर्वहन, कर्त्तव्यपालन एवं मानवीय गुणों को धारण करने का उल्लेख किया है और यही सर्वसामान्यजन हिताय श्रीगुरुग्रन्थ साहिब में बड़ी सरल, सरस, शब्दावली में सुदृढ़ता के साथ सुन्दर वर्णित लिखा गया है।

पारिवारिक आदर्श-मानव जीवन की एक सर्वाधिक प्रमुख इकाई है परिवार। प्रत्येक सदस्य परस्पर आजीवन जुड़ा रहता है, उनके लिए प्रशस्त आदर्श का सन्देश अथर्ववेद देता है कि प्रत्येक का कर्त्तव्य है कि अपने माता-पिता के प्रति स्वस्तिमय सद्भाव का आचरण करे, कदापि उनकी उपेक्षा न करता हुआ उन्हें सदैव सत्कृत एवं सन्तुष्ट रखें।[५] वेद की यह शिक्षा सुतराम् धारणीय होनी चाहिए कि जन्मोपरान्त बचपन में माता-पिता को कष्ट पहुँचाता हुआ मैं स्वयं अत्यन्त प्रमुदित रहा तो मुझे चाहिए कि वे शिथिल हो चले हैं उनको कदापि किसी भी रूप में पीड़ित न करता हुआ उनकी सदा सेवा एवं सत्कार में रहकर प्रसन्नतापूर्वक उनके ऋण से उऋण होऊँ[६]। इसी दिशा में पारिवारिक सदस्यों को वेदोक्त आचार संहिता का व्यवहार में आचरणीय बताया है कि पुत्र पिता के अनुकूल कर्त्तव्यनिष्ठ होवे, माता के साथ श्रद्धायुक्त मनवाला रहे, पत्नी पति के प्रति मधुर, शान्तिमयी वाणी का व्यवहार करे, भाई-भाई के प्रति द्वेष ना करे, बहिन-बहिन के साथ प्रेम के साथ व्यवहार करें तथा अन्य सभी परस्पर प्रेम एवं सद्भाव रखें[७]। इससे पूर्व अथर्ववेद ने स्पष्ट सन्देश दिया है कि परम सत्ता की ओर से सभी सदस्यों का हृदय परस्पर प्रेम एवं सद्भाव वाला बनाया गया है, इसलिए परस्पर एक-दूसरे को सभी तरह से चाहो जैसे गौ अपने सद्योजात अभिनव बछड़े के प्रति अत्यन्त स्नेह रखती है, वैसे तुम भी सब परस्पर छल कपट, द्वेष से सर्वथा रहित होकर विशुद्ध स्नेह से युक्त

---

[५] स्वस्ति मात्र उत पित्रो नो अस्तु। अथर्व० १.३१.४॥

[६] यदापिवेष मातरं पुत्रः भवतु प्रमुदितो धयन्।
एतत्तदग्ने अनृणो भवाम्यहतौ पितरौ मया॥ यजु०१९.११

[७] अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमना।
जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शान्तिवाम्॥
मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन् मा स्वसारमुत स्वसा।
सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा वाचं वदतु भद्रया। अथर्व० ३.३०.२-३

आनन्दित रहो।[८] श्रीगुरुग्रन्थ साहिब एवं सभी सन्तों की वाणियों से यही ध्वनित होता है कि सुखी संसार एवं जीवन का मेरुदण्ड सुखी परिवार एवं गृहस्थ है जहाँ परस्पर प्रेम, स्नेह, मधुर व्यवहार एवं बड़ों का सम्मान हो, यही सुखी परिवार के लक्षण हैं।

पुण्यमयी एवं भद्रा लक्ष्मी प्राप्ति-सन्देश- वेद अन्याय, अनीति, रिश्वत अथवा बिना परिश्रम एवं किसी को कष्ट देकर अर्जित लक्ष्मी अर्थात् धन मानव को विनाशकारी, समाज में संघर्षकारी एवं पापकारी बनाता है। श्रम, धर्मयुक्त उपायों, तथा दूसरों को बिना कष्ट पहुँचाए अर्जित, लक्ष्मी की वेद प्रशंसा करता है और मानव के लिए यह कहते हुए चेताता है कि जिस प्रकार वन्दना (अमरबेल) नामक लता हरे-भरे वृक्ष को पनपने नहीं देती, शोषण करती है उसी प्रकार भ्रष्ट तरीके से अर्जित लक्ष्मी दुर्गतिकारिणी एवं धर्म व नीति से भ्रष्ट करने वाली होती है। वेदों में दोषपूर्ण लक्ष्मी से सदा दूर रहने का परामर्श दिया गया है।[९] पुण्यार्जित लक्ष्मी में रमण करने से अत्यन्त सुख शान्ति मिलती है तथा पापमय साधनों से अर्जित कुलक्ष्मी उसी मनुष्य को सकुल बार-बार नाश करती है, **अनीनशम्** आख्यात पद बार-बार नाश करने की ओर इङ्गित करता है। ऐसी पापमयी लक्ष्मी को घर से दूर चले जाने एवं दूर रहने की प्रार्थना की गई है।[१०] श्री गुरुग्रन्थ साहिब में श्री गुरुनानक की वाणी का सन्देश वेदोक्तभाव का अक्षरशः समर्थक है। उनका कहना है कि मनुष्य पवित्रता से जीविकोपार्जन तो करे ही, साथ ही उसी पुण्यार्जित धन से दूसरे लोगों को दानादि देकर सहायता भी करे, वही व्यक्ति वास्तविक मार्ग का पथिक बताया है।[११] गुरुनानक यहीं नहीं रुकंते वे सन्देश देते हैं कि जो प्रभुनामस्मरण के साथ-साथ, परिश्रमशील हैं, उनके मुख उज्ज्वल होते हैं और स्वयं तथा दूसरों को भी मुक्ति के आदर्श बनते हैं।[१२]

दुराचरण निवारण ही मानवता का बहुमुखी विकास-वेद का दृढ़ सन्देश है कि मानव जब तक दुराचरण व दुर्व्यसनों को तिलाञ्जलि नहीं देता तब तक सच्चे अर्थों में उसके मानवीय गुणों का विकास होना नितान्त असम्भव है। गुरु नानकदेव की इस सम्बन्ध में एक पवित्र वाणी का उल्लेख मिलता है जिसमें उन्होंने

---

[८] सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः।
अन्यो अन्यमभि हर्यत वत्सं जातमिवाघ्नया। अथर्व०३.३०.१

[९] या मा लक्ष्मीः पतयालूरजुष्टाभिचस्कन्द वन्दनेव वृक्षम्।
अन्यत्रास्मात् सवितस्तामितो धा हिरण्यहस्तो वसु नो रराणः॥ अथर्व०७.११५.२॥

[१०] रमन्तां पुण्यां लक्ष्मीर्याः पापीस्ता अनीनशम्। अथर्व० ७.११५.४॥
प्र पतेतः पाप लक्ष्मि नश्येतः प्रामुतः पत॥ अथर्व० ७.११५.१॥

[११] घालि खाई किछु हथहु देइ। नानक राहु पछाणहि सेइ॥ श्री गु०ग्र०सा०पृ०-६९६॥

[१२] जिनी नामु धिआइआ गये मसकति घालि।
नानक ते मुख उजले केती छुटी नालि॥

धर्म के मार्ग पर चलने वालों को कुकर्मों से सर्वथा सर्वथा के लिए तिलाञ्जलि देने का उपदेश किया है। ऐसा सुकृतकर्मी ही ईश्वर का ध्यान कर सकता है।[१३] इन दुर्व्यसनों एवं दुराचरणों के फलस्वरूप मनुष्य का अन्त:स्थल पशुता व दानवीय दुर्गुणों का भण्डार बन जाता है, जिससे अभिलम्ब ही छुटकारा पाये यह ऋग्वेद का कहना है।[१४] इसलिए मानवीय गुणों के विकास के लिए जाग्रत अथवा सुप्तावस्था अथवा ज्ञाताज्ञातावस्था में बुरे संस्कारों, दुष्टप्रवृत्तियों एवं दुष्टाचरणों को जीवन में स्थान कथमपि न देना परम आवश्यक है।[१५] गुरु नानकदेव की दृष्टि में काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहङ्कार इत्यादि दुर्गुण मनुष्य की मनुष्यता को भ्रष्ट कर देते हैं इसलिए उनका मत है पढ़ने, शिक्षा लेने के उपरान्त भी लोभ, अहङ्कार में लिप्त एवं लिप्यायमान है वह पढ़ा हुआ मूर्ख ही है अर्थात् अपने आचार-विचार से भ्रष्ट है।[१६]

सुखी जीवन में माधुर्य का प्रातिष्ठ्य- मानवीय जीवन के सौन्दर्य में मधुरता की अहं भूमिका को वेद ने रेखाङ्कित किया है। मधुरता का अभिप्राय सहजता, नैसर्गिकता, सरलता एवं मधुर वाक् प्रयोग है। जीवन के उत्कर्ष एवं आनन्द में इन गुणों की अत्यन्त प्रतिष्ठा है। मधुर वाणी प्रयोग का उद्देश्य दु:खों से रक्षा करना माना जाता है। बनावटी जीवन, कर्कश व्यवहार एवं कठोर वाणी का प्रयोग वस्तुत: सामाजिक अथवा वैधानिक दृष्टि से विशेष दोष या अपराध न होने पर भी नैतिक दृष्टि से अपराध माना जाता है। ऋग्वेद ने कर्कश व्यवहारकर्त्ता एवं कठोर वाक् प्रयोग करने वालों की निन्दा करते हुए गर्हित व्यक्ति कहा है[१७] जैसा जीवन वैसा मरण यह सामान्य नियम है। जीवन की मधुरता अथवा कटुता क्रमश: निर्भर करती है मधुर अथवा वाग्व्यवहार पर। अत: मानवीय जीवन अच्छा, मधुर एवं सुखकारी हो एतदर्थ अथर्ववेद में मधुरता का उल्लेख उदात्तभाव से मिलता है।[१८] वहीं परस्पर मधुर सम्भाषण करने, वृद्धों का मधुरता से सम्मान

---

[१३] सेव कीती संतोखीईं जिन्हीं सचु धिआइआ।
ओन्हीं मन्दै पैरु न रखिओ करि सुकृतु धरमु कमाइआ।। श्रीगु०ग्र०सा०पृ०२८४॥

[१४] श्रेष्ठो जातस्य रुद्र श्रियासि तवस्तमस्तवसां वज्रबाहो।
पर्षि ण: पारमंहस: स्वस्ति विश्वा अभीति रपसो युयोधि॥ ऋग्०२.३३.३॥

[१५] यदाशसा नि:शसाभिशसोपारिम जाग्रतो यत् स्वपन्त:।
अग्निर्विश्वान्यप दुष्कृतान्यजुष्टान्यारे अस्मद् दधातु॥ ऋग्० १०.१६४.३॥

[१६] पड़िया मूरख आखिए जिसु लबु लोभु अहंकारा।। श्रीगु०ग्र०सा०पृ०-१०८॥

[१७] इन्द्राग्नी अवसा गतमस्यभ्यं चर्षणीसहा।
मा नो दु:शंस: ईशत।। ऋग्०७.९४.७

[१८] जिह्वाया अग्रे मधु मे जिह्वामूले मधूलकम्।
ममेदह क्रतावसो मम चित्तमुपायसि॥
मधुमन्मे निक्रमणं मधुमन्मे परायणम्।
वाचा वदामि मधुमत् भूयासं मधुसन्दृशम्॥ अथर्व० १.३४.२-३॥

करने, सुविचारशीलों को एकमत होने पर पर्याप्त बल दिया है।[१९] किसी को दुःख पहुँचाने वाला कठोर वचन न बोलना ही वचन की अपवित्रता है। बहु, व्यर्थ या अनर्गलभाषण भी वचन की अपवित्रता है, अतः वचनों में शुचिता एवं परनिन्दा का परिहार आवश्यक है इसलिए परनिन्दा गुरुनानक देव के मत में अत्यन्त गर्ह्य एवं मलस्वरूप[२०] है। उन्होंने परनिन्दा एवं वाक्पारुष्य को बन्धन का कारण एवं पतनोन्मुखी करार दिया है।[२१]

द्वेष रहितता, मित्रभाव एवं विश्वबन्धुत्व- वैदिक मान्यतानुसार इस संसार में सभी को समानाधिकार, समभाव एवं परस्पर सङ्गठनात्मक प्रवृत्ति पर बल दिया है। सभी को समान अवसर एवं मातृभाव मिले तो इस सङ्गठनात्मक दृष्टि से सभी को न्याय मिलता है।[२२] वेद ने तो स्पष्ट संकेत दिया है कि प्रत्येक मानव का अन्न, जल इत्यादि प्राकृतिक भोग्य पदार्थों पर समान अधिकार है तथा तुम सभी इसी तरह सङ्गठित रहें जैसे रथ के पहिए के अरे एक केन्द्र में स्थित रहते हैं। निश्चय ही यहाँ सह-अस्तित्व की अवधारणा मानव के लिए आवश्यक बताई गई है।[२३] सभी मिलकर अभ्युदयकारक अच्छे सत्य-हित-प्रिय वाक्यों को ही बोलें तथा सभी के मन, सुख, दुःखादिरूप भाव को सबके लिए समानरूप से जानें। परस्पर अलगावभाव या विरोध मानव विरोधी आचरण है। सभी के हृदय सङ्कल्प, मन, निश्चय, प्रयत्न समान समभाव वाले हों, यह मानव के लिए सन्देश वेद में पहले से ही निर्धारित कर दिया गया है।[२४] वेद में द्वेष को ऐसा मानवीय दुर्गुण कहा है जिससे सिवाय शत्रुता के कुछ भी प्राप्त नहीं होता, इसलिए अथर्ववेदीय

---

[१९] ज्यायस्वन्तश्चित्तिनो मा वियौष्ट संराधयन्तः सधुराश्चरन्तः।
अन्यो अन्यस्मै वल्गु वदन्त एत सध्रीचीनान्वः संमनसस्कृणोमि॥ अथर्व०३.१३.५॥

[२०] परनिन्दा पर मलु मुख सुधी अगनि क्रोध चंडालु। श्रीगु०ग्र०सा०पृ०२६॥

[२१] वाधे मुकति नाही न निन्दक डूबहिं निंद पराई हे। श्रीगु०ग्र०सा०पृ०५८२॥

[२२] स वः पृच्यन्तां तन्वः सं मनांसि समुव्रता।
स वोऽयं ब्रह्मणस्पतिर्भगः सं वो अजीगमत्। अथर्व०६.७४.१

[२३] समानी प्रपा सह वोऽन्नभागः समाने योक्त्रे सह वो युनज्मि।
सम्यञ्चोऽग्निं सपर्यतारा नाभिमिवाभितः।। अथर्व०३.३०.६

[२४] संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।
देवा भागं यथा पूर्वे सञ्जानाना उपासते॥ ऋग्०१.१९१.२॥
मा वियोष्ट अन्यो अन्यस्मै वल्गु वदन्त। अथर्व०३.३०.४
समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति।। ऋग्०१०.१९१.४
समानो मन्त्रः समितिः समानी मनः सह चित्तमेषाम्।
समानं मन्त्रमभिमन्त्रये वः समानेन वो हविषा जुहोमि॥ ऋग्०१०.१९१.२

मनसा परिक्रमा के मन्त्रों में द्वेष की प्रवृत्ति को प्रभु की न्याय व्यवस्था में रखने की बात कही है।[२५] यजुर्वेद
में परस्पर मिलकर रक्षा करने, भोज्य पदार्थों का सेवन करने, अध्ययन करने की चर्चा कर मैत्रीभाव रखना
एवं द्वेषभावों से सुतराम् दूर रहने पर बल दिया है।[२६] ऋग्वेदीय ऋचा में द्वेष एवं असूया को प्रायः समतुल्य
कहा है। और इस द्वेष व असूया के जन्म में वस्तुतः मानसिक दुर्बलता मूल कारण है, जो पाप एवं अपराध
की ओर उन्मुख करती है।[२७] यही कारण है कि वेद ने द्वेष भाव का शमन करने के लिए प्राणियों से
मित्रभाव रखना अनिवार्य कहा है।[२८] यही भावना है विश्वबन्धुत्व की, और यही कारण था वैदिक परम्परा
एवं संस्कृति से ही निकला एक विश्व प्रसिद्ध नारा **वसुधैव कुटुम्बकम्**। यह थी उदात्त परिकल्पना वैदिक
चिन्तन की जिसमें एक व्यक्ति द्वारा दूसरे व्यक्ति की रक्षा की बात कही गई है।[२९] ऐसा नहीं है मानव
मानवमात्र की रक्षा अपितु प्राणिमात्र अर्थात् द्विपाद् चतुष्पाद् आदि प्राणियों की रक्षा कल्याण एवं हित की
बात कही गई है।[३०] श्रीगुरुग्रन्थ साहिब पृ०-३७६ में अधिकार की कमाई, सन्तोष, निर्बैरता, निर्भयता,
प्रेमभाव, सहनशीलता आदि सद्गुणों पर बल दिया है, इनसे जीवन की धन्यता के लिए सन्देश प्रदान किया
है। श्री गुरुनानकदेव ने अपनी वाणी में कहा है कि सभी प्राणियों में एक ही परमात्मा की ज्योति है।[३१]
नानक उत्तमु नीच न कोई अर्थात् उनकी दृष्टि में यहाँ कोई भी उत्तम या नीच नहीं है अर्थात् सभी समान हैं
क्योंकि एक ही ईश्वर ने सभी प्राणियों को बनाया है।[३२] गुरुनानक की दृष्टि में नीच वह है जो परमात्मा के
प्रति अपनी भक्ति नहीं रखता, उसके स्मरण के बिना सभी की जाति घटिया है।[३३] वैदिक साहित्य एवं
सन्तों की वाणी में व्यक्ति और समाज से ऊपर उठकर विश्व के कल्याण की बात कही गई है। यहाँ **सर्वे**

---

[२५] यो ऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्म:।। अथर्व० ३.२७.१-६।।

[२६] सह नाववतु। सह नौ भुनक्तु। सह वीर्यं करवावहै।
तेजस्विनावधीतमस्तु। मा विद्विषावहै। तैत्ति० आ० ९/१

[२७] इन्द्रासोमा समघशंसमभ्यय१घं तपुर्ययस्तु चरुरग्नि वाँ इव।
ब्रह्मद्विषे क्रव्यादे घोरचक्षसे द्वेषो धत्तमनवायं किमीदने।। ऋग्० ७.१०४.२।।

[२८] दृते दृहं मा मित्रस्य या चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्।
मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्।
मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे।। यजु०३६.१८

[२९] पुमान्पुमांसं परिपातु विश्वत:। ऋग्० ६.७५.१४।।

[३०] शं नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे। ऋग्०७.५४.१

[३१] सभ महि जोति जोति है सोई-श्री गु०ग्र०सा०पृ०-३७२।।

[३२] सबको ऊँचा आखीए नीच न दीसै कोइ।
इकनै भांडे साजिए इकु चानणु तिड लोइ।। श्री गु०ग्र०सा०पृ०-८२।।

[३३] खसभु विसारिये ते कमजाति। नानक नावै बाझु सनाति।।
बिन नावै सभ नीच जाति है बिसटा का कीड़ा होइ।। श्री गु०ग्र०सा०पृ०-४७६।।

भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः। सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग भवेत्-ही विश्वबन्धुत्व एवं विश्वकल्याण भावना की दृष्टि है।

पुण्यकर्माधारित मानवजीवनसौन्दर्य- मानव के जीवन को वैदिक कर्म सिद्धान्तानुसार सुखदुःखात्मक कहा है, परन्तु मानव अति काम-क्रोध-लोभ-मद-मात्सर्य के कारण अपने जीवन को दुःखयुक्त ही कर लेता है। इन्हीं अतिदुःखों एवं असफलताओं के वशीभूत जीवन में नीरसता, असरसता एवं नारकीयता के कारण आत्महत्या तक कर लेता है, परन्तु वेद ने जीवन को एक सङ्ग्राम मानते हुए अपने लक्ष्य साधन के लिए यह कहते हुए सतत् अध्यवसायी बताया है और प्रेरणा की है कि जिस व्यक्ति ने जन्म लिया है वह जीवन को सुन्दर बनाने के लिए उत्पन्न हुआ है क्योंकि धीर व्यक्ति अपनी मननशक्ति से अपने कर्मों में पवित्रता रखते हैं।[३४] जिस कार्य को करना पुण्य माना जाता है वह धर्म और जिसके करने से पाप होता है वह अधर्म है। अतः वेदों एवं श्री गुरुग्रन्थ साहिब में पापकर्मों का निषेध किया है, वेद में पाप के लिए दुरित, एनस्, अंघस्, अघ, अनृत, अवद्य, आगस्, किल्विष, दुष्कृत, रेपस्, रिप्र, अमेध्य इत्यादि पदों का व्यवहार हुआ है। श्रीगुरुग्रन्थ साहिब में पापकर्म को बुरा कहा है। श्री गुरु नानक देव का कहना है कि पापी मनुष्य पाप को प्यार करते हैं, वे पाप का बोझ व्यर्थ में उठाते हैं और अपने व्यवहार व कार्य-व्यापार में उसी का विस्तार करते हैं, परन्तु जो मानव पापवृत्तियों को त्यागकर आत्म स्वरूप को पहचान लेता है, उसेके शोक, सन्ताप, वियोग आदि नहीं छू पाते। यही मानव जीवन की सार्थकता है।[३५] गुरु नानकदेव का सन्देश है कि मानव जीवन की सार्थकता इसी में है कि जब वह धर्म के तत्त्वों के जानने में ही लगे रहने की अपेक्षा शुद्धाचरण पालन में रहे वही सच्चे सुख एवं निःश्रेयस् को प्राप्त कर सकता है। यही जीवन का वास्तविक सौन्दर्य है।[३६]

सत्य का सन्देश- ऋग्वेद में ऋत अर्थात् सत्य को धर्म कहा गया है-**सुगा ऋतस्य पन्थाः** इस वाक्य से स्पष्ट है कि धर्म का सुख से गमन करने योग्य है। भवसागर से पार लगाने वाले सत्य तत्त्व को उच्चता प्रदान की गई है[३७] इसका पालन ही वास्तविक धर्म है।[३८] गुरुनानक देवजी इसी विचार के पोषक हैं

---

[३४] जातो जायते सुदिनत्वे अह्नां समर्य आ विदथे वर्धमानः।
पुनन्ति धीरा अपसो मनीषा देवया विप्र उदिर्यति वाचम्।। ऋग्०३.८.५।।

[३५] पापु बुरा पापी कउ पिआरा। पापि लदे पापे पसारा।
परहरि पापु पछाणै आपु। न तिसु सोगु विजोगु संतापु।। श्रीगु०ग्र०सा०पृ०४८८।।

[३६] करि आचारु सचु सुखु होई। श्रीगु०ग्र०सा०पृ०४७८।।

[३७] सत्यस्य नावः सुकृतमपीपरन्।। ऋग्० ९.७३.१।।

[३८] यो वै स धर्मः सत्यं वै तत्। तस्मात् सत्यं वदन्तमाहुर्धर्मं वदतीति।। बृहद्० उप० १.४.१४।।

उनका मानना है कि सत्य के सामने सब कुछ तुच्छ है तथा सत्याचार मूर्धन्य है [३९] अतः धर्म ही सत्य और
सत्य ही धर्म ऐसा तत्त्व है जो अभ्युदय और निःश्रेयस सिद्धि का प्रदायक है। ऐसा महर्षि कणाद ने वैशेषिक
दर्शन में स्वीकार किया है। [४०] यद्यपि महर्षि मनु ने सत्य को धर्म के दश तत्त्वों में प्रमुख तत्त्व माना है। [४१]
वहीं गुरुनानक देव भी महर्षि मनु से पृथक् विचार नहीं रखते हैं। [४२] गुरु अर्जुनदेव ने उपदेश दिया है कि
धर्म का मार्ग तभी अनुसरणीय है जब मानव असत्य (कूड़) को त्यागकर नष्ट कर दे। [४३] इसलिए मानव के
लिए गुरुनानक देव ने चेताया है कि सत्य और सन्तोष मानव की ऐसी पूँजी है कि वे इस संसार से अलग
होकर प्रभु के आश्रय को प्राप्त करते हैं तथा कभी भी दुःखस्वरूप नरक को नहीं भोगते हैं। [४४]

अहिंसा- वैदिक वाङ्मय एवं ऋषियों, सन्तों व आचार्यों ने सत्याचरण के अतिरिक्त अहिंसा को
उदात्त मानवीय गुण कहा है। **अहिंसा परमो धर्मः** वैदिक संस्कृति का महावाक्य है जो संसार के मनुष्यों के
लिए दूसरों को कष्ट न पहुँचाने का सन्देश है। महर्षि पतञ्जलि ने कहा है कि अहिंस्य भाव रखने से संसार के
प्राणियों के साथ वैरभाव का हमेशा-हमेशा के लिए त्याग हो जाता है। [४५]

अहिंसा एक ऐसा पावन गुण एवं कर्म है जिससे मानव आजीवन सुख-शान्ति से रह सकता है।
किसी भी प्राणी को मुन-वचन एवं कर्म से कष्ट पहुँचाना शारीरिक क्षति करना, वध करना, मारना आदि ये
सब हिंस्य कर्म माने हैं इसलिए वेद ने कहा है कि किसी भी प्राणी को कष्ट न दो ना मारो। [४६] ऋग्वेद में
अहिंसक के लिए **अवृक** पद का प्रयोग किया गया है। [४७] अन्यत्र हिंसा से रहित अनिन्द्य, पापरहित तथा
स्तोता बनने की प्रेरणा मिलती है। [४८] सभी मानव को **अदब्ध**-अर्थात् अहिंसक होने का सन्देश वेद में
विद्यमान है। [४९] इसलिए अहिंसा एवं अहिंस्यभाव को महाभारतकार ने परम धर्म, परम तप, परम सत्य,
परम दान, परम यज्ञ, परम मित्र, परम तीर्थ एवं परम सुख कहा है। [५०] इसलिए महर्षि मनु ने मानव के लिए

---

[३९] सचहु ओरै सभु को उपरि सचु आचारु।। श्रीगु०ग्र०सा०पृ०८२।।

[४०] यतोऽभ्युदय निःश्रेयस सिद्धि स धर्मः।। वै०द०१.१.२।।

[४१] धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः। धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्।। मनु० ६.९२।।

[४२] एको धरमु दृड़े सचु कोई। गुरमति पूरा जुगि जुगि सोई।। श्रीगु०ग्र०सा० पृ०६६६।।

[४३] कूड़ह करे विणास धरमे तगीऐ।। श्रीगु०ग्र०सा० पृ०५१८

[४४] सतु सन्तोखु सदा सचु पलै सचु बोले पिर भाये। नानक बिछुड़ि ना दुखु पाये गुरमति अंकि समाए।। श्रीगु०ग्र०सा०पृ०४१०

[४५] अहिंसा प्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः। योग०द०२/३५।।

[४६] मा हिंसीस्तन्वा प्रजाः। यजु०४.१।।

[४७] असुं य ईयुरवृकाः। ऋग्०१०.१५.१

[४८] यथा चित्पूर्वे जरितार आसुरनेद्या अनवद्या अरिष्टाः। ऋग्० ६.१९.४।।

[४९] ऋग्०१.८९.१।।

[५०] अहिंसा परमो धर्मस्तथा हिंसा परं तपः।

उद्घोषणा की कि जो मनुष्य किसी भी प्राणी का बन्धन या बन्ध नहीं करता, कष्ट नहीं पहुँचाता और दूसरों का हितचिन्तक है, वह मनुष्य अपार सुख को प्राप्त करता है।[५१] गुरुनानक देव जी की वाणी के अनुसार हिंसा से अभिप्राय वध एवं जीवों पर अत्याचार करने से है। अपने सुख के लिए जीवहत्या, अत्याचार, कष्ट पहुँचाना हिंस्य कर्म है वह सर्वथा त्याज्य है।[५२] उनकी धारणा है कि परमात्मा में मन की अनुरक्ति से ही अभिमान, हिंसा एवं लोभ की निवृत्ति सम्भव है।[५३]

नारी सम्मान की भावना-वेदों द्वारा नारी जाति को अत्यन्त सम्मान एवं प्रतिष्ठा को प्रदान करने का सन्देश दिया गया है, इसके कन्या, माँ, दादी, बहिन, पत्नी इत्यादि रूप हैं, सभी रूपों में उसे सम्मान ही नहीं बल्कि पूज्य स्थान भी दिया गया है। महर्षि मनु ने तो यहाँ तक कह दिया है कि **यत्र नार्यन्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः। यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफलाः क्रियाः।**[५४] अर्थात् जहाँ नारी जाति का सम्मान होता है वहाँ देवताएं अर्थात् दिव्य शक्तियाँ रमण करती हैं, जहाँ नारी का सम्मान नहीं होता उस समाज का पतन अवश्यम्भावी ~~बताया~~ है। वस्तुतः वैदिक साहित्य में नारी जाति को परिवार, समाज एवं राष्ट्र का मेरुदण्ड कहा गया है। उसे त्याग, समर्पण, निष्ठा, धीरता, दिव्य शक्ति की प्रतिमूर्ति एवं साक्षात् लक्ष्मी कहा गया है। नारी जाति के बिना मानव का अस्तित्व अधूरा ही नहीं असम्भव कहा गया है। यदि पिता के घर है तो वह कन्या स्वरूप में पूज्य एवं प्रियदर्शिनी है ~~तथा~~ ससुराल में जाने पर उस की संज्ञा वेद में **सम्राज्ञी** कही है अर्थात् जैसे नदियों में सिन्धु मान्य है उसी प्रकार समाज एवं कुल में स्त्री पूज्य है। अथर्ववेद का ऋषि तो उसे स्वसृ, श्वसुर, देवर, ननद, पति इत्यादि की सम्राज्ञी ही घोषित करता है[५५] वस्तुतः वेद का यह उपदेश मानव के लिए वरदान है।

अहिंसा परमं सत्यं यतो धर्मः प्रवर्तते॥
अहिंसा परमं दानमहिंसा परमं तपः।
अहिंसा परमो यज्ञश्चाहिंसा परमं फलम्॥
अहिंसा परमं मित्रमहिंसा परमं सुखम्।
सर्वदानफलं वापि नैतत् तुल्यमहिंसया॥ महा० अनु०पर्व ११५.२३-३०॥

[५१] यो बन्धनवधक्लेशान् प्राणीनां न चिकीर्षति।
स सर्वस्य हितप्रेप्सुः सुखमत्यन्तमश्नुते॥ मनु०स्मृति-५.४६॥

[५२] श्रीगु०ग्र०सा०पृ०७३६-७३८॥

[५३] जिसु मनु मानै अभिमानु न ताकड हिंसा लोभु बिसारे। श्रीगुरु०ग्र०सा०पृ०६८०॥

[५४] मनुस्मृति-३.५६॥

[५५] यथा सिन्धुर्नदीनां साम्राज्यं सुषुवे वृषा।
एवा त्वं सम्राज्ञ्येधि पत्युरस्तं परेत्य॥
सम्राज्ञ्येधि श्वशुरेषु सम्राज्ञ्युत देवृषु।
ननान्दुः सम्राज्ञ्येधि सम्राज्ञ्युत श्वश्र्वाः॥ अथर्व०१४.१.४३-४४॥

अकेला खानेवाला पापी-वेद में मानव के लिए सन्देश है कि कोई भूखा तो नहीं है। सदा मिल बाँटकर खाने की अवधारणा वेद में बलवती है। जिसे धन की चञ्चलता और अस्थिरता का बोध नहीं है उसे वेद ने **अप्रचेता**-अज्ञानी, बेसमझ कहा है। मात्र धनलिप्सा में अन्यों को भूल जाता है, कञ्जूष हो जाता है ऐसे व्यक्ति को अन्न धनादि की प्राप्ति व्यर्थ है क्योंकि वह उसका अकेले ही उपभोग एवं खानेवाला मानता है ऐसे व्यक्ति को पापी कहा है। वह अपनी बहुत बड़ी हानि करता है। [५६] इसलिए ऋग्वेद कहता है अन्न अर्थात् भोग्य पदार्थ की कामना करने वाले निर्धन याचक को जो अन्न देता है, वही वास्तव में भोजन करता है, वही बहुत धन धान्य की प्राप्ति एवं रक्षा करने वाला होता है। [५७] इस वेदोक्त अवधारणा की प्रत्यक्ष क्रियान्विति यदि कहीं दिखाई देती है तो इसका साक्षात् स्वरूप गुरुलङ्गरों के रूप में प्रतिदिन साक्षात् है जहाँ बिना किसी भेदभाव के समानभाव से युक्त अन्नदान द्वारा पवित्र भाव बनाए जाते हैं। वहाँ अकेले खाने की भावना नहीं है। अत: स्पष्ट सन्देश है कि जिसके अन्न में अन्य व्यक्ति भाग नहीं लेते वह सभी पापों से मुक्त नहीं होते [५८] इसलिए मनुष्य अपने सम्मुख जीवन का दीर्घ पथ देखे और याचना करने वाले को दान देकर सुखी करे और स्वयं सुखी होवे। [५९]

विश्व शान्ति की अवधारणा- आज समस्त विश्व अशान्त दिखाई देता है। प्राय: प्रत्येक समाज, राष्ट्र एवं प्राकृतिक भूततत्वों में पर्यावरणिक अशान्ति इत्यादि अपनी चरम सीमा पर हैं। प्राकृतिक पदार्थों में भी असन्तुलन बनता जा रहा है, इस सम्बन्ध में वेदों में प्रारम्भ से ही अपनी चिन्ता से मानव को चेता दिया है। आज विश्व में अशान्ति का कारण भी मानव ही है। इसलिए मानव के लिए वेद में सन्देश देकर समूची मानवीय सृष्टि को बचाकर अपने अस्तित्व को बचाकर रखना चाहते हो तो द्युलोक, पृथिवी लोक, अन्तरिक्ष, जल, ओषधियाँ, वनस्पतियाँ, देवतत्त्वों और ब्रह्म में भी शान्ति बनाए रखने में सतत् प्रयत्न करें। [६०] जपुजी साहिब की अन्तिम वाणी, पृ०-८ पर श्री गुरुनानक देव का इस सम्बन्ध में बड़ा ही सारगर्भित सन्देश है, जहाँ उन्होंने इन सभी प्राकृतिक दिव्य पदार्थों को आदरणीय शब्दों का प्रयोग कर इनमें शान्ति बनाए रखने की ओर संकेत दिया है, उन्होंने पवन, जल, पृथिवी को क्रमश: गुरु, पिता एवं माता बताया है, इस संसार

---

[५६] मोघमन्नं विन्दते अप्रचेता: सत्यं ब्रवीमि वध इत्स तस्य।
नार्यमणं पुष्यति नो सखायं केवलाघो भवति केवलादी।। ऋग्०१०.११७.६।।

[५७] स इद्भोजो यो गृहवे ददात्यन्नकामाय चरते कृशाय।
अस्मै भवति यामहूता उतापरीषु कृणुते सखायम्।। ऋग्०१०.११७.३।।

[५८] सर्वो वा एषोऽजग्धपाप्मा यस्यान्नं नाश्नन्ति।। अथर्व०९.२.९।।

[५९] पृणीयादिन्नाधमानाय तव्यान् द्राघीयांसमनु पश्येत पन्थाम्।। ऋग्० १०.११७.५।।

[६०] द्यौ: शान्तिरन्तरिक्षं शान्ति: पृथिवी शान्तिराप: शान्तिरोषधय: शान्ति:।
वनस्पतय: शान्तिर्विश्वे देवा शान्तिर्ब्रह्म शान्ति: सर्वं शान्ति शान्तिरेव शान्ति: सा मा शान्तरेधि।। यजु०३६.१७।।

के लिए जिनका कार्य मार्गदर्शन करना, पृथिवी पर वनस्पतियाँ ओषधियाँ, जीवों का अस्तित्व एवं जीवन बनाए रखना है। अतः इसमें सदा शान्ति का बना रहना आवश्यक है क्योंकि जीवों को मोक्ष तक पहुँचने के ये ही पवित्र सांसारिक साधन हैं। [६१] इसके उपाय में ऋग्वेद-५.५१.१२, ६.५१.१६, ७.३५.४, ७.३५.५, ७.३५.८, ७.३५.९-११, ७.९८.११, १०.१८.३, १०.३५.१ इत्यादि सैकड़ों मन्त्रों में प्राकृतिक देवतत्त्वों, जल, वायु, औषधि, वनस्पति, द्यावापृथिवी, अन्तरिक्ष, सूर्य, अग्नि, नदियों, पर्वतों, पृथिवी, पर्जन्य को प्रदूषणमुक्त रखने तथा चेतन तत्त्वों यथा-प्राणियों के संरक्षण माता-पिता, आचार्य एवं पितरों के प्रति आदरभाव व सेवा सुश्रूषा इत्यादि मानव को अपने उत्तरदायित्वों एवं कर्त्तव्यों द्वारा विश्वशान्ति स्थापित करना प्रत्येक मानव का कर्त्तव्य होना चाहिए। इसलिए वेद का ऋषि मानव के लिए समस्त दिशाओं को अपना मित्र बनाने की प्रेरणा देता है। [६२]

आध्यात्मिक सन्देश- वेदों को तो सभी सत्यविद्याओं का आगार माना ही गया है, जिसमें अध्यात्मविषयक पर्याप्त सामग्री विद्यमान है। परवर्ती वाङ्मयों में प्रायः सभी विद्याओं का विकास वेद से ही माना गया है। अध्यात्मपरक विकास के अनेक सन्दर्भों ने बाद में विविध आयामों का स्पर्श किया है। जीवात्म-परमात्म, मन, प्राण, बुद्धिपरक तथा कर्मविपाकगत हजारों मन्त्र वेदों में विद्यमान हैं। ऋग्वेद १.१६४.३० में उल्लेख है कि आत्मा अमर है, जिसका विनाश मृत्यु भी नहीं कर सकती है। इस जगत् का सृष्टिकर्त्ता परमात्मा सर्वज्ञ और जीवात्मा अल्पज्ञ है, परन्तु जब परमात्मा को योग के माध्यम से जान लेता है तब उसी परमात्मा में अपने को समाया हुआ पाता है। [६३] उसी परमात्मा को जानकर मोक्ष को प्राप्त करना ही श्रेयस्कर है इसके अलावा अन्य कोई उपाय नहीं है। [६४] वेदों के बाद परवर्ती वाङ्मय विशेषकर लौकिक भाषागत वाणी में श्रीगुरुग्रन्थ साहिब ऐसा ग्रन्थ है, जो विशेषतः अध्यात्म पक्ष को ही प्रबलता से प्रतिपादित करता है। यह आत्मा, परमात्मा के स्वरूप का चिन्तन, मन व बुद्धि की सत्य से शुद्धि एवं अक्षर ओङ्कार का

---

[६१] पवणु गुरु पाणी पिता माता धरति महतु।
दिवसु राति दुइ दाई दाइआ खेलै सगल जगतु।।
चंगिआईआ बुरि आईआ वाचै धरमु हदूरि।
करमी आपो आपणी के नेड़ै के दूरि।।
जिनी नामु धिआइया गये मसकति घालि।
नानक ते मुख उजले केती छुटी नालि।।

[६२] सर्वा आशा ममं मित्रं भवन्तु। अथर्व० १९.१५.६।
असपत्नाः प्रदिशो मे भवन्तु न वै त्वा द्विष्मो अभयं नो अस्तु।। अथर्व० १९.१४.१।।

[६३] य इत्तद्विदुस्त इमे सखासते। ऋग्०१.१६४.३९।।

[६४] वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्।
तमेव विदित्वाऽति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।। यजु०३१.१८।।

स्मरण, कीर्तन का प्रकृष्ट रूप से प्रतिपादक ग्रन्थ है। श्रीगुरुग्रन्थ साहिब में आत्मा-परमात्मा के मिलन का सुन्दर चित्रण सरस भाषा में मिलता है। जहाँ इनके मिलन में किरण की सूर्य से जल से जल की तरह कही है।[६५] वैदिक साहित्य में अध्यात्म परिप्रेक्ष्य में मोक्ष सम्बन्धी अनेक नामों का उल्लेख स्वाभाविक है, परन्तु श्रीगुरुग्रन्थ साहिब की वाणियों में प्रयुक्त मुक्तावस्था सम्बन्धी शब्दावली इस बात का ज्ञापक है कि श्रीगुरुग्रन्थ साहिब मानव के लिए पग-पग पर अध्यात्मपरक जीवन जीने की पराकाष्ठा का अहर्निश सन्देश दे रहा है। वहाँ कतिपय प्रमुख शब्दावली का प्रयोग इस प्रकार मिलता है।[६६]

मुकति= राम नाम बिन मुकति न होई...........।। -श्रीगु०ग्र०सा०पृ०-५७८।।

मोख (मोक्ष)= नाउ सुणि मनु रहसीऐ, ता पाए मोख दुआर। श्रीगु०ग्र०सा०पृ०-२९०।

निहकेवलु= दरसनु देखि भई निहकेवलु......।। - श्रीगु०ग्र०सा०पृ०-४१२।।

मोखंतरु=तउ नानक मोखंतरु पाए। - श्रीगु०ग्र०सा०पृ०-२९४।।

पारंगति=नानक सो पारंगति होइ।। - श्रीगु०ग्र०सा०पृ०-५२।।

महासुख=मुकति महासुख गुर सबदु बीचारि। - श्रीगु०ग्र०सा०पृ०-५१४।।

परमपदु=हउमै जाद परमपदु पाइऐ।। - श्रीगु०ग्र०सा०पृ०-१७६।।

चउथापद=तीनि समावै चउथै वासा।। - श्रीगु०ग्र०सा०पृ०-४३४।।

अमरापद=अमरा पदु पाइआ आप गवाइआ......। - श्रीगु०ग्र०सा०पृ०-३८०।।

निरवाण पद= सबद रपै घरु पाइऐ निरवाणी पदु नीति। -श्रीगु०ग्र०सा०पृ०-७०।।

निरभउ पद= तउ निरभउ पदु पाइ पाईऐ। - श्रीगु०ग्र०सा०पृ०-३९८,

बंदिखलासी= बंदिखलासी भाणै होइ। - श्रीगु०ग्र०सा०पृ०-१४।।

बंधन-मुकति= बंधन काटि मुकति घर आणै।। - श्रीगु०ग्र०सा०पृ०-४८२।।

तुरीयावसथा=तुरीयावसथा गुरुमुखि पाईऐ संत सभा की ओट लही।।- श्रीगु०ग्र०सा०पृ०-२१४।।

परमानंदु=गुरमति पाए परमानंदु। - श्रीगु०ग्र०सा०पृ०-१४८।।

इस तरह संक्षेपतः उक्त सन्दर्भों से विवेचित है कि वेदों ने जहाँ प्रायः सभी परवर्ती वाङ्मय, संस्कृति एवं सभ्यता को प्रभावित किया है वहीं श्रीगुरुग्रन्थ साहिब ने जन जन तक अपनी सन्तवाणी द्वारा गहराई तक प्रभाव छोड़ा है। मानव जाति के सर्वाङ्गीण विकास के क्षेत्र में दोनों धर्मग्रन्थों का अनुपम योगदान एवं सन्देश दिव्यता को लिए हुए है जो सदा सुतराम अभिनव एवं ज्वलन्त बना रहेगा।

*****

---

[६५] सूरज किरणि मिले जल का जलु हुआ राम।
जोती जोति रली संपूरनु थी आ राम।। श्रीगु०ग्र०सा०पृ०-८४६।।

[६६] गुरु नानकवाणी में वैदिक धर्म दर्शन-डॉ० गुरमीत सिंह, पृ०-२४६.२४७

ओ३म्

वेदों एवं श्रीगुरुग्रन्थ साहिब में पुरुषतत्त्व (अकाल पुरख) की परमात्म-सन्दर्भित मीमांसा

(Concept of Purusha (Akaal Purukha) as God in the Vedas and Shri Guru Granth Sahib.)

वैदिक साहित्य, विशेषकर वैदिक संहिताओं, में परमात्मा के अनेक नामों का प्रयोग मिलता है- शिव, विष्णु, ब्रह्म, इन्द्र, मित्र, वरुण, बृहस्पति, सविता, अग्नि इत्यादि एक ही परमात्मा के अनेक नामों से विद्वान् लोग सम्बोधित करते हैं।[१] वेद में सौ से अधिक नाम ईश्वर के लिए प्रयुक्त हुए हैं उनमें से परमात्मा के लिए **पुरुष** पद बहुत प्रसिद्ध है। चारों संहिताओं में लगभग ८० सूक्तों में परमात्म वाचक **पुरुष** शब्द का प्रयोग हुआ है। कहीं कहीं प्रसङ्गभेद से मनुष्य वाची पुरुष शब्द के अर्थ को छोड़कर प्राय: सर्वत्र परम पुरुष या विराट् पुरुष के अर्थ में ही इसका व्यवहार देखने को मिलता है। उनमें प्रसिद्ध **पुरुषसूक्त** सर्वाधिक मुख्य है[२] जो सामवेद को छोड़कर तीनों संहिताओं ऋग्वेद, यजुर्वेद एवं अथर्ववेद में आया है।

वेदों के पश्चाद्वर्ती साहित्य एवं वेदानुमोदित सभी धर्म तथा ऋषि, मुनि, आचार्य, सन्त आदि महापुरुष, आस्तिक एवं ईश्वरवादी रहे हैं। सोलहवीं शताब्दी में अस्तित्व में आया हुआ सिक्ख मत एवं उसके प्रवर्त्तक सभी गुरु साहिबान्, भी परम ईश्वरभक्त एवं आस्तिक रहे हैं। समस्त गुरुओं के उपदेशों एवं सिक्ख मत में परमात्मा के भिन्न-भिन्न नामों के बारे में किसी भी प्रकार का विवाद देखने को नहीं मिलता है, जैसा वेदों में उल्लेख है उसे वैसा ही मानकर चलते हैं तथा सभी गुरु साहिबान्, एवं वाणीकार सन्त वेदों को सत्यस्वरूप एवं प्रमाणस्वरूप ग्रन्थ मानते हुए वेदों की महिमा का वखान बड़ी श्रद्धाभाव से करते हैं-

काला गंढु नदी आ मोह झोल, गंढु परीती मीठे बोल।
वेदा गंढु बोले सचु कोई, मुइआ गंढु ने की सतु कोई।। (श्रीगु०ग्र०सा०पृ०-११६-गुरुनानकदेव वाणी)
वेद सास्त्रन जन पुकारहिं सुनै नाही डोरा।

---

[१] इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्य: स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहु:।। ऋग्०१.१६४.४६।।

[२] सहस्रशीर्षा पुरुष: सहस्राक्ष: सहस्रपाद्।
स भूमिं सर्वत: स्पृत्वात्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्।। ऋग्०१०.९०.१।। यजु० ३१.१।।
वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्य वर्णं तमस: परस्तात्।
तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्य: पन्था विद्यतेऽयनाय।। यजु ३१.१८।।

निपटि बाजी हारि मूका पछताइओ मनि मोरा।। (पञ्चमगुरु अर्जुनदेवजी वाणी, पृ० ४०८)

वेद कते व कहहु मत झूठे, झूठा जो न बिचारे।। (श्रीगुरुग्र०सा०पृ०१३५०)

चारों वेद होए सचिआर। पढ़हि गुणहि तिनु चार विचार।। (श्री गुरुनानकदेव जी-श्रीगु०ग्र०सा०पृ०४७०)

सत्त सदैव सरूप सदाव्रत वेद कतेब तु ही उपजायो।। (सवैये पातशाही १०, श्री गुरु गोविन्द सिंह)

श्री गुरुग्रन्थ साहिब की वाणियों में राम, रहीम, गोविन्द, हरि, अल्लाह, खुदा, करतार इत्यादि वेदेतर नामों का भी बहुशः व्यवहार परमात्मा के लिए हुआ है। आदि श्री गुरुग्रन्थ साहिब में प्रत्येक राग के आरम्भ में कल्याण भावनास्वरूप गुरुमन्त्र को उच्चारण कर परम पुरुष ब्रह्म को स्मरण किया जाता है।[3] इसका संक्षिप्त रूप **ओं सति गुरु प्रसादि** भी आवश्यकतानुसार यत्र-तत्र किया जाता है। इस गुरुमन्त्र का अभिप्राय है कि वह सत्यस्वरूप, सृष्टिरचयिता, स्वयंभू, प्रभुकृपा से ही प्राप्य ओंकार इस प्रमुख नाम से प्रसिद्ध परमपुरुष परमात्मा है। सतगुरु नानकदेवजी अपने प्रभु को निराकार मानते हैं।

रूप न रेख न रंग कुछ, त्रिहु गुन ते प्रभु भिन्नः (श्री गु०ग्र०सा०पृ०२८३) अर्थात् निरंकार (निराकार) और सत्- रज-तम इन तीनों गुणों से परे मानकर सम्बोधित करते हैं। गुरु नानकदेव जी ने उस अकाल पुरुष को श्री गुरुग्रन्थ साहिब के किसी भी आकार-प्रकार से सर्वथा रहित माना है। उनकी इस अवधारणा को निम्न शब्दों में इस प्रकार से संजोया गया है-

एको सिमरो नानका जलथल रहिआ समाइ।
दूजा काहे सिमरियो जन्मै तै मरि जाइ॥
प्राण अधार मीत साजन प्रभु एकै ओंकारै।
सब ते ऊँचा ठाकुर नानक बार-बार नमस्कारै॥

उनका मन्तव्य स्पष्ट है कि जो सर्वव्यापक है अजन्मा है, वह एकरस ब्रह्म अकाल पुरुष है, वही स्मरणीय है, इससे इतर दूसरा कोई भी स्मरणीय नहीं है। श्री गुरुग्रन्थ साहिब में जितने भी विशेषणों से अकाल पुरुष ओंकार को स्मरण किया गया है, उन सभी का मूल वेदों की ऋचाओं में उपलब्ध है। गुरुग्रन्थ साहिब में प्रमुख गुरु वाणियों में यत्र-तत्र उस अकाल पुरुष को सच्चिदानन्द स्वरूप, निराकार, सर्वशक्तिमान्, न्यायकारी, अजन्मा, अनन्त, निर्विकार, निराकार, अनादि, अनुपम, सर्वाधार, सर्वेश्वर, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, अजर, अमर, निर्भय, नित्य, परम पवित्र और सृष्टिकर्त्ता के रूप में उन्हें सम्बोधित किया है। श्री गुरुग्रन्थ साहिब में श्री गुरु अर्जुनदेव ने उसे काल के रूप में दिन-रात का कर्त्ता कहा है[4] वेद ने उस पुरुष को काल इत्यादि का भी उत्पत्तिकर्त्ता कहा है। कोई इसके किसी छोर को नहीं देख सकता है

---

[3] ੧ओं सतिनामु करता पुरखु निरभउ निरवैरु अकाल मूरति अजूनी सैभं गुरु प्रसादि॥ श्री गुरु० ग्र० सा०॥

[4] ओंकार उत्पत्ति किया दिवस सव रात।। श्री गु०ग्र०सा०पृ०-१००३।।

निपटि बाजी हारि मूका पछताइओ मनि मोरा।। (पञ्चमगुरु अर्जुनदेवजी वाणी, पृ० ४०८)

वेद कते व कहहु मत झूठे, झूठा जो न बिचारे।। (श्रीगुरुग्र०सा०पृ०१३५०)

चारों वेद होए सचिआर। पढ़हि गुणहि तिनु चार विचार।। (श्री गुरुनानकदेव जी-श्रीगु०ग्र०सा०पृ०४७०)

सत्त सदैव सरूप सदाव्रत वेद कतेब तु ही उपजायो।। (सवैये पातशाही १०, श्री गुरु गोविन्द सिंह)

श्री गुरुग्रन्थ साहिब की वाणियों में राम, रहीम, गोविन्द, हरि, अल्लाह, खुदा, करतार इत्यादि वेदेतर नामों का भी बहुश: व्यवहार परमात्मा के लिए हुआ है। आदि श्री गुरुग्रन्थ साहिब में प्रत्येक राग के आरम्भ में कल्याण भावनास्वरूप गुरुमन्त्र को उच्चारण कर परम पुरुष ब्रह्म को स्मरण किया जाता है।[३] इसका संक्षिप्त रूप **ओं सति गुरु प्रसादि** भी आवश्यकतानुसार यत्र-तत्र किया जाता है। इस गुरुमन्त्र का अभिप्राय है कि वह सत्यस्वरूप, सृष्टिरचयिता, स्वयंभू, प्रभुकृपा से ही प्राप्य ओंकार इस प्रमुख नाम से प्रसिद्ध परमपुरुष परमात्मा है। सतगुरु नानकदेवजी अपने प्रभु को निराकार मानते हैं।

रूप न रेख न रंग कुछ, त्रिहु गुन ते प्रभु भिन्न: (श्री गु०ग्र०सा०पृ०२८३) अर्थात् निरंकार (निराकार) और सत्- रज-तम इन तीनों गुणों से परे मानकर सम्बोधित करते हैं। गुरु नानकदेव जी ने उस अकाल पुरुष को श्री गुरुग्रन्थ साहिब के किसी भी आकार-प्रकार से सर्वथा रहित माना है। उनकी इस अवधारणा को निम्न शब्दों में इस प्रकार से संजोया गया है-

एको सिमरो नानका जलथल रहिआ समाइ।
दूजा काहे सिमरियो जन्मै तै मरि जाइ।।
प्राण अधार मीत साजन प्रभु एकै ओंकारै।
सब ते ऊँचा ठाकुर नानक बार-बार नमस्कारै।।

उनका मन्तव्य स्पष्ट है कि जो सर्वव्यापक है अजन्मा है, वह एकरस ब्रह्म अकाल पुरुष है, वही स्मरणीय है, इससे इतर दूसरा कोई भी स्मरणीय नहीं है। श्री गुरुग्रन्थ साहिब में जितने भी विशेषणों से अकाल पुरुष ओंकार को स्मरण किया गया है, उन सभी का मूल वेदों की ऋचाओं में उपलब्ध है। गुरुग्रन्थ साहिब में प्रमुख गुरु वाणियों में यत्र-तत्र उस अकाल पुरुष को सच्चिदानन्द स्वरूप, निराकार, सर्वशक्तिमान्, न्यायकारी, अजन्मा, अनन्त, निर्विकार, निराकार, अनादि, अनुपम, सर्वाधार, सर्वेश्वर, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, अजर, अमर, निर्भय, नित्य, परम पवित्र और सृष्टिकर्त्ता के रूप में उन्हें सम्बोधित किया है। श्री गुरुग्रन्थ साहिब में श्री गुरु अर्जुनदेव ने उसे काल के रूप में दिन-रात का कर्त्ता कहा है[४] वेद ने उस पुरुष को काल इत्यादि का भी उत्पत्तिकर्त्ता कहा है। कोई इसके किसी छोर को नहीं देख सकता है

---

[३] ੧ओं सतिनामु करता पुरखु निरभउ निरवैरु अकाल मूरति अजूनी सैभं गुरु प्रसादि।। श्री गुरु० ग्र० सा०।।

[४] ओंकार उत्पत्ति किया दिवस सव रात।। श्री गु०ग्र०सा०पृ०-१००३।।

अर्थात् वह सर्वव्यापक एवं त्रिकालातीत है। काल से बँधा हुआ नहीं है अतः वह अकाल पुरुष है।[५] गुरु नानक देवजी ने पूर्ण भक्ति ओंकार-अक्षरतत्त्व को समर्पित की है, उसे सृष्टिकर्त्ता सर्वोत्तम एवं संसार का सारतत्त्व कहा है।[६] वह अनन्त यश वाला है उसकी कोई प्रतिमा या वह आकार स्वरूप में भी नहीं है।[७] वह सर्वत्र व्यापक है।[८] निराकार, स्वयम्भू, अजन्मा, शरीररहित, एवं पापादि कार्य से रहित है।[९] उसे वेद ने अज अर्थात् जन्ममरणादि से रहित कहा है।[१०] वह अनन्त, सर्वव्यापक, जीव, जगत्, प्रकृति, भूत, भविष्यत् वर्तमान का ज्ञाता और सुख का पालक होकर संसार में विचरने वाला बताया है।[११] सर्वथा सांसारिक कामनाओं से रहित अजर, अमर और स्वयम्भू कहा है।[१२] ऐसे परमात्मा परमपुरुष को जो अकाल पुरुष संसार की उत्पत्ति करने वाला है उसे ही अन्तर्यामी[१३] निर्भय[१४] कहा गया है। ऋग्वेद, यजुर्वेद, एवं अथर्ववेद में विद्यमान सम्पूर्ण पुरुषसूक्त इस अकाल पुरुष के स्वरूप एवं रहस्य को अभिव्यक्त करता है। श्रीगुरुग्रन्थ साहिब के अनुसार परमात्मा सर्वोत्तम एवं सर्वत्र प्रकाशमान है, ऐसा श्री गुरु अमरदास जी ने अपनी वाणी में पवित्र शब्दों का उद्घोष किया है।[१५] उसे पाने के लिए जङ्गलों, पहाड़ों, कन्दराओं में बैठकर अथवा तीर्थादि में भ्रमण करना नितान्त व्यर्थ है। वह तो सभी के अन्दर विद्यमान है उसे मात्र भक्तिभाव एवं परमात्म कृपा से ही प्राप्त किया जा सकता है।

---

[५] सर्वे निमेषा जज्ञिरे विद्युतः पुरुषादधि।
नैनमूर्ध्वं न तिर्यञ्चं न मध्ये परिजग्रभत्।। यजु०३२/२।

[६] ओंकार ब्रह्मा उत्पति, ओंकार किया जिन चित।
उनन अखर सुन बिचार। उत्तम अक्खर त्रिभुवन सार।। श्री गु०ग्र०सा०पृ०-९२९-३०।।
अगम अगोचरु अनाथु अजोनी गुरमति एकै जानिआ।। श्री गु०ग्र०सा०पृ०-६८२।।

[७] न तस्य प्रतिमा अस्ति यस्य नाम महद्यशः।। यजु० ३२.३।।

[८] स ओतः प्रोतश्च विभुः प्रजासु।। यजु०३२.८।।

[९] स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम्।
कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भू याथातथ्यतोऽर्थान्व्यदधाच्छाशाश्वतीभ्यः समाभ्यः। यजु०४०/८।।

[१०] शन्नो अज एकपादेवो अस्तु।। ऋग्०७.३५.१३।।

[११] अनन्तं विततं पुरुत्रानन्तमन्तवच्चा समन्ते।
ते नाकपालश्चचरति विचिन्वन् विद्वान् भूतमुत भव्यमस्य।। अथर्व० १०.८.१२।।

[१२] अकामो धीरो अमृतः स्वयंभू रसेन तृप्तौ न कुतश्चनोनः।
तमेव विद्वान् न विभाय मृत्योरात्मानं धीरमजरं युवानम्।। अथर्व०१०.८.४४।।

[१३] य इमा जजानान्यद्युष्माकमन्तरं बभूव।। ऋग्० १०.८२.७।।

[१४] उर्वश्यामभयं ज्योतिरिन्द्रः। ऋग्०२.२७.१४।।

[१५] वेदा महि नामु उत्तमु सो सुणहि, नाहि फिरहि जिउ बेतालिआ।। श्री गु०ग्र०सा०पृ०१९९।।

वेदों एवं श्री गुरुग्रन्थ साहिब में वर्णित अकाल पुरुष की शब्द निरुक्ति से पुरुष के स्वरूप पर भी उत्तम सार्थक व्याख्या सूक्ष्म रूप में मिलती है। यजुर्वेद के व्याख्यान ग्रन्थ शतपथ ब्राह्मण में समस्त लोकों को **पू:** कहा है, अत: यह ब्रह्माण्ड रूपी पुरी को पवित्र करता है और इसमें शयन करता है अर्थात् व्यापक रहता है, ऐसे ब्रह्माण्ड का अधिपति तत्त्व ही पुरुष है [१६] निरुक्तशास्त्र के प्रणेता महर्षि यास्क ने भी लगभग ऐसी ही निरुक्ति करते हुए पुरुष को इस ब्रह्माण्ड का अन्तर्यामी एवं उसके अधिष्ठाता परमात्मा को सर्वत्र पूर्ण बताया है। [१७] वहीं वे इसका प्रमाण श्वेताश्वरोपनिषद् का देते हैं कि जिस परमात्मा से परे कुछ भी नहीं है न कोई उससे बड़ा या सूक्ष्म है वह अकेला ही इस जगत् में व्याप रहा है। [१८] वेदों के भाष्यकर्त्ता महर्षि दयानन्द ने भी अपनी निरुक्ति में प्रतिपादन करते हुए कहा है कि जो अपनी व्यापकता से चराचर जगत् का पालन एवं पूर्णता बनाए रखता है, उस परमपिता परमात्मा को ही पुरुष संज्ञा से स्मरण किया है। [१९]

उस सर्वव्यापक परमपुरुष ब्रह्म को वेदों एवं श्री गुरुग्रन्थ साहिब में **ओंकार** इस मुख्य नाम से स्मरण किया गया है। [२०] **ओंकार** अथवा **प्रणव** को मन्त्रों का सेतु भी माना गया है-**मन्त्राणां प्रणव: सेतु:।** प्रत्येक मन्त्र उद्गायन या उच्चारण करने के लिए आदि में ओंकार लगाये बिना मन्त्र का विनियोग अपूर्ण माना जाता है, अर्थात् मन्त्र की सार्थकता लयता आदि ओंकार के आदि उच्चारण में है। इसी प्रकार श्री गुरुग्रन्थ साहिब का प्रारम्भ भी एक ओंकार से होता है यथा-**एक ओंकार सत्त नाम कर्त्ता पुरुष** (पुरुख) इत्यादि। श्री गुरुग्रन्थ साहिब में अन्यत्र भी **ओंकार** एवं **प्रणव** का उच्चारण श्री गुरुग्रन्थ साहिब की वाणी में अभिव्यक्त है। [२१] श्री गुरुग्रन्थ साहिब में ओम् अक्षर ब्रह्म को वेदों का आविर्भावकर्त्ता, लोक-लोकान्तरों का

---

[१६] इमे वै लोका: पू:। अयमेव पुरुष:। योऽयं पवते सोऽस्यां पुरी शेते तस्मात् पुरुष:।। शत०ब्रा० १३.६.२.१.।।

[१७] पूरयत्यन्तरित्यन्तरपुरुषमभिप्रेत्य।। निरु०२.३।।

[१८] यस्मात् परं नापरमस्ति किञ्चित्।
यस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति कश्चित्।
वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येक:
तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम्।। श्वेता०उप० ३.९।।

[१९] य: स्वव्याप्त्या चराचरं जगत् पृणाति पूरयति वा स: पुरुष:। स०प्र० (प्रथम समुल्लास)।।

[२०] ओम् खं ब्रह्म। यजु०४०.१७।।

[२१] हरि जू सदा ध्याय तू गुरुमुख एक ओंकार।
ओंकार ब्रह्मा उत्पत ओंकार वेद निर्माए।।
जल थल महिथल पूरिया स्वामी सिरजनहार।
अनेक भाँति होइ पसरिया नानक एक ओंकार।।
ओम् अख्खर सुनहु विचार, ओम् अख्खर त्रिभुवन सार।
प्रणवो आदि एक ओंकारा जल थल महियल कियो प्रसार।। गु०ग्र०सा०

निर्माता कहते हुए ओम् की भक्तिभाव से स्तुति की है। वैदिक एवं लौकिक साहित्य में प्रणव पद ओम् अर्थात् परमात्मा के लिए प्रयोग हुआ है। महर्षि पतञ्जलि ने योगदर्शन में स्पष्टतः परमात्मा का वाचक कहा है।[२२] योगदर्शन के टीकाकार महर्षि व्यास ने प्रणव का अर्थ ईश्वर किया है।[२३] वेद ने एक प्रभु स्मरण के लिए ओम् का प्रधान उपयोग माना है इसलिए वेद का निर्देश है कि हे कर्मशील मनुष्य! तू सदा ओम् का स्मरण कर[२४] इस हेतु से मात्र ओंकार में ही आस्था रखने का भी निर्देश वेद ने दिया है[२५] इस ओम् अक्षर को सदा एक रस रहने वाला, अविनाशी, अनादि, सर्वव्यापक और सत्यस्वरूप व्यक्तित्व वाला श्री गुरुनानक देव ने कहा है।[२६] माण्डूक्योपनिषद्कार का कहना है कि ओम् यह **अक्षर** अर्थात् अविनाशी ब्रह्म ही है जो भूत्, भविष्यत्, वर्तमान का यह ओंकार छोटा सा उपव्याख्यान है।[२७] **अक्षर** पद का संस्कृत भाषा के अनुसार **अ (नञ्)** अर्थात् **नहीं** + **√क्षर- सञ्चलने** धातु से **अच्** प्रत्यय करके निष्पन्न होता है अभिप्राय यह है कि जो अविनाशी, अनश्वर है। वहीं दूसरी व्युत्पत्ति **√अशूङ्‌व्याप्तौ** धातु से **सरन्** प्रत्यय करके निष्पन्न है अर्थ है जो सर्वत्र व्याप्त है उस परम पुरुष ओंकार ब्रह्म को **अक्षर-अख्खर** कहा गया है। महर्षि दयानन्द सरस्वती ने उक्त दोनों धातुओं के प्रयोग के आधार पर अक्षर पद की प्रथम-**यः सर्वम्‌अश्नुते न क्षरति न विनश्यति तदक्षरम्**[२८] दूसरा-**अश्नुते व्याप्नोतीति अक्षरं ब्रह्म वर्णो मोक्ष उदकं वा**[२९] ये दो बड़ी सारगर्भित निरुक्तियाँ की हैं। छान्दोग्योपनिषद् के टीकाकार का कहना है कि अक्षर ब्रह्म के ध्यान का सर्वोत्तम सर्वाधिक प्रिय साधन, नाम तथा प्रतीक ओंकार है।[३०] यजुर्वेद में इस तथ्य का उल्लेख है कि व्यक्ति ओम् अक्षर पर आरुढ़ होकर अमृत रूप आदित्य पुरुष अर्थात् अकाल पुरुष ब्रह्म को प्राप्त कर मृत्यु तथा पाप से छूट जाता है। इसके अतिरिक्त अन्य कोई उपाय नहीं है।[३१]

✱✱✱✱✱

---

[२२] तस्य वाचकः प्रणवः। योग द०१-२७॥

[२३] वाच्य ईश्वरः प्रणवस्य॥ यो०द०व्यासभाष्य १-२७॥

[२४] ओ३म् क्रतो स्मर॥ यजु ४०.१५॥

[२५] ओं प्रतिष्ठ। यजु०२.१३॥

[२६] आदि अनीलु अनादि अनाहति जुगु जुगु एको वेसु॥ श्री गु०ग्र०सा०पृ०१८॥
आदि सचु जुगादि सचु है भी सचु नानक होसी भी सचु॥ वही॥

[२७] ओमित्येतदक्षरं, इदं सर्वं तस्योपव्याख्यानं भूतं भवद् भविष्यदिति सर्वमोंकार एव। माण्डूक्योपनिषद्-१॥

[२८] स०प्र० (प्र०समु०)

[२९] उणा०को०३.७०॥

[३०] ओमित्येतदक्षरं परमात्मनोऽभिधानं नेदिष्ठम्। तस्मिन् हि प्रयुज्यमाने स प्रसीदति प्रियनाम॥ छा०उ० शां०भा० १.१.१.१॥

[३१] वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमस्तः परस्तात्।
तमेव विदित्वाऽतिमृत्यमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय॥ यजु०३१.१८॥

THE KUMARASAMBHAVA RETOLD

(PROF. SATYA VRAT)

It has not been uncommon with Sanskrit writers to go back to the ancient classics and relate them in different literary media. The Ramayana was related in the Campu form by Bhoja and in verse from by other writers, so to the Mahabharata and other works. Attempts have been made in the past as well as in the modern period in line with the above to relate the work.of the great poet Kalidasa. Most of his works with the exeption of the three, the Rtusamhara, the Vikramorvasiya and the Malavignimitra have been related by some writer or the other, some of them by ~~th~~ more than one, e.g. the Raghuvamsa which has been related in the dream form, the Svapna-raghuvamsam and the Raghuvamsam by at least two, Dr. J.B. Chaoudhuri and Mahamahopadhyay Srijiva Nyayatirtha and the Kumarasambhava which has again been retold by at least two, King Sarfoji II of Tanjore and Mahamahopadhyaya Srijiva Nyayatirtha referred to above while king Sarfoji has given it the Campu form and tilled it Kumarasambhavacampu, Srijiva Nyayatirtha has adopted it in dream form telling it just Kumarasambhavam. Besides these attempts which seek to retell the whole works, there have been other works which seek to relate only some of the incidents from two Kavyas, Raghuvamsa and the Kumarasambhava, like the incident of the Kautsa approaching Raghu for Daksina, the Svayamvara of Indumati, the exile of Sita is described in the Raghuvamsa and the burning of Kama as described in the Kumarasambhava.

Retelling of work is not as easy as it may look casually. It requires a degree of art which is difficult to practice. T reteller has not only to conform to the ~~main~~ spirit of the orig

THE KUMARASAMBHAVA RETOLD

(PROF. SATYA VRAT)

It has not been uncommon with Sanskrit writers to go back to the ancient classics and relate them in different literary media. The Ramayana was related in the Campu form by Bhoja and in verse from by other writers, so to the Mahabharata and other works. Attempts have been made in the past as well as in the modern period in line with the above to relate the work.of the great poet Kalidasa. Most of his works with the exeption of the three, the Rtusamhara, the Vikramorvasiya and the Malavignimitra have been related by some writer or the other, some of them by more than one, e.g. the Raghuvamsa which has been related in the dream form, the Svapna-raghuvamsam and the Raghuvamsam by at least two, Dr. J.B. Chaoudhuri and Mahamahopadhyay Srijiva Nyayatirtha and the Kumarasambhava which has again been retold by at least two, King Sarfoji II of Tanjore and Mahamahopadhyaya Srijiva Nyayatirtha referred to above while king Sarfoji has given it the Campu form and tilled it Kumarasambhavacampu, Srijiva Nyayatirtha has adopted it in dream form telling it just Kumarasambhavam. Besides these attempts which seek to retell the whole works, there have been other works which seek to relate only some of the incidents from two Kavyas, Raghuvamsa and the Kumarasambhava, like the incident of the Kautsa approaching Raghu for Daksina, the Svayamvara of Indumati, the exile of Sita is described in the Raghuvamsa and the burning of Kama as described in the Kumarasambhava.

Retelling of work is not as easy as it may look casually. It requires a degree of art which is difficult to practice. The reteller has not only to conform to the spirit of the original

but also has to so put it as to in fuse in it an amount of freshness and originality. He has also the meet the requirements of the different literary medium, may be drama or campu or poem, that he may have chosen for his work. He in with these constrains he has to produce a work of art which may not have to give the appearance of being just a path shadow of the original.

A question may well be asked here as to why should a writer, particularly a creative one take upon himself this one task. What does he thereby. Why can't he leave his creative faculty free x to shape thing the way his creative faculty free to shape thing the way we like. The answer to this could only be conjunctural. The very fact that he goes in for this exeersize shows the retellers commitment to certain texts. The hold that they have on him is probably the reason as to why he would like to join for them and make him apply his creative faculty to bring one something new form the xm old. That what he hm is been with is old should be an enough satisfaction for him.

In the case of the Kumarasambhava, to which only the present discussion is limited, it should be interesting to see as to how the reteller's have retold it.

The earlier of the attempts, the Kumarasambhavacampu, as said earlier, is composed by King Sarfoji II of Tanjore.

Published by Sri Sankaragurukulam, Srirangam, as Volume 5 in its publication series in the year 1940 and edited by Sri T.K. Balasubramanya Aiyar, the Campu is divided into four parts called the Asvasas, which have 33,30,60 and 79 verses and 4,4,7 and 4 prose paragraphs of varying length respectively. The first Asvasa begins

with an invocation to Lord Siva. Next is given a brief account of the ancestry of the poet. He is the son of Tulajendra, a descendant of Maloji of the Bhosala family of Tanjore.

After these preliminary remarks the story of the birth of Kumara is taken up which closely follows the story as given by Kalidasa in his Kumarasambhava.

The account of the birth of Kumara starts in the work as in the model before its author, the Kumarasambhava, withh a detailed description of the glory and the grandeur of the mount Himalaya, which is said to have married Mena, the mental progeny of the Manes and begot from her a son Mainaka and a daughter, Parvati, who is onee seen by Narada and is predicted to become Siva's wife. As for Siva, he is practising penance on a Himalayan tableland. Parvati at her father's instance serves him. While this goes on gods tormented by the demon Taraka go to Brahma for succour who asks them to contrime for Siva's attraction towards Parvati which may result in her marriage with him and the birth of a son who would destroy the demon. Indra thinks of Cupid who appears before him with his companion the spring. He is sent on a mission of softening Siva for Parvati. He, however, does not succeed in it and is reduced to ashes by the Lord much to the sorrow of Rati, the Cupid's wife. Wibh firm resolve to secure Siva for her as her husband Parvati takes to severe austerities. One day the Lord disguised as a Brahmacarin enters into her Asrama. He speaks disparagingly of Siva pointing out many of his angularities and dissuades Parvati from pursuing her desire to which she does not agree. Unable to stand Siva's denunciation she is about to leave the

place when he appears before her in his true form. Parvati suggests to him to approach her father for her hand which he does by sending Arundhati and the seven Rsis who settle his marriage three days thence. The marriage solemnized, the couple spend a month in the Himalayan city moving thereafter to mount Sumeru. After they had enjoyed marital bliss for a hundred years, the gods, who had in the meantime got tired of the long wait, appear before them with the earth and pray for a son. The love sports having been interrupted, the Lord asks the earth to carry his seed which she deposits in the Ganga and from which is born a strange child with six mouths and twelve arms who out of pity is fed by the six mothers, the Krttikas, on their milk, acquiring the name Sanmatura thereby. Sanmatura or Senapati is put at the head of their army by the gods in the battle between them and the demons and leads them to victory, thus bringing long-awaited relief to the three worlds that had been groaning under the oppressions of Taraka.

After narrating this story, the author prays obeissance to the goddess of speech and asks for her forgiveness for any deficiencies, errors or omissions on his part due to hurry. And with this the fourth Asvasa and along with it the whole work comes to an end.

Critical Appreciation

The Campu starts on a note of full confidence on the part of its author in his capacity in the successful execution of his work. The very second verse of it written in the form of the imaginary dialogue between him and the goddess of learning exudes it:

मातर्वागिदेवि किन्ते शरभनरपते वत्स ! कार्यं ममास्ते
सौब्रह्मण्योद्भवार्थे रुचिरमृदुपदे चम्पुकाव्ये भिलाष: ।
विज्ञातं, हैमशैलस्फटिक मणिशिला सङ्घसम्पातजात-
स्फीताटोपाभ्रगङ्गाप्रवहणसदृशा: सन्तु ते वाग्विलासा: ।।[१]

"O mother Sarasvati, (Sarasvati) -- yes my child, kind Sarabha, what do you expect of me ? I want to compose a Campu with soft and pleasant words, dealing with the birth of Subrahmanya. (Sarasvati)-- I know. May the play of your words be like the flow of the celestial Ganges gaining in intensity born of its fall on the crystal rocks of the mount Meru."

This confidence seems to have worn off as the author had arrived at the end of his work. In the last verse of his Campu, again addressed to Sarasvati, he appears to be rather conscious of his shortcomings and inadequacies:

मात वर्णि नमस्करोमि चरणद्वन्द्वाम्बुजं तावकं
क्षान्तव्या किल बालकेन रचिता मात्रा गसां सन्तति: ।
यन्मे त्रस्खलितं, मया यदपिवोत्सृष्टं त्वरागौरवात्
तत्सर्वं मम साहसं भगवति क्षान्त्वा प्रसन्ना भव ।।[२]

"Mother Sarasvati, I bow to your lotus-like feet. You, the mother, should forgive the chain of offences committed by me. Whatever error I have committed in it (the Campu) or whatever omission I have made in a hurry, O goddess, that is a rash act on my part. You would forgive it and be pleased."

---

1. I.2.

2. IV.

The contrast between the tone and tenor in the two verses, both of them addressed to Sarasvati, one in the beginning and the other at the end of the work cannot be lost on any careful observer. These two verses between them sum up the author's own assessment of his work. And, everything said and done, no assessment could be more objective than that of the author himself. Looked at from ~~xx~~ this point of view, it appears that both the statements of the author are on the whole correct. The work is characterized by an excessive flow of words which have a kind of rhythm of their own. The work has a number of descriptions, the descriptions of the Himalaya, of Siva practising penance, of Taraka oppressing the worlds, of the forest under the spell of Cupid and spring, of the penance of Parvati, of the rites and festivities relating to the Siva-Parvati wedding of the love-sports of Siva and Parvati and finally, the battle between the gods and the demons. Each one of these has given an opportunity to our author to show his vagvilasa which, as explained by him through an apt simile, simply enthrals the reader. But while there is vagvilasa in abundance, the work does suffer from some jerks here and there, it does give some idea of having been hastily done up, something having been left out in a hurry: yad api votsrstam tvara-gauravat. What the author, therefore, says, ~~xx~~ in the last verse is not out of modesty only, it may have, as it does have, a grain of truth in it.

We find that upto the second Asvasa the story moves rather leisurely. Upto that, the work deals only with the birth of Parvati, Siva's penance, Parvati's service to him, Cupid's burning by him and

Rati's lamentations. The author lends considerable space to the description of the Himalaya, Siva in penance, the condition of the forest under the influence of Cupid and spirng and so on. From the third Asvasa onwards the story picks up momentum and the events follow each other in quick succession. The descriptions also become shorter, lesser space being devoted to them, thereby giving rise to the xf feeling that the author was hastening to bring his work to completion; he was therefore omitting some of the details found in the parent poem: yad api votsrstam tvaragauravat; He dismisses the post-marriage love-sports of Siva and Parvati in just 9 verses while Kalidasa devotes as many as 44 verses to them. Similarly the description of the Parvati's make-up in the work also lacks the elaborate details found in the Kumarasambhava. There might have been some compelling reason for the author to hurry through, especially, towards the end. Again, he has throughout his work very closely followed the story of the parent poem, the Kumarasambhava except towards its end where he has made a significant departure. The departure relates to the description of the birth of Senapati. In the Kumarasambhava it is said that the gods having got tired of the long wait for the birth of Senapati sent Agni to look for Siva. Agaxi Agni assumed the form of a pigeon and entered into the apartment where Siva and Parvati were engaged in love-sports. Siva discovered the pigeon to be Agni in disguise. He felt offended but was appeased by Agni who told him that he had been sent by the gods who had been waiting to see him for hundred years to plead with him for begetting a xxx son who would kill their oppressor Taraka. The love-sports having been interrupted Siva's seed was picked up by Agni who lost

his natural lustre thereby and got disfigured. For making an unwarranted intrusion into the chamber and causing obstruction to love-sports he incurred the wrath of Parvati who cursed him to be leperous, all-consuming and atrocious in deeds with smoke inside. In the Campu under notice the entire incident has been reshaped. According to it after the gods had waited for long, they appeared before Siva and requested him to beget a son who would kill Taraka and offer them relief from the torture that they had been suffering from for a fairly long time :

सर्वे लेखा: सपदि गिरिजाशङ्करौ दीर्घकालं
तावन्योन्यं प्रकटितसुखौ सङ्गतौ नित्यतृप्तौ ।
ध्यात्वा सेनापतिजनिकृते तुष्टुवुर्वेदवाग्मि-
र्देवो प्येनांस्त्रिपुरदमन: प्रोचिवान् वा चमेताम् ।।[३]

Siva agrees to fulfil their desire :

हे देवा: कश्चिदा तं व: सुचिरमिदमंत: सम्प्रसन्न: करिष्ये ।[४]

He asks the earth to carry his seed : madviryam bhutadhatri vahatu. Parvati at this curses the gods not to be able to beget children on their wives and the earth to be polyandrous :

ततो म्बिका तिक्षुपिता शशापसुखविघ्नत: ।
स्वस्त्रीष्वप्रजसो देवान् भुवं चानेकभर्तृकाम् ।।[५]

---

3. IV.64.

4. IV.65.

5. IV.66.

When we compare the incident as described in the Kumarasambhava with the one in the Kumarasambhavacampu we find that the latter omits the Agni episode altogether, it straightaway presents the gods, including the goddess earth, before the primeval couple, Siva and Parvati while they are engaged in love-sports and it is the earth which at Siva's instance carries his seed. This appears to be rather naive lacking the finesse of the master writer with which he had approached it. To admit a host of gods and a goddess in the strict privacy of Siva and Parvati would simply he revolting to more developed taste. It also would look incredible as to how they could land themselves there. There is no mention in the work anywhere that they had been permitted entry. To descend on the couple, whatever the urgency prompting it, while it is engaged in love-sports betrayed a height of impropriety. It looks strange as to how our author could not see through it. It is precisely to guard against it that the genius of Kalidasa had invented the episode of Agni, and the guise for it of a pigeon. A bird could enter the privacy of the apartment, and not a god or a human being. It is a different matter if it is found out later and its true form discovered. Kalidasa adopts a clever device here for conveying the message of the gods to the Lord. All this means that even if somebody a had to approach the Lord he had to do it discreetly. And this has precisely been done in the Kumarasambhava. Again to ask the earth to carry the seed in the very presence of Parvati looks rather indecorous. Everything said and done one cannot help feeling here that the naturalness characterizing the description of the incident in the parent poem is missing in its adaptation. A departure from the primary narrative would be welcome only if it leads

to some improvement in it. As it is, no improvement is visible in it, hence no need for the departure from the old narrative.

Now a word about the language of the poem, It is generally of a very high order. It is characterized on the whole by the qualities of perspicuity, sweetness and grammatical accuracy. Furthermore, it has the classical ring about it. While going through it one feels as though one is going through the work of an older period. At places the author's style reminds us of that of Bana and Subandhu especially where he indulges in paranomasia, e.g.,

xxx यत्र च महादेव इव हिमखण्डपाण्डरे पुरुषोत्तम इवोत्फुल्लसरसीरुहलोचने, कमलासन इवोपगतहंसमण्डले सुरलोक इव सुपर्ववंशाधिष्ठाने --- वैकुण्ठ इव हरिणाधिष्ठिते, सत्यलोक इव सहिरण्यगर्भे[6] --- हि मोक्षपचिभूमावप्य-हिमहिते गङ्गाप्रभवे प्यमोष्मे (हिमालये)

Sometimes the author presents in beautiful prose a paraphrase of what the older poet has said in verse. The paragraph reproduced below as a specimen :

सन्ततनिष्यन्दमानतुहिनासारधौतरक्तं पदमपश्यतामपि किरातानां नखरायुधनसरन्ध्र-मुक्तमुक्ताफलान्येव विभिन्नवनकुम्भिकेसरजरपदवीपरिज्ञानहेतवः, सातवशृङ्गाश्रयणमेवाधः सानुगतसिद्धानां वृष्टिवाधनिवारणं धातुरसन्यस्तासरा मूर्जत्वच एव सुरसुन्दरीणामनङ्गलेखाः, कीचकरन्ध्रेषु दरीमुखोद्गतसमीरपूरणमेव किन्नरगणोपगानं, कण्डूलवैतण्डकषणोद्भूतसरलगन्ध एव सानुसुरभीकरणपटुः, जनितासक्तवनेचराणां ज्योतिर्लता एव सुरतप्रदीपा, अतिघनजघनपयोधराणामश्वमुखीनां तुहिनदुर्गमे[7] ऽपि मार्गे मन्दमेव गमनम् ---- ।

---

6. After I.8.
7. After I.8.

is nothing but the following half a dozen verses of Kalidasa put in prose form with some abbreviation and a change of wording here and there :

पदं तुषारस्रुतिधौतरक्तं यस्मिन्नदृष्ट्वापि हतद्विपानाम् ।
विदन्ति मार्गं नखरन्ध्रमुक्तैर्मुक्ताफलैः केसरिणां किराताः ॥
न्यस्ताक्षरा धातुरसेन यत्र भूर्जत्वचः कुञ्जरबिन्दुशोणाः ।
व्रजन्ति विद्याधरसुन्दरीणामनङ्गलेखक्रिययोपयोगम् ॥
यः पूरयन् कीचकरन्ध्रभागान् दरीमुखोत्थेन समीरणेन ।
उद्गास्यतामिच्छति किन्नराणां तानप्रदायित्वमिवोपगन्तुम् ॥
कपोलकण्डूः करिभिर्विनेतुं विघट्टितानां सरलद्रुमाणाम् ।
यत्र स्रुतक्षीरतया प्रसूतः सानूनि गन्धः सुरभीकरोति ॥
वनेचराणां वनितासखानां दरीगृहोत्सङ्गनिषक्तभासः ।
भवन्ति यत्रौषधयो रजन्यामतैलपूराः सुरतप्रदीपाः ॥
उद्वेजयत्यङ्गुलिपार्ष्णिभागान् मार्गे शिलीभूतहिमेऽपि यत्र ।
न दुर्वहश्रोणिपयोधरार्ता भिन्दन्ति मन्दां गतिमश्वमुख्यः ॥[८]

Occasionally the Kumarasambhava idea contained in two or three verses is put by our author in one single verse :

दक्षावज्ञानमुक्तस्वतनुरथ सती पूर्वपत्नी पुरारे-
रुत्साहेनेह नीतावजनि हिमवता श्रीर्यथा मेनकायाम् ।
आसीदाशाप्रसादो ववुरपरजसो वात्यवः शङ्खशब्दात्
पाश्चात्या पुष्पवृष्टिर्जननदिनमभूत् प्राणिसौख्याय तस्याः ॥[९]

---

8. Kumarasambhava, I.21-3.

9. I.10.

The Kumarasambhava verses are :

अथावमानेन पितुः प्रयुक्ता दक्षस्य कन्या भवपूर्वपत्नी
सती सती योगविसृष्टदेहा तां जन्मने शैलवधूं प्रपेदे ।।

सा भूधराणामधिपेन तस्यां समाधिमत्यामुदपादि भव्या ।
सम्यक्प्रयोगादपरिक्षतायां नीताविवोत्साहगुणेन सम्पत् ।।

प्रसन्नदिक् पांसुविविक्तवातं शङ्खस्वनानन्तरपुष्पवृष्टि ।
शरीरिणां स्थावरजङ्गमानां सुखाय तज्जन्मदिनं बभूव ।।[10]

In spite of the metre employed by our author being a bigger one, some brevity in condensing the idea of three verses in one is no doubt noticeable here.

By far the most striking instance of how the Campu attempts a paraphrase of the Kumarasambhava verses can be had from the following wellknown Kalidasan verse :

स्थिताः क्षणं पक्ष्मसु ताडिताधराः
पयोधरोत्सेधनिपात चूर्णिताः ।
वलीषु तस्याः स्खलिताः प्रपेदिरे
क्रमेण नाभिं प्रथमोदबिन्दवः ।।[11]

which is found in the Campu as :

क्षणं स्थित्वा पक्ष्मस्वथ निपीड्याधरदलं
ततो वक्षोजोर्ध्वस्थलपतनचूर्णीकृतिभृतः ।
स्खलित्वास्या रम्याकृतिबलिषु पश्चाच्च तिसृषु
प्रपन्नास्तं नाभीकुहरमथ नूत्नाम्बुपृषताः ।।[12]

......

10. Kumarasambhava, I.21-3.
11. Ibid., V.24.
12. III.5.